षष्ठम् संस्करण : ३,२००

मूल्य : सोलह रुपये

मुद्रक : ए. के. लिथोग्राफर्स,
टैगोर गार्डन,
दिल्ली ।

विषय-सूची

प्रका... ...य

[छठवाँ संस्करण]

यह वर्ष आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्त्राब्दी समारोह के रूप में देश भर में सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज द्वारा उत्साहपूर्वक मनाया जा रहा है। श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट ने भी इस अवसर पर अनेक कार्यक्रम अपने हाथ में लिए हैं, जिनमें से आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का प्रकाशन प्रमुख है।

इस ट्रस्ट के अन्तर्गत जयपुर में संचालित साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार, नियमसार एवं पंचास्तिकाय संग्रह इन चारों ग्रन्थों का प्रकाशन तो पूर्व में हो ही चुका है। परन्तु 'अष्टपाहुड ग्रंथ' विगत पांच-छः वर्षो से अनुपलब्ध था तथा उसकी बहुत मांग आ रही थी। इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द की द्विसहस्रब्दी समारोह के अवसर पर इस महान ग्रन्थ का प्रकाशन अपने आप में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

अष्टपाहुड़ ग्रन्थ के पूर्व में पांच संस्करण क्रमशः पाटनी ग्रन्थमाला, सेठी ग्रन्थ-माला, स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट-सोनगढ़ तथा वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट-भावनगर से प्रकाशित हुए हैं, यह इसका छठवां संस्करण है जिसे ऑफसैट पद्धति से मुद्रित कराया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत यह अष्टपाहुड ग्रंथ पांच सौ तीन गाथाओं में निवद्ध तथा आठ पाहुडों में विभक्त है। दर्शन पाहुड़, सूत्र पाहुड, बोध पाहुड, भाव पाहुड, मोक्ष पाहुड, लिंग पाहुड और शील पाहुड ये आठ पाहुड हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन एवं 'अष्टपाहुड' की विषय वस्तु के सम्बन्ध में कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं है, क्योंकि हमारे विशेष अनुरोध पर डॉ० हुकमचन्द जी भारिल्ल ने इसकी शोध खोजपूर्ण एवं अष्टपाहुड का सार बताने वाली विस्तृत प्रस्तावना लिखकर इस ग्रन्थ की उपयोगिता को और अधिक वढ़ा दिया है इस प्रस्तावना को पढ़कर साधारण पाठक भी 'अष्टपाहुड' की विषय वस्तु से भली-भांति परिचित हो सकता है। प्रस्तावना लिखने के लिए यह ट्रस्ट डॉ० भारिल्ल का बहुत आभारी है।

यद्यपि प्रस्तुत प्रकाशन का लागत मूल्य बाइस रुपये आया है, तथापि दान दाताओं की मदद से एवं इस ट्रस्ट की ओर से २५ प्रतिशत कीमत कम करने पर इस ग्रंथ का विक्रय मूल्य सोलह रुपये रखा गया है। सभी दान दाताओं के भी हम हृदय से आभारी हैं। कीमत कम करने वाले दाताओं की नामावली पृथक् से प्रकाशित की गई है।

यहाँ श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जिसने इन बड़े-बड़े शास्त्रों को प्रकाशित करने का संकल्प किया है, की गतिविधियों का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया जा रहा है जो इस प्रकार है :—

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव वर्ष में सोनगढ़ में सम्पन्न परमागम मन्दिर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर स्व० पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की छत्र-छाया में उनके मंगल आशीर्वाद एवं स्व० पं० श्री बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता के सद्प्रयासों से स्थापित श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट से अब दिगम्बर जैन समाज अपरिचित नहीं रहा है। तीर्थो एवं जीवन्त तीर्थ जिनवाणी की सुरक्षा में तत्पर इस ट्रस्ट ने ८ वर्ष के इस अल्पकाल में ही दिगम्बर जैन समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इसका जन्म ही प्राकृतिक और अप्राकृतिक आक्रमणों से तीर्थो एवं जीवन्ततीर्थ जिनवाणी की सुरक्षा की पवित्र भावना से हुआ है। समाज से भी इसे आशातीत सहयोग प्राप्त हुआ है तथा इसने भी अपने कार्यो ने समाज का मन मोह लिया है। जिसका मुख्य श्रेय श्री प० बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता को है।

(१) तीर्थ क्षेत्रों का जीर्णोद्धार :—

तीर्थक्षेत्रों पर होने वाले प्राकृतिक आक्रमणों से सुरक्षा हेतु उनका जीर्णोद्धार करना आवश्यक है। एतदर्थ विभिन्न क्षेत्रों को दिनांक ३० जून, १९८४ तक ६ लाख ६४ हजार रुपयों की राशि ट्रस्ट की ओर से दी जा चुकी है।

(२) तीर्थ सर्वेक्षण योजना : —

अप्राकृतिक आक्रमणों से तीर्थो को सुरक्षा हेतु सम्बन्धित वैधानिक दस्तावेजों का होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः एक तीर्थ सर्वेक्षण योजना तैयार की गई है, जिसके अन्तर्गत अनेक क्षेत्रों का प्रामाणिक इतिहास, आवश्यक दस्तावेज, चल-अचल सम्पत्ति का विवरण आदि जानकारी सुरक्षित की जा चुकी है।

सर्वेक्षण योजना एवं आर्थिक समायोजना में पण्डित ज्ञानचन्द जी का अभूतपूर्व योगदान है।

(३) जिनवाणी की शोध प्रकाशन एवं विक्रय व्यवस्था :—

हमारे प्राचीन ग्रन्थ वर्तमान में यत्र-तत्र अव्यवस्थित और असुरक्षित रूप में पड़े-पड़े नष्ट हो रहे हैं, जिनकी सूची बनाकर उन्हें सुरक्षित रखना सर्वप्रथम कर्तव्य जानकर बैंगलोर एवं मद्रास में श्री जैन लिटरेचर रिसर्च इंस्टिट्यूट की स्थापना की गई है।

इस दिशा में १००८ गोम्मटेश्वर बाहुबली सहस्राब्दी महोत्सव के अवसर पर हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, तमिल और कन्नड़ इसप्रकार छह भाषाओं में सत्साहित्य प्रकाशित करके उसे लागत से भी कम मूल्य में जन-जन तक पहुँचाने की व्यवस्था के सन्दर्भ में ट्रस्ट ने पांच लाख से भी अधिक रुपये खर्च किए थे।

(४) श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धांत महाविद्यालय :—

जिसप्रकार सुयोग्य पुरातत्व एवं कानूनविद कार्यकर्त्ताओं के अभाव में तीर्थों की सुरक्षा संभव नहीं है, उसीप्रकार जिनागम के मर्मज्ञ विद्वानों के अभाव में जिनवाणी की सुरक्षा एवं प्रचार-प्रसार भी संभव नहीं है।

इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु नवीन पीढ़ी में अध्यात्मरुचि सम्पन्न ठोस विद्वान तैयार करने के लिए २५ जुलाई, १९७७ को पण्डित टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धांत महाविद्यालय को स्थापना की गई है।

निरन्तर अध्ययन-मनन-चिंतन का वातावरण एवं एकमात्र आत्महित की तीव्र रुचि इस महाविद्यालय की मौलिक विशेषता है, जिसका वास्तविक श्रेय स्व० पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा उत्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति को ही है, जिसके प्रभाव से लाखों व्यक्ति जिनागम के अभ्यास द्वारा आत्महित में तत्पर हुए हैं।

इस महाविद्यालय के छात्र श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत कॉलेज, जयपुर के माध्यम से राजस्थान विश्वविद्यालय की जैनदर्शन, शास्त्री तथा आचार्य परीक्षा देते हैं। जो क्रमश: बी०ए० तथा एम०ए० के समकक्ष हैं। इसके साथ ही श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड, जयपुर की प्रवेशिका, विशारद आदि अनेक ग्रन्थश: परीक्षाओं में भी यहाँ के छात्र सम्मिलित होते हैं।

यह लिखते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है कि प्रारंभ से ही प्रतिवर्ष इस महाविद्यालय के छात्र बोर्ड एवं विश्वविद्यालय को परीक्षाओं में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते आ रहे हैं।

विद्यार्थियों के आध्यात्मिक चिंतन को प्रखर बनाने हेतु विद्वद्वर्य श्री लालचंद भाई राजकोट, श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा आदि विद्वानों को भी वर्ष में समय-समय पर आमंत्रित करके छात्रों की आध्यात्मिक प्यास बुझाई जाती है।

उक्त विद्यालय के संपूर्ण कार्य डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल के निर्देशन में होते हैं। छात्रों को जिनागम का ठोस विद्वान तैयार करने के साथ-साथ उनके जीवन को आध्यात्मिक, सात्विक, सदाचारमय व निष्प्रही बनाना ही संस्था का मुख्य उद्देश्य है।

इस महाविद्यालय के प्राचार्य, मंत्री एवं अधिष्ठाता क्रमश: श्री पं० रतनचंदजी शास्त्री, श्री नेमीचंद पाटनी, ब्र० रावजीभाई हैं। छात्रों के अध्यापन कार्य में श्री अभय कुमारजी शास्त्री, जनदर्शनाचार्य, श्री शान्तिकुमारजी जैनदर्शनाचार्य, श्री रमेशचंदजी शास्त्री, श्री वीरसागरजी शास्त्री, श्रीमती कमलाबाई भारिल्ल, श्री परमेश्वरदासजी मिश्र व्याकरणाचार्य आदि का भी सहयोग प्राप्त होता है।

यह महाविद्यालय समाज को प्रतिवर्ष १२ विद्वान (शास्त्री) उपलब्ध कराता है। अबतक ५९ विद्वान समाज में विभिन्न स्थानों पर कार्यरत हैं।

(५) सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग :—

आत्मार्थी सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के स्वर्गवास के बाद यह बड़ी व्यग्रता से अनुभव किया जा रहा था कि बड़े-बड़े ग्रन्थों का प्रकाशन दुर्लभ-सा होता जा रहा है। एक तो इन ग्रंथों के प्रकाशन में लाखों रुपयों की आवश्यकता होती है और दूसरे बहुत समय देने के साथ-साथ शुद्ध प्रकाशन की भी जिम्मेदारी होती है।

इस दिशा में श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट ने अपने जीवन्त तीर्थ जिनवाणी के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य की पूर्ति हेतु अनुकरणीय कदम उठाया है। परिणामस्वरूप सत्साहित्यप्रकाशन एवं प्रचार विभाग श्री टोडरमल स्मारक भवन जयपुर में कार्यरत है। वर्तमान में इस विभाग का प्रबंध एक समिति की देखरेख में श्री अखिल बंसल एम०ए० जे०डी० सम्हाल रहे हैं।

इस विभाग द्वारा अबतक समयसार नाटक, नियमसार, पचास्तिकाय संग्रह, मोक्षमार्गप्रकाशक, श्रावकधर्मप्रकाश एवं चिद्विलास आदि ग्रंथों का प्रकाशन हो गया है तथा अष्टपाहुड़ आपके हाथ में है ही। मोक्षशास्त्र श्री रामजी भाई द्वारा विस्तृत टीका सहित तथा भक्तामर प्रवचन एवं छहढ़ाला का भी मुद्रणकार्य हो गया है। अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन भी शीघ्र ही किया जाएगा, जिसमें अभी रु० २,२१,००० ट्रस्ट का इस कार्य में लगा हुआ है।

सत्साहित्य के प्रकाशन के साथ ही इस विभाग के द्वारा गाँव-गाँव में तत्वप्रचार प्रसार की गतिविधियों में सक्रियता लाने हेतु प्रचार-विभाग के द्वारा दस विद्वानों की नियुक्ति करने की योजना के अन्तर्गत पांच युवा विद्वानों को नियुक्त किया गया। ये विद्वान गांव-गांव में भ्रमण करके प्रवचन, पाठशाला, स्वाध्याय, शिविर, युवावर्ग में तत्व-रुचि इत्यादि तत्वप्रचार प्रसार की विभिन्न महत्वपूर्ण गतिविधियों को अधिकतम सक्रिय बनाते हैं।

इस विभाग के अन्तर्गत कार्य कर रहे श्री अशोककुमारजी लुहाड़िया शास्त्री के कार्यक्रम अत्यधिक सफल रहे हैं। श्री लुहाड़िया के अतिरिक्त श्री आलोक कुमारजी शास्त्री श्री नन्दकिशोरजी शास्त्री, श्री राजकुमारजी शास्त्री तथा श्री अजितकुमार जी शास्त्री, भी सफलतापूर्वक प्रचार कार्य कर रहे हैं।

इस ट्रस्ट के संस्थापक स्व० श्री पं० बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता के बारे में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर जीवन के अन्तिम क्षण तक इस ट्रस्ट को उनका सर्वस्व समर्पण प्राप्त रहा है।

इस प्रकाशन को अल्पमूल्य में प्राप्त कराने का श्रेय श्री अखिल बंसल एम०ए०, जे०डी० को है, जिन्होंने कागज खरीदने में, मुद्रणव्यवस्था में सस्ते से सस्ते खर्च से सुन्दर कार्य अति अल्प समय में सम्पन्न किया। अतः उनको भी ट्रस्ट की ओर से धन्यवाद देता हूँ। श्री अनिल सचदेव डीलक्स प्रिंटर्स, नई दिल्ली का भी हम हृदय से आभार मानते हैं जिन्होंने उक्त ग्रन्थ का ऑफसेट मुद्रण कार्य समय पर किया है।

विश्वास है कि इस ट्रस्ट के द्वारा और भी अनुपलब्ध साहित्य शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित किया जाकर स्वाध्याय प्रमियों को पिपासा को शान्त करेगा।

नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री — पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम कराने वाले दातारों की सूची

१. सुश्री सरोज जैन, सहारनपुर	२००० रु०
२. स्व. पू० शान्ताबेन, सोनगढ़	५०१ रु०
३. श्री नितिनभाई चिमनलाल शाह, बम्बई	५०१ रु०
४. श्री धनकुमार जैन, जयपुर	२५१ रु०
५. श्री डॉ ओ० पी० गर्ग, जयपुर	२५० रु०
६. गुप्तदान हस्ते श्री सुकनराज लोढ़ा, जयपुर	२०१ रु०
७. श्री मांगीलाल अर्जुनलाल छावड़ा, इन्दौर	२०१ रु०
८. श्री माणिकलाल आर. गांधी, बम्बई	२०० रु०
९. श्री वसंतलाल मूलचन्द दोशी, बम्बई	२०० रु०
१०. श्री जयन्तिभाई धनजीभाई दोशी, दादर-बम्बई	१११ रु०
११. स्व० श्रीमती कुसुमलता एवं सुनंद बंसल स्मृति निधि हस्ते–डॉ० राजेन्द्र बंसल, अमलाई	१११ रु०
१२. श्री उल्फतराय जैन, बागपत	१०२ रु०
१३. श्री विनोदकुमार सर्राफ, मुरार	१०१ रु०
१४. ब्र० श्रीचन्द जैन, सोनगढ़	१०१ रु०
१५. श्री कस्तूरचन्द ललितकुमार बूचड़ा, जयपुर	१०१ रु०
१६. श्रीमती उमराव देवी, ध. प. श्री भंवरलाल जी शाह, जयपुर	१०१ रु०
१७. श्री जगदीशप्रसाद जैन, दिल्ली	१०१ रु०
१८. श्री पं० देवीलाल मेहता, सोनगढ़	१०१ रु०
१९. श्रीमती कमलादेवी जैन, जयपुर	१०१ रु०
२०. श्रीमती विद्यावती जैन, ध. प. श्री पी० सी० जैन, एडवोकेट, गुना	१०१ रु०
२१. श्रीमती राजकुमारी गोधा, ध. प. श्री कोमलचन्द जी गोधा, जयपुर	१०१ रु०
२२. श्री भैंरूलाल देवचन्द जैन, जाम्बूड़ी	१०१ रु०
२३. श्री पं० लालारामजी साहू एडवोकेट, अशोकनगर	१०१ रु०
२४. श्री चौ० फूलचन्द जैन, बम्बई	१०१ रु०
२५. श्री मनोहरलाल सुशीलकुमार काला, इन्दौर	१०१ रु०
२६. श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिडिया, खैरागढ़	१०१ रु०
२७. श्रीमती प्रेमकुमारी ढाबरिया, जयपुर	१०० रु०
२८. श्रीमती फूलबाई ध. प. स्व० श्री लादूलालजी पहाड़िया, किशनगढ़	१०० रु०
२९. श्रीमती कल्पना लालचन्द शेठ, बम्बई	१०० रु०
३०. श्री हुलासमलजी कासलीवाल, कलकत्ता	१०१ रु०
कुल	६४४४ रु०

हमारे यहां प्राप्त महत्वपूर्ण प्रकाशन	रु० पै०
मोक्षशास्त्र/समयसार	20–00
प्रवचनसार/वृहज्जिनवाणी संग्रह/अष्टपाहुड़	16–00
पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	11–00
पंचास्तिकाय संग्रह/समयसार नाटक/सिद्धचक्र विधान	10–00
प्रवचनरत्नाकर भाग 1 या 2 या 3 या 4 या 5	10–00
नियमसार	15–00
मोक्षमार्गप्रकाशक/आ० कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार	10–00
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ (हि०गु०म०क०अं०)	6–00
सत्य की खोज (कथानक) (हि०,गु०,म०,क०,त०)	6–00
श्रावकधर्मप्रकाश	5–50
क्रमबद्धपर्याय (हि०,गु०,म०,क०,त०,अं०)/बारह भावना : एक अनुशीलन	5–00
अध्यात्म रत्नत्रय/जिनवरस्य नयचक्रम्	5–00
आ० कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम/धर्म के दश लक्षण	5–00
भक्तामर प्रवचन	4–50
जिनेन्द्र अर्चना (पूजन संग्रह)/ज्ञानगोष्ठी	7–00
गागर में सागर/आप कुछ भी कहो	4-00
चौबीस तीर्थंकर पूजन विधान/बनारसीदास चित्रकथा	4–00
छहढ़ाला (सचित्र)/कहानकथा : महानकथा (चित्रकथा)	5–00
बालबोध पाठमाला भाग 1, 2, व 3 (सम्पूर्ण सैट)	2–70
वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग 1, 2 व 3 (सम्पूर्ण सैट)	3–50
तत्वज्ञान पाठमाला 1 और 2	2–65
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	5–00
चिद्विलास/चौंसठ ऋद्धि विधान	2–50
युगपुरुष श्री कानजी स्वामी (हि०,गु०,म०,क०,त०)	2–00
परमार्थ वचनिका प्रवचन/णमोकार महामन्त्र	2–00
मैं कौन हूं/अहिंसा महावीर की दृष्टि में (हि०,अं०)	1–25
विदेशों में जैनधर्म/कुन्दकुन्द शतक	1–25
अद्वितीय चक्षु/चैतन्य चमत्कार	1–00
वीर हिमाचल तैं निकसी/बारह भावना पद्य	1–00
लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	0–80
जिनेन्द्र वन्दना	0–75
मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूं/महावीर वन्दना (कलैण्डर)	0–50
तीर्थंकर भगवान महावीर (हि०,गु०,म०, असमी०,ते०,अं०)	0–50
गोम्मटेश्वर बाहुबली/अर्चना (पूजन संग्रह)	0–40
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर (हि०,गु०)	0–25

प्रस्तावना

आचार्य कुन्दकुन्द और अष्टपाहुड

— डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

आचार्य कुन्दकुन्द

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते रहे हैं।

शास्त्रसभा में गद्दी पर बैठकर प्रवचन करते समय ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम के साथ-साथ यह उल्लेख भी आवश्यक माना जाता है कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द की आम्नाय में रचा गया है। प्रवचन के आरम्भ में बोली जानेवाली उक्त पंक्तियाँ इसप्रकार हैं :—

"अस्य मूलग्रन्थकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये.........विरचितम्। श्रोतारः सावधानतया श्रृणवन्तु।"

उक्त पंक्तियों के उपरान्त मंगलाचरणस्वरूप जो छन्द बोला जाता है, उसमें भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ एकमात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही समग्र आचार्यपरम्परा में नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया जाता है, शेष सभी को 'आदि' शब्द से ही ग्रहण कर लिया जाता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि जिसप्रकार हाथी के पैर में सभी के पैर समाहित हो जाते हैं, उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द में समग्र आचार्यपरम्परा समाहित हो जाती है। दिगम्बर परम्परा के प्रवचनकारों द्वारा प्रवचन के आरम्भ में मंगलाचरणस्वरूप बोले जानेवाला उक्त छन्द इसप्रकार है :—

"मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥"

दिगम्बर जिनमन्दिरों में विराजमान लगभग प्रत्येक जिनबिम्ब (जिनप्रतिमा या जिन मूर्ति) पर 'कुन्दकुन्दान्वय' उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर परम्परा में आपका स्थान बेजोड़ है। आपकी महिमा बतानेवाले शिलालेख भी उपलब्ध हैं।

कतिपय महत्त्वपूर्ण शिलालेख इसप्रकार हैं :–

"कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणों के – चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर कर-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं।"[1]

"यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान पृथ्वीतल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे मैं समझता हूँ कि वे अन्तर व बाह्य रज से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अर्थात् वे अन्तरंग में रागादिमल से तथा बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।)"[2]

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्यदेव के नाम एवं काम (महिमा) से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है। लोकेषणा से दूर रहनेवाले जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि महान से महान ऐतिहासिक कार्य करने के बाद भी अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते। आचार्य कुन्दकुन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अपने बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है। 'द्वादशानुप्रेक्षा' में मात्र नाम का उल्लेख है।[3] इसीप्रकार 'बोधपाहुड' में अपने को द्वादशांग के ज्ञाता तथा चौदहपूर्वों का विपुल प्रसार करनेवाले श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य लिखा है।[4]

अतः उनके जीवन के संबंध में बाह्य साक्ष्यों पर ही निर्भर करना पड़ता है। बाह्य साक्ष्यों में भी उनके जीवन संबंधी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने यद्यपि आपका उल्लेख बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक किया है, शिलालेखों में भी उल्लेख पाये जाते हैं। उक्त उल्लेखों से आपकी महानता पर तो प्रकाश पड़ता है; तथापि उनसे भी आपके जीवन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

---

[1] वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुज-चञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥ (चन्द्रगिरि शिलालेख)

[2] ....कौण्डकुन्दो यतीन्द्रः॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः॥ (विन्ध्यगिरि शिलालेख)

[3] द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ९०

[4] बोधपाहुड, गाथा ६१-६२

बाह्यसाक्ष्य के रूप में उपलब्ध ऐतिहासिक लेखों, प्रशस्तिपत्रों, मूर्तिलेखों, परम्परागत जनश्रुतियों एवं परवर्ती लेखकों के उल्लेखों के आधार पर विद्वानों द्वारा आलोढ़ित जो भी जानकारी आज उपलब्ध है, उसका सार-संक्षेप कुल मिलाकर इसप्रकार है :-

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कौण्डकुन्दपर (कर्नाटक) में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य थे। आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका क्या नाम रखा था ? – यह तो ज्ञात नहीं, पर नन्दिसंघ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था।

विक्रम सम्वत् ४६ में आप नन्दिसंघ के पद पर आसीन हुए और मुनि पद्मनन्दी से आचार्य पद्मनन्दी हो गये।[1] अत्यधिक सम्मान के कारण नाम लेने में संकोच की वृत्ति भारतीय समाज की अपनी सांस्कृतिक विशेषता रही है। महापुरुषों को गाँव के नामों या उपनामों से संबोधित करने की वृत्ति भी इसी का परिणाम है। कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आपको भी कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुति मधुरता की दृष्टि से कालान्तर में कुन्दकुन्दाचार्य होगया।

यद्यपि 'आचार्य' पद है, तथापि वह आपके नाम के साथ इसप्रकार घुलमिल गया कि वह नाम का ही एक अंग होगया। इस सन्दर्भ में चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालखों में अनेकों वार समागत निम्नांकित छन्द उल्लेखनीय हैं :-

"श्रीमन्मुनीन्द्रोत्तमरत्नवर्गा श्री गौतमाद्यार्प्रभविष्णवस्ते।
तत्राम्बुधौ सप्तमहर्द्धि-युक्तास्तत्सन्ततौ नन्दिगणे बभूव ।।३।।
श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसञ्जातसुचारणर्द्धि ।।४।।[2]

मुनीन्द्रों में श्रेष्ठ प्रभावशाली महर्द्धिक गौतमादि रत्नों की रत्नाकर आचार्य परम्परा में नन्दिगण में, श्रेष्ठ चरित्र के धनी, चारण ऋद्धिधारी पद्मनन्दी नाम के मुनिराज हुए, जिनका दूसरा नाम – आचार्य शब्द है अंत में जिसके – ऐसा कौण्डकुन्द था अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य था।"

---

[1] नन्दिसंघ की पट्टावली

[2] जैन शिलालेख संग्रह, पृष्ठ, ३४, ४३, ५८ एवं ७१

उक्त छन्दों में तीन बिन्दु अत्यन्त स्पष्ट हैं :–

(१) गौतम गणधर के बाद किसी अन्य का उल्लेख न होकर कुन्दकुन्द का ही उल्लेख है, जो दिगम्बर परम्परा में उनके स्थान को सूचित करता है।

(२) उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी।

(३) उनका पद्मनन्दी प्रथम नाम था और दूसरा नाम कुन्दकुन्दाचार्य था। 'आचार्य' शब्द नाम का ही अंश बन गया था, जो कि **'आचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः'** पद से अत्यन्त स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि यह नाम उनके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद ही प्रचलित हुआ, परन्तु यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि मूल नाम भी विस्मृत-सा हो गया।

उक्त नामों के अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एवं गृद्धपृच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं।[1] इस सन्दर्भ में विजयनगर के एक शिलालेख में एक श्लोक पाया जाता है, जो इसप्रकार है :–

> **"आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।**
> **एलाचार्यो गृद्धपृच्छ इति तन्नाम पञ्चधा॥"**[2]

उक्त सभी नामों में कुन्दकुन्दाचार्य नाम ही सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है। जब उनके मूल नाम पद्मनन्दी को भी बहुत कम लोग जानते हैं तो फिर शेष नामों की तो बात ही क्या करें?

कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य के भाग्यशाली गुरु कौन थे? – इस सन्दर्भ में अन्तर्साक्ष्य के रूप में बोधपाहुड़ की जो गाथाएँ उद्धृत की जाती है, वे इसप्रकार हैं :–

> **"सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।**
> **सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥६१॥**
> **बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउल वित्थरणं।**
> **सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ॥६२॥**

जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है, वही भाषासूत्रों में शब्दविकाररूप से परिणमित हुआ है; उसे भद्रबाहु के शिष्य ने वैसा ही जाना है और कहा भी वैसा ही है।

बारह अंग और चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार करनेवाले श्रुतज्ञानी गमकगुरु भगवान भद्रबाहु जयवन्त हों।"

---

[1] श्रुतसागर सूरिः षट्प्राभृत टीका, प्रत्येक प्राभृत की अंतिम पंक्तियाँ

[2] जैन सिद्धान्त भाग १, किरण ४ (तीर्थंकर भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ १०२)

प्रथम (६१वीं) गाथा में यह बात यद्यपि अत्यन्त स्पष्ट है कि बोधपाहुड़ के कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य हैं, तथापि दूसरी (६२वीं) गाथा जहाँ यह बताती है कि वे भद्रबाहु ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञाता पंचम श्रुतकेवली ही हैं, वहाँ यह भी बताती है कि वे कुन्दकुन्द के गमकगुरु (परम्परागुरु) हैं, साक्षात् गुरु नहीं।

इसीप्रकार का भाव समयसार की प्रथम गाथा में भी प्राप्त होता है, जो कि इसप्रकार है :–

"वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सर्वसिद्धों को वंदन करके श्रुतकेवली द्वारा कथित समयप्राभृत को कहूँगा।"

इसप्रकार तो उन्हें भगवान महावीर का भी शिष्य कहा जा सकता है क्योंकि वे भगवान महावीर की शासन परम्परा के आचार्य हैं। इस संदर्भ में दर्शनसार की निम्न गाथा पर भी ध्यान देना चाहिए :–

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

यदि सीमंधरस्वामी (महाविदेह में विद्यमान तीर्थंकरदेव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते?"

क्या इस गाथा के आधार पर उन्हें सीमन्धर भगवान का शिष्य कहा जाय? यहाँ प्रश्न इस बात का नहीं है कि उन्हें कहाँ-कहाँ से ज्ञान प्राप्त हुआ था, वस्तुतः बात यह है कि उनके दीक्षागुरु कौन थे, उन्हें आचार्यपद किससे प्राप्त हुआ था?

जयसेनाचार्यदेव ने इस ग्रन्थ की टीका में उन्हें कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव का शिष्य बताया है और नन्दिसंघ की पट्टावली[1] में जिनचन्द्र का शिष्य बताया गया है; किन्तु इन कुमारनन्दी और जिनचन्द्र का भी नाममात्र ही ज्ञात है, इनके सम्बन्ध में भी विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। हो सकता है आचार्य कुन्दकुन्द के समान उनके दीक्षागुरु के भी दो नाम रहे हों। नन्दिसंघ में दीक्षित होते समय बालब्रह्मचारी अवयस्क होने के कारण उनका नाम कुमारनन्दी रखा गया हो, बाद में पट्ट पर आसीन होते समय वे जिनचन्द्राचार्य नाम से विश्रुत हुए हों। पट्टावली में जिनचन्द्र नामोल्लेख होने का यह

[1] जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृष्ठ ७८

कारण भी हो सकता है। पट्टावली में माघनन्दी, जिनचन्द्र और पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द) क्रम आता है। नन्दिसंघ में नन्द्यन्त् (नन्दी है अन्त में जिनके) नाम होना सहज प्रतीत होता है।

पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका के आरम्भ में समागत जयसेनाचार्य का कथन मूलतः इसप्रकार है :-

"अथ श्री कुमारनंदिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतराग-सर्वज्ञश्रीसीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणाव-धारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिमार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिर्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्यर्थमथवा शिवकुमारमहाराजादि-संक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकार-शुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।

श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव के शिष्य प्रसिद्धकथान्याय से पूर्वविदेह जाकर वीतराग-सर्वज्ञ श्रीसीमन्धरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर उनके मुखकमल से निसृत दिव्यध्वनि के श्रवण से शुद्धात्मादि तत्त्वों के साथ पदार्थों को अवधारण कर – ग्रहण कर समागत श्री पद्मनन्दी आदि हैं अपरनाम जिनके, उन श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा अन्तस्तत्त्व और वहिर्तत्त्व को गौण और मुख्य प्रतिपत्ति के लिए अथवा शिवकुमारमहाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिए रचित पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र में अधिकारों के अनुसार यथाक्रम से तात्पर्यार्थ का व्याख्यान किया जाता है।"

उक्त उद्धरण में प्रसिद्धकथान्याय के आधार पर कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा भी की गई है, जिससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य जयसेन के समय (विक्रम की बारहवीं शताब्दी में) यह कथा अत्यधिक प्रसिद्ध थी।

विक्रम की दसवीं सदी के आचार्य देवसेन के दर्शनसार में समागत गाथा में भी कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहगमन की चर्चा की गई है। दर्शनसार के अन्त में लिखा है कि मैंने यह दर्शनसार ग्रन्थ पूर्वाचार्यों की गाथाओं का संकलन करके बनाया है। इस स्थिति में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा करनेवाली गाथा भी दसवीं शताब्दी के बहुत पहले की हो सकती है।

इस सन्दर्भ में श्रुतसागर सूरि का निम्नांकित कथन भी दृष्टव्य है :-

श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन

तच्छ्रुतज्ञानसंबोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकाल-सर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे······

श्री पद्मनन्दो, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य – पंचनामधारी; जमीन से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की ऋद्धिधारी; पूर्वविदेह की पुण्डरीकणी नगरी में विराजित सीमन्धर अपरनाम स्वयंप्रभ तीर्थंकर से प्राप्त ज्ञान से भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को संबोधित करनेवाले; श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभरण; कलिकालसर्वज्ञ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) द्वारा रचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में······।"

उक्त कथन में कुन्दकुन्द के पाँच नाम, पूर्वविदेहगमन, आकाशगमन और जिनचन्द्राचार्य के शिष्यत्व के अतिरिक्त उन्हें कलिकालसर्वज्ञ भी कहा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं का अवलोकन भी आवश्यक है।

'ज्ञान प्रबोध' में प्राप्त कथा का संक्षिप्त सार इस प्रकार है :–

"मालवदेश वारापुर नगर में राजा कुमुदचन्द्र राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य में कुन्दश्रेष्ठी नामक एक वणिक रहता था। उसकी पत्नी का नाम कुन्दलता था। उनके एक कुन्दकुन्द नामक पुत्र भी था। बालकों के साथ खेलते हुए उस बालक ने एक दिन उद्यान में बैठे हुए जिनचन्द्र नामक मुनिराज के दर्शन किए और उनके उपदेश को अनेक नर-नारियों के साथ बड़े ही ध्यान से सुना।

ग्यारह वर्ष का बालक कुन्दकुन्द उनके उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि वह उनसे दीक्षित हो गया। प्रतिभाशाली शिष्य कुन्दकुन्द को जिनचन्द्राचार्य ने ३३ वर्ष की अवस्था में ही आचार्य पद प्रदान कर दिया।

बहुत गहराई से चिन्तन करने पर भी कोई ज्ञेय आचार्य कुन्दकुन्द को स्पष्ट नहीं हो रहा था। उसी के चिन्तन में मग्न कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर सीमंधर भगवान को नमस्कार किया।

वहाँ सीमंधर भगवान के मुख से सहज ही 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' प्रस्फुटित हुआ। समवसरण में उपस्थित श्रोताओं को बहुत आश्चर्य हुआ। नमस्कार करनेवाले के बिना किसको आशीर्वाद दिया जा रहा है ? – यह प्रश्न सबके हृदय में सहज ही उपस्थित हो गया था। भगवान की वाणी में समाधान आया कि भरतक्षेत्र के आचार्य कुन्दकुन्द को यह आशीर्वाद दिया गया है।

वहाँ कुन्दकुन्द के पूर्वभव के दो मित्र चारणऋद्धिधारी मुनिराज उपस्थित थे। वे आचार्य कुन्दकुन्द को वहाँ ले गये। मार्ग में कुन्दकुन्द की मयूरपिच्छि गिर गई, तब

उन्होंने गृद्धपृच्छिका से काम चलाया। वे वहाँ सात दिन रहे। भगवान के दर्शन और दिव्यध्वनि श्रवण से उनकी समस्त शंकाओं का समाधान हो गया।

कहते हैं वापिस आते समय वे कोई ग्रन्थ भी लाये थे, पर वह मार्ग में ही गिर गया। तीर्थों की यात्रा करते हुए वे भरतक्षेत्र में आ गये। उनका धर्मोपदेश सुनकर सात सौ स्त्री-पुरुषों ने दीक्षा ली।

कुछ समय पश्चात् गिरि-गिरनार पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया, तब ब्राह्मीदेवी ने स्वीकार किया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है।

अन्त में अपने शिष्य उमास्वामी को आचार्य पद प्रदानकर वे स्वर्गवासी हो गये।"

एक कथा 'पुण्यास्रव कथाकोष' में भी आती है, जिसका सार इसप्रकार है :-

"भरतखण्ड के दक्षिणदेश में 'पिडथनाडू' नाम का प्रदेश है। इस प्रदेश के अन्तर्गत कुरुमरई नाम के ग्राम में करमण्डु नाम का धनिक वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उनके यहाँ एक ग्वाला रहता था, जो उनके पशु चराया करता था। उस ग्वाले का नाम मतिवरण था। एक दिन जब वह अपने पशुओं को एक जंगल में ले जा रहा था, उसने बड़े आश्चर्य से देखा कि सारा जंगल दावाग्नि से जलकर भस्म हो गया है, किन्तु मध्य के कुछ वृक्ष हरे-भरे हैं। उसे उसका कारण जानने की बड़ी उत्सुकता हुई। वह उस स्थान पर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराज का निवास स्थान है और वहाँ एक पेटी में आगम ग्रन्थ रखे हैं। वह पढ़ा-लिखा नहीं था। उसने सोचा कि इस आगम ग्रन्थ के कारण ही यह स्थान आग से बच गया है। अतः वह उन्हें बड़े आदर से घर ले आया। उसने उन्हें अपने मालिक के घर में एक पवित्र स्थान पर विराजमान कर दिया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनों के पश्चात् एक मुनि उनके घर पर पधारे। सेठ ने उन्हें बड़े भक्तिभाव से आहार दिया। उसीसमय उस ग्वाले ने वह आगम उन मुनि को प्रदान किया। उस दान से मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन दोनों को आशीर्वाद दिया कि यह ग्वाला सेठ के घर में उसके पुत्ररूप में जन्म लेगा। तब तक सेठ के कोई पुत्र नहीं था। मुनि के आशीर्वाद के अनुसार उस ग्वाले ने सेठ के घर में पुत्ररूप में जन्म लिया और बड़ा होने पर वह एक महान मुनि और तत्त्वज्ञानी हुआ। उसका नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।"

इसके बाद पूर्वविदेह जाने की कथा भी पूर्ववत् वर्णित है।

इसी से मिलती-जुलती कथा आराधनाकथाकोश में प्राप्त होती है।

आचार्य देवसेन, जयसेन एवं भट्टारक श्रुतसागर जैसे दिग्गज आचार्यों एवं विद्वानों के सहस्राधिक वर्ष प्राचीन उल्लेखों एवं उससे भी प्राचीन प्रचलित कथाओं की उपेक्षा सम्भव नहीं है, विवेक सम्मत भी नहीं कही जा सकती।

अतः उक्त उल्लेखों और कथाओं के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर आचार्य परम्परा के चूड़ामणि हैं। वे विगत दो हजार वर्षों में हुए दिगम्बर आचार्यों, सन्तों, आत्मार्थी विद्वानों एवं आध्यात्मिक साधकों के आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं, भगवान महावीर और गौतम गणधर के समान प्रातःस्मरणीय रहे हैं, कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में स्मरण किये जाते रहे हैं। उन्होंने इसी भव में सदेह विदेहक्षेत्र जाकर सीमंधर अरहन्त परमात्मा के दर्शन किए थे, उनकी दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया था, उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी। तभी तो कविवर वृन्दावनदास को कहना पड़ा :—

"हुए हैं, न होंहिगे; मुनिन्द कुन्दकुन्द से।[1]

विगत दो हजार वर्षों में कुन्दकुन्द जैसे प्रतिभाशाली, प्रभावशाली, पीढ़ियों तक प्रकाश बिखेरनेवाले समर्थ आचार्य न तो हुए ही हैं और पंचम काल के अन्त तक होने की संभावना भी नहीं है।"

भगवान महावीर की उपलब्ध प्रामाणिक श्रुतपरम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के अद्वितीय योगदान की सम्यक् जानकारी के लिए पूर्वपरम्परा का सिंहावलोकन अत्यन्त आवश्यक है। समयसार के आद्य भाषाटीकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा समयसार की उत्पत्ति का सम्बन्ध बताते हुए लिखते हैं :—

"यह श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत गाथाबद्ध समयसार नामक ग्रन्थ है। उसकी आत्मख्याति नामक श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कृत संस्कृत टीका है। इस ग्रंथ की उत्पत्ति का सम्बन्ध इसप्रकार है कि अन्तिम तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ वीतराग परम भट्टारक श्री वर्धमानस्वामी के निर्वाण जाने के बाद पाँच श्रुतकेवली हुए, उनमें अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी हुए।

वहाँ तक तो द्वादशांग शास्त्र के प्ररूपण से व्यवहार-निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा, बाद में काल-दोष से अंगों के ज्ञान को व्युच्छित्ति होती गई और कितने ही मुनि शिथिलाचारी हुए, जिनमें श्वेताम्बर हुए; उन्होंने शिथिलाचार पोषण

[1] प्रवचनसार परमागम (प्रवचनसार छन्दानुवाद)

करने के लिए अलग से सूत्र बनाये, जिनमें शिथिलाचार पोषक अनेक कथायें लिखकर अपना सम्प्रदाय दृढ़ किया – यह सम्प्रदाय अब तक प्रसिद्ध है।

इनके अलावा जो जिनसूत्र की आज्ञा में रहे; उनका आचार यथावत् रहा, प्ररूपणा भी यथावत् रही; वे दिगम्बर कहलाये। इस सम्प्रदायानुसार श्री वर्धमान स्वामी को निर्वाण प्राप्त करने के ६८३ वर्ष के बाद दूसरे भद्रबाहुस्वामी हुए; उनकी परिपाटी में कितने ही वर्ष बाद मुनि हुए, जिन्होंने सिद्धान्तों का प्रदिपादन किया।

एक तो धरसेन नामक मुनि हुए, उनको अग्रायणी पूर्व के पाँचवें वस्तु अधिकार में महाकर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था। उन्होंने यह प्राभृत भूतबली और पुष्पदन्त नाम के मुनियों को पढ़ाया। उन दोनों मुनियों ने आगामी काल-दोष से बुद्धि की मन्दता जानकर उस प्राभृत के अनुसार षट्खण्डसूत्र की रचना करके पुस्तकरूप लिखकर उसका प्रतिपादन किया। उनके बाद जो मुनि (वीरसेन) हुए, उन्होंने उन्हीं सूत्रों को पढ़कर विस्तार से टीका करके धवल, महाधवल जयधवल आदि सिद्धान्तों की रचना की। उनके बाद उन्हीं टीकाओं को पढ़कर श्री नेमिचन्द्र आदि आचार्यों ने गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्र बनाये।

इसप्रकार यह प्रथम सिद्धान्त की उत्पत्ति है। इसमें जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न हुई आत्मा की संसार पर्याय के विस्तार का गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि रूप में संक्षेप से वर्णन है। यह कथन तो पर्यायार्थिकनय को मुख्य करके है; इस ही नय को अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी कहते हैं तथा इसी को अध्यात्मभाषा में अशुद्धनिश्चयनय व व्यवहारनय भी कहते हैं।

भद्रबाहुस्वामी की परम्परा में ही दूसरे गुणधर नामक मुनि हुए। उनको ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार में तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उनसे उस प्राभृत को नागहस्ती नामक मुनि ने पढ़ा। उन दोनों मुनियों से यतिनायक नामक मुनि ने पढ़कर उसकी चूर्णिका रूप में छह हजार सूत्रों के शास्त्र की रचना की, जिसकी टीका समुद्धरण नामक मुनि ने बारह हजार सूत्र प्रमाण की।

इसप्रकार आचार्यों की परम्परा से कुन्दकुन्द मुनि उन शास्त्रों के ज्ञाता हुए। इसतरह इस द्वितीय सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञान को प्रधान करके शुद्धद्रव्यार्थिकनय का कथन है। अध्यात्मभाषा में आत्मा का ही अधिकार होने से इसको शुद्धनिश्चय तथा परमार्थ भी कहते हैं। इसमें पर्यायार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है।

इस जीव को जब तक पर्यायबुद्धि रहती है, तब तक संसार रहता है। जब इसे शुद्धनय का उपदेश पाकर द्रव्यबुद्धि होती है तथा अपने आत्मा को अनादि-अनन्त, एक, सर्व परद्रव्यों व परभावों के निमित्त से उत्पन्न हुए अपने भावों से भिन्न जानता है और अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करके शुद्धोपयोग में लीन होता है; तब यह जीव कर्मों का अभाव करके निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त की परम्परा में शुद्धनय का उपदेश करनेवाले पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्र हैं; उनमें समयप्राभृत नामक शास्त्र प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध है, उसकी आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य ने की है।

काल-दोष से जीवों की बुद्धि मन्द होती जा रही है, उसके निमित्त से प्राकृत-संस्कृत के जाननेवाले भी विरले रह गये हैं तथा गुरुओं की परम्परा का उपदेश भी विरला हो गया है; अतः मैंने अपनी बुद्धि-अनुसार अन्य ग्रन्थों का अभ्यास करके इस ग्रन्थ की देशभाषामय वचनिका करना प्रारम्भ किया है।

जो भव्यजीव इसका वाँचन करेंगे, पढ़ेंगे, सुनेंगे तथा उसका तात्पर्य हृदय में धारण करेंगे; उनके मिथ्यात्व का अभाव होगा तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी – ऐसा अभिप्राय है, अन्य पण्डिताई तथा मान-लोभादि का अभिप्राय नहीं है।

इसमें कहीं बुद्धि की मन्दता तथा प्रमाद से हीनाधिक अर्थ लिखा जाय तो बुद्धि के धारक ज्ञानीजन मूलग्रन्थ देखकर शुद्ध करके वाँचन करना, हास्य मत करना; क्योंकि सत्पुरुषों का स्वभाव गुण-ग्रहण करने का ही होता है – यह मेरी परोक्ष प्रार्थना है।[१]"

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की अचेलक परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का अवतरण उससमय हुआ, जब भगवान महावीर की अचेलक परम्परा को उन जैसे तलस्पर्शी अध्यात्मवेत्ता एवं प्रखरप्रशासक आचार्य की आवश्यकता सर्वाधिक थी। यह समय श्वेताम्बर मत का आरम्भकाल ही था। इससमय वरती गई किसी भी प्रकार की शिथिलता भगवान महावीर के मूलमार्ग के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी।

भगवान महावीर की मूल दिगम्बर परम्परा के सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ आचार्य होने के नाते आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो उत्तरदायित्व थे। एक तो द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम (अध्यात्म-शास्त्र) को लिखितरूप से व्यवस्थित करना

[१] समयसार प्रस्तावना

और दूसरा शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना एवं कठोर कदम उठाना। दोनों ही उत्तरदायित्वों को उन्होंने ब़ख़ूबी निभाया।

प्रथम श्रुतस्कन्धरूप आगम की रचना धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा हो रही थी। द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम का क्षेत्र खाली था। मुक्तिमार्ग का मूल तो परमागम ही है। अतः उसका व्यवस्थित होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था; जिसे कुन्दकुन्द जैसे प्रखर आचार्य ही कर सकते थे।

जिनागम में दो प्रकार के मूलनय बताये गये हैं – निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक। समयसार व नियमसार में निश्चय-व्यवहार की मुख्यता से एवं प्रवचनसार व पंचास्तिकाय में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की मुख्यता से कथन करके उन्होंने अध्यात्म और वस्तुस्वरूप – दोनों को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। उनके ये महान ग्रन्थ आगामी ग्रन्थकारों को आज तक आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं।

अष्टपाहुड़ में उनके प्रशासकरूप के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में उस परमसत्य का उद्घाटन किया, जिसके जाने बिना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे। इसमें उन्होंने श्वेताम्बर मत का जिस कठोरता से निराकरण किया है, उसे देखकर कभी-कभी ऐसा विकल्प आता है कि कहीं इसे पढ़कर हमारे श्वेताम्बरभाई उनके अध्यात्म से भी दूर न हो जायें। पर यह हमारा भ्रम ही है; क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को पढ़कर विगत दो हजार वर्ष में जितने श्वेताम्बर बन्धुओं ने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है, उतने किसी अन्य द्वारा नहीं। कविवर पण्डित बनारसीदास एवं आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसके जाने-माने उदाहरण हैं।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के द्वारा तो कुन्दकुन्द के शास्त्रों के माध्यम से लाखों श्वेताम्बरभाइयों को भी दिगम्बर धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाया गया है। यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के शिरमौर हैं एवं उनके ग्रन्थ दिगम्बर साहित्य की अनुपम निधि हैं; तथापि वर्तमान दिगम्बर जैन समाज उनसे अपरिचित-सा ही था। दिगम्बर समाज की स्थिति का सही रूप जानने के लिए पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है :–

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्रसभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दिगम्बर जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब

श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ; अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के साथ-साथ इस युग में कुन्दकुन्द को जन-जन तक पहुँचानेवाले पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर तो अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर पैंतालीस वर्ष तक अनवरतरूप से किये गये उनके प्रवचन टेपों एवं पुस्तकों के रूप में हमें आज भी उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने आचार्य कुन्दकुन्द रचित परमागमों पर मात्र सरल प्रवचन ही नहीं किये, अपितु उक्त परमागमों के सस्ते सुलभ मनोज्ञ प्रकाशन भी कराये; तथा सोनगढ़ (जिला – भावनगर, गुजरात) में श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर का निर्माण कराके, उसमें संगमरमर के पाटियों पर समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार संस्कृत टीका सहित तथा अष्टपाहुड़ उत्कीर्ण कराकर उन्हें भौतिक दृष्टि से अमर कर दिया है। उक्त परमागम मन्दिर आज एक दर्शनीय तीर्थ बन गया है।

पवित्रता और पुण्य के अद्भुत संगम इस महापुरुष (कानजी स्वामी) के मात्र प्रवचन ही नहीं, अपितु व्यवस्थित जीवन भी अध्ययन की वस्तु है; उसका अध्ययन किया जाना स्वतंत्ररूप से अपेक्षित है, तत्सम्बन्धी विस्तार न तो यहाँ सम्भव ही है और न उचित ही।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य इसप्रकार हैं :–

(१) समयसार (समयपाहुड़) (२) प्रवचनसार (पवयणसार)
(३) नियमसार (णियमसार) (४) पंचास्तिकायसंग्रह (पंचत्थिकायसंग्रह)
(५) अष्टपाहुड़ (अट्ठपाहुड़)

इनके अतिरिक्त द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा) एवं दशभक्ति भी आपकी कृतियाँ मानी जाती हैं। इसीप्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनायें कहा जाता है। कुछ लोग तो कुरल काव्य को भी आपकी कृति मानते हैं।[2]

---

[1] जैनसन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

[2] रयणसार प्रस्तावना

उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं।

अष्टपाहुड़ में निम्नलिखित आठ पाहुड़ संगृहीत हैं –

(१) दंसणपाहुड़ (२) सुत्तपाहुड़ (३) चारित्तपाहुड़ (४) बोधपाहुड़

(५) भावपाहुड़ (६) मोक्खपाहुड़ (७) लिंगपाहुड़ एवं (८) सीलपाहुड़

समयसार जिन-अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह भी जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था के विशद् विवेचन करनेवाले जिनागम के मूल ग्रन्थराज हैं। ये तीनों ग्रन्थराज परवर्ती दिगम्बर जैन साहित्य के मूलाधार रहे हैं। उक्त तीनों को नाटकत्रयी, प्राभृतत्रयी और कुन्दकुन्दत्रयी भी कहा जाता है।

उक्त तीनों ग्रन्थराजों पर कुन्दकुन्द के लगभग एक हजार वर्ष बाद एवं आज से एक हजार वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने संस्कृत भाषा में गम्भीर टीकायें लिखी हैं। समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी गई टीकाओं के सार्थक नाम क्रमशः 'आत्मख्याति', तत्वप्रदीपिका' एवं 'समयव्याख्या' हैं।

इन तीन ग्रन्थों पर आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग तीन सौ वर्ष बाद हुए आचार्य द्वारा जयसेन लिखी गई 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सरल-सुबोध संस्कृत टीकायें भी उपलब्ध हैं।

नियमसार पर परमवैरागी मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विक्रम की बारहवीं दसी में संस्कृत भाषा में 'तात्यर्यवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो वैराग्यभाव एवं शान्तरस से सराबोर है, भिन्न प्रकार की अद्भुत टीका है।

अष्पाहुड़ के आरंभिक छह पाहुड़ों पर विक्रम की सोलहवीं सदी में लिखी गई भट्टारक श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका प्राप्त होती है, जो षट्पाहुड़ नाम से प्रकाशित हुई। षठ्पाहुड़ कोई स्वतन्त्र कृति नहीं है, अपितु अष्टपाहुड़ के आरंभिक छह पाहुड़ ही षट्पाहुड़ नाम से जाने जाते हैं।

यहाँ इन सब पर विस्तृत चर्चा करना न तो संभव है और न आवश्यक ही। यहाँ तो अब प्रस्तुत कृति अष्ट पाहुड़ के प्रतिपाद्य पर दृष्टिपात करना प्रसंग प्राप्त है।

अष्टपाहुड

पाँच सौ दो गाथाओं में निबद्ध एवं आठ पाहुडों में विभक्त यह अष्टपाहुड ग्रंथ मूलसंघ के पट्टाचार्य कठोर प्रशासक आचार्य कुन्दकुन्द की एक ऐसी अमर कृति है, जो दो हजार वर्षों से लगातार शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आवाज उठाती चली आ रही है और इसकी उपयोगिता पंचम काल के अन्त तक बनी रहेगी; क्योंकि यह अवसर्पिणी काल है, इसमें शिथिलाचार तो उत्तरोत्तर बढ़ना ही है। अतः इसकी उपयोगिता भी निरन्तर बढ़ती ही जानी है।

आज समृद्धि और सुविधाओं के मोह से आच्छन्न शिथिलाचारी श्रावकों एवं समन्वय के नाम पर सब जगह झुकनेवाले नेताओं द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए साधुवर्ग में व्याप्त अपरिमित शिथिलाचार को भरपूर संरक्षण दिया जा रहा है, पाल-पोष कर पुष्ट किया जा रहा है; अतः आज के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

इतिहास साक्षी है कि दिगम्बर जैन समाज में वृद्धिगत शिथिलाचार के विरुद्ध जब-जब भी आवाज बुलन्द हुई है, तब-तब आचार्य कुन्दकुन्द की इस अमर कृति को याद किया जाता रहा है, इसके उद्धरण देकर शिथिलाचार के विरुद्ध समाज को सावधान किया जाता रहा है। इस ग्रंथ के उद्धरणों का समाज पर अपेक्षित प्रभाव भी पड़ता है, परिणामस्वरूप समाज में शिथिलाचार के विरुद्ध एक वातावरण बनता है। यद्यपि विगत दो हजार वर्षों में उत्तरोत्तर सीमातीत शिथिलाचार बढ़ा है; तथापि आज जो कुछ भी मर्यादा दिखाई देती है, उसमें अष्टपाहुड का सर्वाधिक योगदान है।

अष्टपाहुड एक ऐसा अंकुश है, जो शिथिलाचार के मदोन्मत्त गजराज को बहुत कुछ काबू में रखता है, सर्वविनाश नहीं करने देता। यदि अष्टपाहुड़ नहीं होता तो आज हम कहाँ पहुँच गये होते – इसकी कल्पना करना भी कष्टकर प्रतीत होता है।

अत: यह कहने में रंचमात्र भी संकोच नहीं करना चाहिए कि अष्टपाहुड की उपयोगिता निरन्तर रही है और पंचम काल के अन्त तक बनी रहेगी।

वीतरागी जिनधर्म की निर्मल धारा के अविरल प्रवाह के अभिलाषी आत्मार्थी जनों को स्वयं तो इस कृति का गहराई से अध्ययन करना ही चाहिये, इसका समुचित प्रचार-प्रसार भी करना चाहिए, जिससे सामान्यजन भी शिथिलाचार के विरुद्ध सावधान हो सकें। इसमें प्रतिपादित विषय-वस्तु संक्षेप में इसप्रकार है —

(१) दर्शनपाहुड

छत्तीस गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में मंगलाचरणोपरान्त आरम्भ से ही सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए आचार्यदेव लिखते हैं कि जिनवरदेव ने कहा है कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है; अतः जो जीव सम्यग्दर्शन से रहित हैं, वे वंदनीय नहीं हैं। भले ही वे अनेक शास्त्रों के पाठी हों, उग्रतप करते हों, करोड़ों वर्ष तक तप करते रहें; तथापि जो सम्यग्दर्शन से रहित हैं, उन्हें आत्मोपलब्धि नहीं होती, निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती, आराधना से रहित होने के कारण वे संसार में ही भटकते रहते हैं; किन्तु जिनके हृदय में सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, उन्हें कर्मरूपी रज का आवरण नहीं लगता, उनके पूर्वबद्ध कर्मों का भी नाश हो जाता है।

जो जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों से ही भ्रष्ट हैं, वे तो भ्रष्टों में भी भ्रष्ट हैं; वे स्वयं तो नाश को प्राप्त होते ही हैं, अपने अनुयायियों को भी नष्ट करते हैं। – ऐसे लोग अपने दोषों को छुपाने के लिए धर्मात्माओं को दोषी बताते रहते हैं।

जिसप्रकार मूल के नष्ट हो जाने पर उसके परिवार – स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प, फल की वृद्धि नहीं होती; उसीप्रकार सम्यग्दर्शनरूपी मूल के नष्ट होने पर संयमादि की वृद्धि नहीं होती। यही कारण है कि जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा है।

जो जीव स्वयं तो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, पर अपने को संयमी मानकर सम्यग्दृष्टि से अपने पैर पुजवाना चाहते हैं; वे लूले और गूंगे होंगे; अर्थात् वे निगोद में जावेंगे, जहाँ न तो चल-फिर ही सकेंगे और न बोल सकेंगे; उन्हें बोधिलाभ अत्यन्त दुर्लभ है। इसीप्रकार जो जीव लज्जा, गारव और भय से सम्यग्दर्शन रहित लोगों के पैर पूजते हैं, वे भी उनके अनुमोदक होने से बोधि को प्राप्त नहीं होंगे।

जिसप्रकार सम्यग्दर्शन रहित व्यक्ति वंदनीय नहीं है, उसी प्रकार असंयमी भी वदंनीय नहीं है। भले ही बाह्य में वस्त्रादि का त्याग कर दिया हो, तथापि यदि सम्यग्दर्शन और अंतरंग संयम नहीं है तो वह वदंनीय नहीं है; क्योंकि न देह वदंनीय है, न कुल वदंनीय है, न जाति वदंनीय है; वदंनीय तो एक मात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप गुण ही हैं; अतः रत्नत्रय-विहीन की वदंना जिनमार्ग में उचित नहीं है।

जिसप्रकार गुणहीनों की वदंना उचित नहीं है, उसीप्रकार गुणवानों की उपेक्षा भी अनुचित है। अतः जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवन्त मुनिराजों की भी मत्सरभाव से वदंना नहीं करते हैं, वे भी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा नहीं हैं।

ही चाहिए; क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा है । यह सम्यग्दर्शन रत्नत्रय में सार है, मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है । इस सम्यग्दर्शन से ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं ।

इसप्रकार सम्पूर्ण दर्शनपाहुड सम्यक्त्व की महिमा से ही भरपूर है । इस पाहुड में समागत निम्नांकित सूक्तियां ध्यान देने योग्य हैं :-

(१) दंसणमूलो धम्मो – धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ।
(२) दंसणहीणो ण वंदिव्वो – सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति वंदनीय नहीं है ।
(३) दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं – जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, उनको मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती ।
(४) सोवाणं पढमं मोक्खस्स – सम्यग्दर्शन मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है ।
(५) जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं – जो शक्य हो, करो; जो शक्य न हो, न करो; पर श्रद्धान तो करो ही ।

(२) सूत्रपाहुड

सत्ताईस गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में अरहंतों द्वारा कथित, गणधर देवों द्वारा निबद्ध, वीतरागी नग्न दिगम्बर सन्तों की परम्परा से समागत सुव्यवस्थित जिनागम को सूत्र कहकर श्रमणों को उसमें बताये मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी गई है; क्योंकि जिसप्रकार सूत्र (डोरा) सहित सुई खोती नहीं है, उसीप्रकार सूत्रों (आगम) के आधार पर चलने वाले श्रमण भ्रमित नहीं होते, भटकते नहीं हैं ।

सूत्र में कथित जीवादि तत्त्वार्थों एवं तत्संबंधी हेयोपादेय संबंधी ज्ञान और श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है । यही कारण है कि सूत्रानुसार चलने वाले श्रमण कर्मों का नाश करते हैं । सूत्रानुशासन से भ्रष्ट साधु संघपति हो, सिंहवृत्ति हो, हरिहर-तुल्य ही क्यों न हो; सिद्धि को प्राप्त नहीं करता. संसार में ही भटकता है । अतः श्रमणों को सूत्रानुसार ही प्रवर्तन करना चाहिए ।

जिनसूत्रों में तीन लिंग (भेष) बताये गये हैं; उनमें सर्वश्रेष्ठ नग्न दिगम्बर साधुओं का है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का है और तीसरा आर्यिकाओं का है । इनके अतिरिक्त कोई भेष नहीं है, जो धर्म की दृष्टि से पूज्य हो ।

साधु के लिंग (भेष) को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं :-

"जह जायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहृदि हत्थेसु ।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम् ॥१८॥

जैसा बालक जन्मता है, साधु का रूप वैसा ही नग्न होता है । उसके तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं होता । यदि कोई साधु थोडा-बहुत भी परिग्रह ग्रहण करता है तो वह निश्चित रूप से निगोद जाता है ।"

वस्त्र धारण किए हुए तो तीर्थंकरों को भी मोक्ष नहीं होता है, तो फिर अन्य की तो बात ही क्या करें ? एक मात्र नग्नता ही मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं । स्त्रियों के नग्नता संभव नहीं है, अतः उन्हें मुक्ति भी संभव नहीं है । उनकी योनि, स्तन, नाभि और काँखों में सूक्ष्म त्रसजीवों की उत्पत्ति निरन्तर होती रहती है । मासिक धर्म की आशंका से वे निरन्तर त्रस्त रहती हैं तथा स्वभाव से ही शिथिल भाववाली होती हैं, अतः उनके उत्कृष्ट साधुता संभव नही है, तथापि वे पापयुक्त नहीं हैं, क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन, ज्ञान और एकदेश चारित्र हो सकता है ।

इसप्रकार सम्पूर्ण सूत्रपाहुड में सूत्रों में प्रतिपादित सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी गई है ।

(३) चारित्रपाहुड

पैंतालीस गाथाओं में निबद्ध इस चारित्रपाहुड में सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र के भेद से चारित्र के दो भेद किये गये हैं और कहा गया है कि जिनोपदिष्ट ज्ञान-दर्शन शुद्ध सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और शुद्ध आचरणरूप चारित्र संयमाचरण है ।

शंकादि आठ दोषों से रहित, निःशंकादि आठ गुणों (अंगों) से सहित, तत्त्वार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानकर श्रद्धान और आचरण करना ही सम्यक्त्वाचरण चारित्र है ।

सयमाचरण चारित्र सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार का होता है । ग्यारह प्रतिमाओं में विभक्त श्रावक के संयम को सागार संयमाचरण चारित्र कहते हैं । पंच महाव्रत पंच समिति, तीन गुप्ति आदि जो उत्कृष्ट संयम निर्ग्रन्थ मुनिराजों के होता है, वह अनगार संयमाचरण चारित्र है ।

जो व्यक्ति सम्यक्त्वाचरण चारित्र को धारण किये बिना संयमाचरण चारित्र को धारण करते हैं, उन्हें मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती; सम्यक्त्वाचरण सहित संयमाचरण को धारण करनेवाले को ही मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

उक्त सम्यक्त्वाचरण चारित्र निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतः यहाँ प्रकारान्तर से यही कहा गया है कि बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान के मात्र बाह्य क्रियाकाण्डरूप चारित्र धारण कर लेने से कुछ भी होने वाला नहीं है।

इसप्रकार इस अधिकार में सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित निर्मल चारित्र धारण करने की प्रेरणा दी गई है।

(४) बोधपाहुड

बासठ गाथाओं में निबद्ध और आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा आदि ग्यारह स्थानों में विभक्त इस पाहुड में ग्यारह स्थानों के माध्यम से एक प्रकार से दिगम्बर धर्म और निर्ग्रन्थ साधु का स्वरूप ही स्पष्ट किया गया है। उक्त ग्यारह स्थानों को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक समझाया गया है। इन सबके व्यावहारिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि निश्चय से निर्दोष निर्ग्रन्थ साधु ही आयतन हैं, चैत्यगृह हैं, जिनप्रतिमा हैं, दर्शन हैं, जिनबिंब हैं, जिनमुद्रा हैं, ज्ञान हैं, देव हैं, तीर्थ हैं, अरहंत हैं और प्रव्रज्या हैं।

(५) भावपाहुड

भावशुद्धि पर विशेष बल देने वाले एक सौ पैंसठ गाथाओं के विस्तार में फैले इस भावपाहुड का सार 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार' नामक ग्रन्थ में सुव्यवस्थित रूप से दिया गया है, जिसका संक्षिप्त रूप इसप्रकार है –

बाह्य परिग्रह का त्याग भावों की शुद्धि के लिए ही किया जाता है, परन्तु रागादि अंतरंग परिग्रह के त्याग बिना बाह्य त्याग निष्फल ही है; क्योंकि अंतरंग भावशुद्धि बिना करोड़ों वर्ष तक भी बाह्य तप करें, तब भी सिद्धि नहीं होती। अतः मुक्तिमार्ग के पथिकों को सर्व प्रथम भाव को ही पहिचानना चाहिए।

हे आत्मन्! तूने भावरहित निर्ग्रन्थ रूप तो अनेक बार ग्रहण किए हैं, पर भावलिंग बिना – शुद्धात्मतत्त्व की भावना बिना चतुर्गति में भ्रमण करते हुए अनन्त दुःख उठाये हैं। नरकगति में सर्दी, गर्मी, आवासादि के; तिर्यंचगति में खनन, ज्वलन, वेदना व्युच्छेदन, निरोधन आदि के; मनुष्यगति में आगन्तुक, मानसिक, शारीरिक आदि एवं देवगति में वियोग, हीन भावना आदि के दुःख भोगे हैं।

अधिक क्या कहे, आत्मभावना के बिना तू माँ के गर्भ में महा अपवित्र स्थान में सिकुड़ के रहा। आजतक तूने इतनी माताओं का दूध पिया है कि यदि उसे इकट्ठा किया

जावे तो सागर भर जावे । तेरे जन्म-मरण से दुःखी माताओं के अश्रुजल से ही सागर भर जावे । इसीप्रकार तूने इस अनंत संसार में इतने जन्म लिए हैं कि उनके केश, नख, नाल और अस्थियों को इकट्ठा करे तो सुमेरु पर्वत से भी बड़ा ढेर हो जावे ।

हे आत्मन् ! तूने आत्मभाव रहित होकर तीन लोक में जल, थल, अग्नि, पवन, गिरि, नदी, वृक्ष, वन आदि स्थलों पर सर्वत्र सर्व दुःख सहित निवास किया; सर्व पुद्गलों का बार-बार भक्षण किया, फिर भी तृप्ति नहीं हुई । इसीप्रकार तृष्णा से पीड़ित होकर तीन लोक का समस्त जल पिया, तथापि तृष्णा शान्त न हुई । अतः अब समस्त बातों का विचार कर, भव को समाप्त करने वाले रत्नत्रय का चिन्तन कर ।

हे धीर ! तुमने अनन्त भवसागर में अनेकबार उत्पन्न होकर अपरिमित शरीर धारण किए व छोड़े हैं, जिनमें मनुष्यगति में विषभक्षणादि व तिर्यंचगति में हिमपातादि द्वारा कुमरण को प्राप्त होकर महादुःख भोगे हैं । निगोद में तो एक अन्तर्मुहूर्त में छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण किया है ।

हे जीव ! तूने रत्नत्रय के अभाव में दुःखमय संसार में अनादिकाल से भ्रमण किया है; अतः अब तुम आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप रत्नत्रय की प्राप्ति करो, ताकि तुम्हारा मरण कुमरण न बनकर सुमरण बन जाए और शीघ्र ही शाश्वत सुख को प्राप्त करो ।

अब आचार्य भावरहित मात्र द्रव्यलिंग धारण करने के पश्चात् हुए दुःखों का वर्णन करते हैं ।

हे मुनिवर ! तीन लोक में कोई ऐसा स्थल शेष नहीं है, जहां तूने द्रव्यलिंग धारण कर जन्म-मरण धारण न किया हो । न ही कोई पुद्गल ऐसा बचा है, जिसे तूने ग्रहण कर छोड़ा न हो; फिर भी तेरी मुक्ति नहीं हुई, अपितु भावलिंग न होने से अनंतकाल तक जन्म-जरा आदि से पीड़ित होते हुए दुःखों को ही भोगा है ।

अधिक क्या कहें, इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में ९६-९६ रोग होते हैं, फिर सम्पूर्ण शरीर के रोगों का तो कहना ही क्या है ? पूर्वभवों में उन समस्त रोगों को तूने सहा है एवं आगे भी सहेगा ।

हे मुनि ! तू माता के अपवित्र गर्भ में रहा । वहां माता के उच्छिष्ट भोजन से बना हुआ रस रूपी आहार ग्रहण किया । फिर बाल अवस्था में अज्ञानवश अपवित्र स्थान में, अपवित्र वस्तु में लेटा रहा व अपवित्र वस्तु ही खाई ।

हे मुनि ! यह देहरूपी घर मांस, हाड़, शुक्र, रुधिर, पित्त, अंतड़ियों, खसिर (रुधिर के बिना अपरिपक्व मल) वस्त्र और पूय (खराब खून)– इन सब मलिन वस्तुओं से पूरा भरा है, जिसमें तू आसक्त होकर अनन्तकाल से दुःख भोग रहा है ।

समझाते हुए आचार्य देव कहते हैं कि हे धीर ! जो सिर्फ कुटुम्बादि से मुक्त हुआ, वह मुक्त नहीं है; अपितु जो आभ्यंतर की वासना छोड़कर भावों से मुक्त होता है, उसी को मुक्त कहते हैं – ऐसा जानकर आभ्यन्तर की वासना छोड़ । भूतकाल में अनेक ऐसे मुनि हुए हैं, जिन्होंने देहादि परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ रूप धारण किया, किन्तु मानादिक नहीं छोड़े; अतः सिद्धि नहीं हुई । जब निर्मान हुए, तभी मुक्ति हुई । द्रव्यलिंगी उग्रतप करते हुए अनेक ऋद्धियां प्राप्त कर लेता है, किन्तु क्रोधादि के उत्पन्न होने के कारण उसकी वे ऋद्धियां स्व-पर के विनाश का ही कारण होती हैं । जैसे बाहु और द्वीपायन मुनि ।

भावशुद्धि विना एकादश अंग का ज्ञान भी व्यर्थ है; किन्तु यदि शास्त्रों का ज्ञान न हो और भावों की विशुद्धता हो तो आत्मानुभव के होने से मुक्ति प्राप्त हुई है । जैसे – शिवभूति मुनि ।

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाव रहित नग्नत्व अकार्यकारी है । भाव सहित द्रव्यलिंग में ही कर्मप्रकृति के समूह का नाश होता है । हे धीरमुनि ! इसप्रकार जानकर तुझे आत्मा की ही भावना करना चाहिए ।

जो मुनि देहादिक परिग्रह व मानकषाय से रहित होता हुआ आत्मा में लीन होता है, वह भावलिंगी है । भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मैं परद्रव्य व परभावों से ममत्व को छोड़ता हूँ । मेरा स्वभाव ममत्व रहित है, अतः मैं अन्य सभी आलम्बनों को छोड़कर आत्मा का आलम्बन लेता हूँ । ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर, योग – ये सभी भाव अनेक होने पर भी एक आत्मा में ही हैं । संज्ञा, संख्यादि के भेद से ही उन्हें भिन्न-भिन्न कहा जाता है । मैं तो ज्ञान-दर्शनस्वरूप शाश्वत आत्मा ही हूँ; शेष सब संयोगी पदार्थ परद्रव्य हैं, मुझसे भिन्न हैं । अतः हे आत्मन् ! तुम यदि चार गति से छूटकर शाश्वत सुख को पाना चाहते हो तो भावों से शुद्ध होकर अतिनिर्मल आत्मा का चिन्तन करो । जो जीव ऐसा करता है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है ।

जीव अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण, अनिर्दिष्ट-संस्थान व चेतना गुणवाला है । चैतन्यमयी ज्ञानस्वभावी जीव की भावना कर्मक्षय का कारण होती हैं ।

भाव की महिमा बताते हुए आचार्य कहते हैं कि श्रावकत्व व मुनित्व के कारणभूत भाव ही हैं। भावसहित द्रव्यलिंग से ही कर्मों का नाश होता है। यदि नग्नत्व से ही कार्य सिद्धि हो तो नारकी, पशु आदि सभी जीवसमूह को नग्नत्व के कारण मुक्ति प्राप्त होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, अपितु वे महादुःखी ही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भावरहित नग्नत्व से दुःखों की ही प्राप्ति होती है, संसार में ही भ्रमण होता है।

बाह्य में नग्न मुनि पैशून्य, हास्य, भाषा आदि कार्यों से मलिन होता हुआ स्वयं अपयश को प्राप्त करता है एवं व्यवहार धर्म की भी हंसी कराता है; इसलिए आभ्यन्तर भावदोषों से अत्यन्त शुद्ध होकर ही निर्ग्रन्थ बाह्यलिंग धारण करना चाहिए।

भावरहित द्रव्यलिंग की निरर्थकता बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस मुनि में धर्म का वास नहीं है, अपितु दोषों का आवास है, वह तो इक्षुफल के समान है, जिसमें न तो मुक्तिरूपी फल लगते हैं और न रत्नत्रयरूप गंधादिक गुण ही पाये जाते हैं। अधिक क्या कहे, वे तो नग्न होकर भी नाचनेवाले भाँड के समान ही हैं। १

अतः हे आत्मन्! पहले मिथ्यात्वादि आभ्यन्तर दोषों को छोड़कर, भावदोषों से अत्यन्त शुद्ध होकर, बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग धारण करना चाहिए।

शुद्धात्मा की भावना से रहित मुनियों द्वारा किया गया बाह्य परिग्रह का त्याग, गिरिकन्दरादि का आवास, ज्ञान, अध्ययन आदि सभी क्रियाएं निरर्थक हैं। इसलिए हे मुनि! लोक का मनोरंजन करने वाला मात्र बाह्यवेष ही धारण न कर, इन्द्रियों की सेना का भंजन कर, विषय में मत रम, मनरूपी बन्दर को वश में कर, मिथ्यात्व, कषाय व नव नोकषायों को भावशुद्धिपूर्वक छोड़, देव-शास्त्र-गुरु की विनय कर, जिनशास्त्रों को अच्छी तरह समझकर शुद्धभावों की भावना कर; जिससे तुझे क्षुधा-तृषादि वेदना से रहित त्रिभुवन चूड़ामणी सिद्धत्व की प्राप्ति होगी।

हे मुनि! तू बाईस परीषहों को सह; बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना कर; भावशुद्धि के लिए के लिए नवपदार्थ, सप्ततत्त्व, चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान आदि की नाम-लक्षणादिपूर्वक भावना कर; दशप्रकार के अब्रह्मचर्य, को छोड़कर नवप्रकार के ब्रह्मचर्य को प्रगट कर। इसप्रकार भावपूर्वक द्रव्यलिंगी मुनि ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप को प्राप्त करता है, भावरहित द्रव्यलिंगी तो चारों गतियों में अनंत दुःखों को भोगता है।

१. अष्टपाहुड़, भावपाहुड़, गाथा ७१

हे मुनि ! तू संसार को असार जानकर केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए निर्मल सम्यग्दर्शन सहित दीक्षा लेने की भावना कर, भावों से शुद्ध होकर बाह्यलिंग धारण कर, उत्तम गुणों का पालन कर । जीव, अजीव, आस्रव, बंध और संवरतत्त्व का चिन्तन कर, मन-वचन-काय से शुद्ध होकर आत्मा का चिन्तन कर; क्योंकि जबतक विचारणीय जीवादि तत्त्वों का विचार नहीं करेगा, तबतक अविनाशी पद की प्राप्ति नहीं होगी ।

हे मुनिवर ! पाप-पुण्य बंधादि का कारण परिणाम ही है । मिथ्यात्व, कषाय, असंयम और योगरूप भावों से पाप का बंध होता है । मिथ्यात्व रहित सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य को बाँधता है । अतः तुम ऐसी भावना करो कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से आच्छादित हूँ, मैं इन्हें समाप्त कर निज स्वरूप को प्रकट करूँ । अधिक कहने से क्या ? तू तो प्रतिदिन शील व उत्तर गुणों का भेद-प्रभेदों सहित चिन्तन कर ।

हे मुनि ! ध्यान से मोक्ष होता है । अतः तुम आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म व शुक्ल ध्यान को धारण करो । द्रव्यलिंगी के धर्म व शुक्ल ध्यान नहीं होता, अतः वह संसार रूप वृक्ष को काटने में समर्थ नहीं है । जिस मुनि के मन में रागरूप पवन से रहित धर्मरूपी दीपक जलता है, वही आत्मा को प्रकाशित करता है, वही संसार रूपी वृक्ष को ध्यान रूपी कुल्हाड़ी से काटता है ।

ज्ञान का एकाग्र होना ही ध्यान है । ध्यान द्वारा कर्म रूपी वृक्ष दग्ध हो जाता है, जिससे संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, अतः भावश्रमण तो सुखों को प्राप्त कर तीर्थंकर व गणधर आदि पदों को प्राप्त करते हैं; पर द्रव्यश्रमण दुःखों को ही भोगता है । अतः गुण-दोषों को जानकर तुम भाव सहित संयमी बनो ।

भावश्रमण विद्याधरादि की ऋद्धियों को नहीं चाहता, न ही वह मनुष्य-देवादि के सुखों की ही वांछा करता है । वह चाहता है कि मैं शीघ्रातिशीघ्र आत्महित करलूँ ।

हे धीर ! जिसप्रकार गुड़मिश्रित दूध के पीने पर भी सर्प विष रहित नहीं होता, उसीप्रकार अभव्य जीव जिनधर्म के सुनने पर भी अपनी दुर्मत से आच्छादित बुद्धि को नहीं छोड़ता । वह मिथ्या धर्म से युक्त रहता हुआ मिथ्या धर्म का पालन करता है, अज्ञान तप करता है, जिससे दुर्गति को प्राप्त होता हुआ संसार में भ्रमण करता है; अतः तुझे ३६३ पाखण्डियों के मार्ग को छोड़कर जिनधर्म में मन लगाना चाहिए ।

सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार लोक में जीव रहित शरीर को 'शव' कहते हैं, वैसे ही सम्यंग्दर्शन रहित पुरुष चल शव है। शव लोक में अपूज्य होता है और सम्यग्दर्शन रहित पुरुष लोकोत्तर मार्ग में अपूज्य होता है। मुनि व श्रावक धर्मों में सम्यक्त्व की ही विशेषता है। जिसप्रकार ताराओं के समूह में चन्द्रमा सुशोभित होता है, पशुओं में मृगराज सुशोभित होता है; उसीप्रकार जिनमार्ग में जिनभक्ति सहित निर्मल सम्यग्दर्शन से युक्त तप-व्रतादि से निर्मल जिनलिंग सुशोभित होता है।

इसप्रकार सम्यक्त्व के गुण व मिथ्यात्व के दोषों को जानकर गुणरूपी रत्नों के सार मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन को भावपूर्वक धारण करना चाहिए।

जिसप्रकार कमलिनी स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होती, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी स्वभाव से ही विषय-कषायों में लिप्त नहीं होता। आचार्यदेव कहते हैं कि जो भावसहित सम्पूर्ण शील-संयमादि गुणों से युक्त हैं, उसे ही हम मुनि कहते हैं। मिथ्यात्व से मलिन चित्तवाले बहुत दोषों के आवास मुनिवेष धारी जीव तो श्रावक के समान भी नहीं हैं।

जो इन्द्रियों के दमन व क्षमारूपी तलवार से कषायरूपी प्रबल शत्रु को जीतते हैं, चारित्ररूपी खडग से पापरूपी स्तंभ को काटते हैं, विषयरूपी विष के फलों से युक्त मोहरूपी वृक्ष पर चढ़ी मायारूपी बेल को ज्ञानरूपी शस्त्र से पूर्णरूपेण काटते हैं; मोह, मद, गौरव से रहित और करुणाभाव से सहित हैं; वे मुनि ही वास्तविक धीर-वीर हैं। वे मुनि ही चक्रवर्ती, नारायण, अर्धचक्री, देव, गणधर, आदि के सुखों को और चारण ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं तथा सम्पूर्ण शुद्धता होने पर अजर, अमर, अनुपम, उत्तम, अतुल, सिद्ध सुख को भी प्राप्त करते हैं।

भावपाहुड का उपसंहार कहते हुए आचार्यदेव करते हैं कि सर्वज्ञदेव कथित इस भावपाहुड को जो भव्य जीव भली-भाँति पढ़ते हैं, सुनते हैं, चिन्तन करते हैं, वे अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि भावपाहुड में भावलिंग सहित द्रव्यलिंग धारण करने की प्रेरणा दी गई है। प्रकारान्तर से सम्यग्दर्शन सहित व्रत धारण करने का उपदेश दिया गया है।

(६) मोक्षपाहुड

एक सौ छह गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में आत्मा की अनन्तसुखस्वरूप दशा मोक्ष एवं उसकी प्राप्ति के उपायों का निरूपण है। इसके आरंभ में ही आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा – इन तीन भेदों का निरूपण करते हुए बताया गया है कि बहिरात्मपना हेय है, अन्तरात्मपना उपादेय है और परमात्मपना परम-उपादेय है।

आगे बंध और मोक्ष के कारणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि परपदार्थों में रत आत्मा बंधन को प्राप्त होता है और परपदार्थों से विरत आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है। इसप्रकार स्वद्रव्य से सुगति और परद्रव्य से दुर्गति होती है – ऐसा जानकर हे आत्मन् ! स्वद्रव्य में रति और परद्रव्य से विरति करो।

आत्मस्वभाव से भिन्न स्त्री-पुत्रादिक, धन-धान्यादिक सभी चेतन-अचेतन पदार्थ 'परद्रव्य' हैं और इनसे भिन्न ज्ञानशरीरी, अविनाशी निज भगवान आत्मा 'स्वद्रव्य' है। जो मुनि परद्रव्यों से परान्मुख होकर स्वद्रव्य का ध्यान करते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं। अतः जो व्यक्ति संसाररूपी महार्णव से पार होना चाहते हैं, उन्हें अपने शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए।

आत्मार्थी मुनिराज सोचते हैं कि मैं किस से क्या बात करूँ; क्योंकि जो भी इन आँखों से दिखाई देता है, वे सब शरीरादि तो जड़ हैं, मूर्तिक हैं, अचेतन हैं, कुछ समझते नहीं हैं और चेतन तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है।

जो योगी व्यवहार में सोता है, वह अपने आत्मा के हित के कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने कार्य में सोता है। इसप्रकार जानकर योगीजन समस्त व्यवहार को त्यागकर आत्मा का ध्यान करते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषा बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जो जाने, सो ज्ञान; जो देखे, सो दर्शन और पुण्य और पाप का परिहार चारित्र है। अथवा तत्त्वरुचि सम्यग्दर्शन, तत्त्व का ग्रहण सम्यग्ज्ञान एवं पुण्य-पाप का परिहार सम्यक्चारित्र है।

तपरहित ज्ञान और ज्ञानरहित तप – दोनों ही अकार्य हैं, किसी काम के नहीं हैं, क्योंकि मुक्ति तो ज्ञानपूर्वक तप से होती है। ध्यान ही सर्वोत्कृष्ट तप है, पर ज्ञान-ध्यान

से भ्रष्ट कुछ साधुजन कहते हैं कि इसकाल में ध्यान नहीं होता, पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि आज भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के धनी साधुजन आत्मा का ध्यान कर लौकान्तिक देवपने को प्राप्त होते हैं और वहां से चयकर आगामी भव में निर्वाण की प्राप्ति करते हैं। पर जिनकी बुद्धि पापकर्म से मोहित हैं, वे जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर का लिंग (वेष) धारण करके भी पाप करते हैं; वे पापी मोक्षमार्ग से च्युत ही हैं।

निश्चयतप का अभिप्राय यह है कि जो योगी अपने आत्मा में अच्छी तरह लीन हो जाता है, वह निर्मलचरित्र योगी अवश्य निर्वाण की प्राप्ति करता है।

इसप्रकार मुनिधर्म का विस्तृत वर्णन कर श्रावकधर्म की चर्चा करते हुए सबसे पहले निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने की प्रेरणा देते हैं। कहते हैं कि अधिक कहने से क्या लाभ है ? मात्र इतना जानलो कि आज तक भूतकाल में जितने सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में भी जितनें सिद्ध होंगे, वह सर्व सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है।

आगे कहते हैं कि जिन्होंने सर्वसिद्धि करने वाले सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है, वे ही धन्य हैं, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, और वे ही पंडित हैं।

अन्त में मोक्षपाहुड का उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि सबसे उत्तम पदार्थ निज शुद्धात्मा ही है, जो इसी देह में रह रहा है। अरहंतादि पंचपरमेष्ठी भी निजात्मा में ही रत हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी इसी आत्मा की अवस्थाएं हैं; अतः मुझे तो एक आत्मा का ही शरण है।

इसप्रकार इस अधिकार में मोक्ष और मोक्षमार्ग की चर्चा कहते हुए स्वद्रव्य में रति करने का उपदेश दिया गया है तथा तत्त्वरुचि को सम्यग्दर्शन, तत्त्वग्रहण को सम्यग्ज्ञान एवं पुण्य-पाप के परिहार को सम्यक्चारित्र कहा गया है। अन्त में एकमात्र निज भगवान आत्मा की ही शरण में जाने की पावन प्रेरणा दी गई है।

इस अधिकार में समागत कुछ महत्वपूर्ण सूक्तियाँ इसप्रकार हैं—

(१) **आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं** – आत्मस्वभाव में सुरत योगी निर्वाण का लाभ प्राप्त करता है।

(२) **परदव्वादो दुग्गइ सद्दव्वादो हु सुग्गई होइ** – परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति होती है।

(३) **तम्हा आदा हु मे सरणं** – इसलिए मुझे एक आत्मा की ही शरण है।

(४) **जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जमि ।**
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।।

जो योगी व्यवहार में सोता है वह अपने स्वरूप की साधना के काम में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने काम में सोता है ।

(५) **किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।**
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ।।

अधिक कहने से क्या लाभ है इतना समझ लो कि आज तक जो जीव सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में होंगे, वह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है ।

(७) लिंगपाहुड

बाईस गाथाओं के इस लिंगपाहुड में जिनलिंग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए जिनलिंग धारण करने वालों को अपने आचरण और भावों की संभाल के प्रति सतर्क किया गया है ।

आरंभ में ही आचार्य कहते हैं कि धर्मात्मा के लिंग (नग्न दिगम्बर साधु वेष) तो होता है, किन्तु लिंग धारण कर लेने मात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं जो जाती । इसलिए हे भव्यजीवों ! भावरूप धर्म को पहिचानो, अकेले लिंग (वेष) से कुछ होने वाला नहीं है ।

आगे चलकर अनेक गाथाओं में बड़े ही कठोर शब्दों में कहा गया है कि पाप से मोहित है बुद्धि जिनकी, ऐसे कुछ लोग जिनलिंग को धारण करके उसकी हँसी कराते हैं। निर्ग्रंथ लिंग धारण करके भी जो साधु परिग्रह का संग्रह करते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, उसका चिंतवन करते हैं; वे नग्न होकर भी सच्चे श्रमण नहीं हैं, अज्ञानी हैं, पशु हैं ।

इसीप्रकार नग्नवेष धारण करके भी जो भोजन में गृद्धता रखते हैं, आहार के निमित्त दौड़ते हैं, कलह करते हैं, ईर्षा करते हैं, मनमाना सोते हैं, दौड़ते हुए चलते हैं, उछलते हैं – इत्यादि असत्क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, वे मुनि तो है ही नहीं, मनुष्य भी नहीं हैं, पशु हैं ।

आगे चलकर फिर लिखते हैं कि जो मुनि दीक्षा रहित गृहस्थों में और दीक्षित शिष्यों में बहुत स्नेह रखते हैं, मुनियों के योग्य क्रिया और गुरुओं की विनय से रहित होते हैं, वे भी श्रमण नहीं, पशु हैं।

जो साधु महिलाओं का विश्वास करके एवं उनको विश्वास में लेकर उनमें प्रवर्तते हैं, उन्हें पढ़ाते हैं, प्रवृत्ति सिखाते हैं, ऐसे वेषधारी तो पार्श्वस्थ से भी निकृष्ट हैं, विनष्ट हैं; श्रमण नहीं हैं। इसप्रकार की प्रवृत्तियों में पड़े हुए वेषी मुनि बहुत विद्वान होने पर भी शास्त्रों का ज्ञाता होने पर भी सच्चे श्रमण नहीं हैं।

अन्त में आचार्य कहते हैं कि इस लिंगपाहुड में व्यक्त भावों को जानकर जो मुनि दोषों से बचकर सच्चा लिंग धारण करते हैं, वे मुक्ति पाते हैं।

(८) शीलपाहुड

शीलपाहुड की विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुए शीलपाहुड के अन्त में वचनिकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं–

"शील नाम स्वभाव का है आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञान-दर्शनमयी चेतनास्वरूप है, वह अनादि कर्म के संयोग से विभावरूप परिणमता है। इसके विशेष मिथ्यात्व-कषाय आदि अनेक हैं, इनको राग-द्वेष-मोह भी कहते हैं। इनके भेद संक्षेप से चौरासी लाख किए हैं, विस्तार से असंख्य अनन्त होते हैं – इनको कुशील कहते हैं। इनके अभावरूप संक्षेप से चौरासी लाख उत्तरगुण हैं, इन्हें शील कहते हैं। यह तो सामान्य परद्रव्य के संबंध की अपेक्षा शील-कुशील का अर्थ है और प्रसिद्ध व्यवहार की अपेक्षा स्त्री के संग की अपेक्षा कुशील के अठारह हजार भेद कहे हैं। इनके अभावरूप अठारह हजार शील के भेद हैं।"

वास्तव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही शील हैं, इनकी एकता ही मोक्षमार्ग है। अतः शील को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

"णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्व ॥५॥
णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥६॥

चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है, सम्यग्दर्शन रहित लिंगग्रहण अर्थात् नग्न दिगम्बर दीक्षा लेना निरर्थक है और संयम विना तप निरर्थक है। यदि कोई चारित्र सहित ज्ञान धारण करता है, सम्यग्दर्शन सहित लिंग ग्रहण करता है और संयम सहित तपश्चरण करता है तो अल्प का भी महाफल प्राप्त करता है।"

आगे आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान, चारित्र, तप का आचरण करने वाले मुनिराज निश्चित रूप से निर्वाण की प्राप्ति करते हैं।

जीवदया, इन्द्रियों का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप – ये शील के ही परिवार हैं। विष के भक्षण से तो जीव एक बार ही मरण को प्राप्त होता है, किन्तु विषयरूप विष (कुशील) के सेवन से अनन्तबार जन्म-मरण धारण करने पड़ते हैं।

शील विना अकेले जान लेने मात्र से यदि मोक्ष होता है तो दशपूर्वों का ज्ञान जिसको था, ऐसा रुद्र नरक क्यों गया? अधिक क्या कहें, इतना समझ लेना कि ज्ञान सहित शील ही मुक्ति का कारण है। अन्त में आचार्यदेव कहते हैं–

"जिणवयणगहिदसारा विषयविरत्ता तवोधणा धीरा।
सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥३८॥

जिन्होंने जिनवचनों के सार को ग्रहण कर लिया है और जो विषयों से विरक्त हो गये हैं, जिनके तप ही धन है और जो धीर हैं तथा जो शीलरूपी जल से स्नान करके शुद्ध हुए हैं, वे मुनिराज सिद्धालय के सुखों को प्राप्त करते हैं।"

इसप्रकार इस अधिकार में सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित शील की महिमा बताई है, उसे ही मोक्ष का कारण बताया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण अष्टपाहुड श्रमणों में समागत या संभावित शिथिलाचार के विरुद्ध एक समर्थ आचार्य का सशक्त अध्यादेश है, जिसमें सम्यग्दर्शन पर तो सर्वाधिक बल दिया ही गया है, साथ में श्रमणों के संयमाचरण के निरतिचार पालन पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, श्रमणों को पग-पग पर सतर्क किया गया है।

सम्यग्दर्शन रहित संयम धारण कर लेने पर संयमाचरण में शिथिलता अनिवार्य है। सम्यग्दर्शनरहित शिथिल श्रमण स्वयं को तो संसारसागर में डुबोते ही हैं, साथ ही

अनुयायियों को भी ले डूबते हैं तथा निर्मल दिगम्बर जिनधर्म को भी कलंकित करते हैं, बदनाम करते हैं । इसप्रकार वे लोग आत्मद्रोही होने के साथ-साथ धर्मद्रोही भी हैं – इस बात का अहसास आचार्य कुन्दकुन्द को गहराई से था । यही कारण है कि उन्होंने इस प्रकार की प्रवृत्तियों का अष्टपाहुड में बड़ी कठोरता से निषेध किया है ।

आचार्य कुन्दकुन्द के हम सभी अनुयायियों का यह पावन कर्तव्य है कि उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर हम स्वयं तो चलें ही, जगत को भी उनके द्वारा प्रतिपादित सन्मार्ग से परिचित करायें, चलने की पावन प्रेरणा दें । – इसी मंगल कामना के साथ इस उपक्रम से विराम लेता हूँ ।

❀ नमः सिद्धेभ्यः ❀

स्वामि कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

अष्टपाहुड

भाषा–वचनिका

[श्री पं० जयचन्द्रजी छाबड़ा]

❀ दोहा ❀

श्रीमत वीरजिनेश रवि मिथ्यातम हरतार ।
विघनहरन मंगलकरन बंदूं वृषकरतार ।। १ ।।
वानी बंदूं हितकरी जिनमुख-नभतैं गाजि ।
गणधरगणश्रुतभू-झरी-बूंद-वर्णपद साजि ।। २ ।।
गुरु गौतम बंदूं सुविधि संयमतपधर और ।
जिनितैं पंचमकालमैं बरत्यो जिनमत दौर ।। ३ ।।
कुन्दकुन्दमुनिकूं नमूं कुमतध्वांतहर भान ।
पाहुड ग्रन्थ रचे जिनहिं प्राकृत वचन महान ।। ४ ।।
तिनिमैं कई प्रसिद्ध लखि करूं सुगम सुविचार ।
देशवचनिकामय लिखूं भव्य-जीवहितधार ।। ५ ।।

—इस प्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृतगाथाबद्ध पाहुड ग्रन्थोंमेंसे कुछकी देशभाषामय वचनिका लिखते हैं :—

वहाँ प्रयोजन ऐसा है कि—इस हुण्डावसर्पिणी कालमें मोक्षमार्गकी अन्यथा प्ररूपणा करनेवाले अनेक मत प्रवर्तमान हैं। उसमें भी इस पंचमकालमें केवली–श्रुतकेवलीका व्युच्छेद होनेसे जिनमतमें भी जड़ वक्र जीवोंके निमित्तसे परम्परा मार्गका उल्लंघन करके श्वेताम्बर आदि बुद्धिकल्पित मत हुए हैं। उनका निराकरण करके यथार्थ स्वरूपकी स्थापनाके हेतु दिगम्बर आम्नाय मूलसंघमें आचार्य हुए और उन्होंने सर्वज्ञकी परम्पराके अव्युच्छेदरूप प्ररूपणाके अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है; उनमें दिगम्बर सम्प्रदाय मूलसंघ नन्दिआम्नाय सरस्वतीगच्छमें श्री कुन्दकुन्द मुनि हुए और उन्होंने पाहुडग्रन्थोंकी रचना की। उन्हें संस्कृत भाषामें प्राभृत कहते हैं और वे प्राकृत गाथाबद्ध हैं। काल दोषसे जीवोंकी बुद्धि मन्द होती है जिससे वे अर्थ नहीं समझ सकते; इसलिये देशभाषामय वचनिका होगी तो सब पढेंगे और अर्थ समझेंगे तथा श्रद्धान दृढ़ होगा—ऐसा प्रयोजन विचार कर वचनिका लिख रहे हैं अन्य कोई ख्याति, बड़ाई या लाभका प्रयोजन नहीं है। इसलिये हे भव्य जीवों! इसे पढ़कर, अर्थ समझकर, चित्तमें धारण करके यथार्थ मतके बाह्यलिंग एवं तत्त्वार्थका श्रद्धान दृढ़ करना। इसमें कुछ बुद्धिकी मंदतासे तथा प्रमादके वश अन्यथा अर्थ लिख दूँ तो अधिक बुद्धिमान मूलग्रन्थको देखकर, शुद्ध करके पढ़ें और मुझे अल्पबुद्धि जानकर क्षमा करें।

अब यहाँ प्रथम दर्शनपाहुडकी वचनिका लिखते हैं:—

(दोहा)

वंदूँ श्री अरिहंतकूँ मन वच तन इकतान।
मिथ्याभाव निवारिकैं करैं सु दर्शन ज्ञान॥

अब ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थके आदि में ग्रन्थकी उत्पत्ति और उसके ज्ञानका कारण जो परम्परा गुरुका प्रवाह उसे मंगलके हेतु नमस्कार करते हैं:—

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकम्मं समासेण॥ १॥

कृत्वा नमस्कारं जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य।
दर्शनमार्गं वक्ष्यामि यथाक्रमं समासेन॥ १॥

प्रारंभमां करीने नमन जिनवरवृषभ महावीरने।
संक्षेपथी हुं यथाक्रमे भाखीश दर्शनमार्गने॥ १॥

इसका देशभाषामय अर्थ:—आचार्य कहते हैं कि मैं जिनवर वृषभ ऐसे जो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान, उन्हें नमस्कार करके दर्शन अर्थात् मतका जो मार्ग है उसे यथानुक्रम संक्षेपमें कहूँगा।

भावार्थ:—यहाँ 'जिनवर वृषभ' विशेषण है; उसमें जो जिन शब्द है उसका अर्थ ऐसा है कि—जो कर्मशत्रुको जीते सो जिन। वहाँ सम्यग्दृष्टि अव्रतीसे लेकर कर्मकी गुणश्रेणीरूप निर्जरा करनेवाले सभी जिन हैं उनमें वर अर्थात् श्रेष्ठ। इस प्रकार गणधर आदि मुनियोंको जिनवर कहा जाता है; उनमें वृषभ अर्थात् प्रधान ऐसे भगवान तीर्थंकर परम देव हैं। उनमें प्रथम तो श्री ऋषभदेव हुए और इस पंचमकालके प्रारंभ तथा चतुर्थकालके अन्तमें अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमानस्वामी हुए हैं। वे समस्त तीर्थंकर जिनवर वृषभ हुए हैं उन्हें नमस्कार हुआ। वहाँ 'वर्द्धमान' ऐसा विशेषण सभीके लिये जानना; क्योंकि सभी अन्तरंग एवं बाह्य लक्ष्मीसे वर्द्धमान हैं। अथवा जिनवर वृषभ शब्दसे तो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेवकी और वर्द्धमान शब्दसे अन्तिम तीर्थंकरको जानना। इस प्रकार आदि और अन्तके तीर्थंकरोंको नमस्कार करनेसे मध्यके तीर्थंकरोंको भी सामर्थ्यसे नमस्कार जानना। तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतरागको तो परमगुरु कहते हैं और उनकी परिपाटीमें चले आ रहे गौतमादि मुनियोंको जिनवर विशेषण दिया, उन्हें अपर गुरु कहते हैं;—इसप्रकार परापर गुरुओंका प्रवाह जानना। वे शास्त्रकी उत्पत्ति तथा ज्ञानके कारण हैं। उन्हें ग्रन्थके आदिमें नमस्कार किया ॥१॥

अब, धर्मका मूल दर्शन है, इसलिये जो दर्शनसे रहित हो उसकी वंदना नहीं करना चाहिये—ऐसा कहते हैं:—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥ २ ॥

दर्शनमूलो धर्मः उपदिष्टः जिनवरैः शिष्याणाम्।
तं श्रुत्वा स्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः ॥ २ ॥

अर्थ:—जिनवर जो सर्वज्ञदेव हैं उन्होंने शिष्य जो गणधर आदिकको धर्मका उपदेश दिया है; कैसा उपदेश दिया है?—कि दर्शन जिसका मूल है। मूल कहाँ होता

रे! धर्म दर्शनमूल उपदेश्यो जिनोए शिष्यने।
ते धर्म निज कर्णे सुणी दर्शनरहित नहि वंद्य छे ॥ २ ॥

है कि—जैसे मन्दिरके नींव और वृक्षके जड़ होती है उसी प्रकार **धर्मका मूल दर्शन है।** इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि–हे सकर्ण अर्थात् सत्पुरुषो ! सर्वज्ञके कहे हुए **उस दर्शनमूलरूप धर्मको** अपने कानोंसे सुनकर जो दर्शनसे रहित हैं वे वंदन योग्य नहीं हैं; इसलिये दर्शनहीनकी वंदना मत करो। जिसके दर्शन नहीं है उसके धर्म भी नहीं है; क्योंकि मूल रहित वृक्षके स्कंध, शाखा, पुष्प, फलादिक कहाँसे होंगे ? इसलिये यह उपदेश है कि—जिसके धर्म नहीं है उससे धर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर धर्मके निमित्त उसकी वंदना किसलिये करें ?—ऐसा जानना।

अब, यहाँ धर्मका तथा दर्शनका स्वरूप जानना चाहिये। वह स्वरूप तो संक्षेपमें ग्रन्थकार ही आगे कहेंगे, तथापि कुछ अन्य ग्रन्थोंके अनुसार यहाँ भी दे रहे हैं:— 'धर्म' शब्दका अर्थ यह है कि—जो आत्माको संसारसे उबारकर सुखस्थानमें स्थापित करे सो धर्म है। और दर्शन अर्थात् देखना। इसप्रकार **धर्मकी मूर्ति दिखायी दे वह दर्शन है** तथा प्रसिद्धिमें जिसमें धर्मका ग्रहण हो ऐसे मतको 'दर्शन' कहा है। लोकमें धर्मकी तथा दर्शनकी मान्यता सामान्यरूपसे तो सबके है, परन्तु सर्वज्ञके बिना यथार्थ स्वरूपका जानना नहीं हो सकता; परन्तु छद्मस्थ प्राणी अपनी बुद्धिसे अनेक स्वरूपोंकी कल्पना करके अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनकी प्रवृत्ति करते हैं। और जिनमत सर्वज्ञकी परम्परा से प्रवर्तमान हैं इसलिये इसमें यथार्थ स्वरूपका प्ररूपण है।

वहाँ धर्मको निश्चय और व्यवहार—ऐसे दो प्रकारसे साधा है। उसकी प्ररूपणा चार प्रकारसे—प्रथम वस्तुस्वभाव, दूसरे उत्तम क्षमादिक दस प्रकार, तीसरे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप और चौथे जीवोंकी रक्षारूप ऐसे चार प्रकार हैं। वहाँ निश्चयसे सिद्ध किया जाय तव तो सबमें एक ही प्रकार है, इसलिये वस्तुस्वभावका तात्पर्य तो जीव नामक वस्तुकी परमार्थरूप दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है, और वह चेतना सर्व विकारोंसे रहित शुद्ध-स्वभावरूप परिणमित हो वही जीवका धर्म है। तथा उत्तमक्षमादिक दस प्रकार कहनेका तात्पर्य यह है कि आत्मा क्रोधादि कषायरूप न होकर अपने स्वभावमें स्थिर हो वही धर्म है, यह भी शुद्ध चेतनारूप ही हुआ।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों एक ज्ञानचेतनाके ही परिणाम हैं, वही ज्ञानस्वभावरूप धर्म है। और जीवोंकी रक्षाका तात्पर्य यह है

कि—जीव क्रोधादि कषायोंके वश होकर अपनी या परकी पर्यायके विनाशरूप मरण तथा दुःख संक्लेश परिणाम न करे—ऐसा अपना स्वभाव ही धर्म है। इस प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकरूप निश्चयनयसे साधा हुआ धर्म एक ही प्रकार है।

व्यवहारनय पर्यायाश्रित है इसलिये भेदरूप है, व्यवहारनयसे विचार करें तो जीवके पर्यायरूप परिणाम अनेक प्रकार हैं इसलिये धर्मका भी अनेक प्रकारसे वर्णन किया है। वहाँ (१)–प्रयोजनवश एकदेशका सर्वदेशसे कथन किया जाये सो व्यवहार है, (२)–अन्य वस्तुमें अन्यका आरोपण अन्यके निमित्तसे और प्रयोजनवश किया जाये वह भी व्यवहार है, वहाँ वस्तुस्वभाव कहनेका तात्पर्य तो निर्विकार चेतनाके शुद्धपरिणामके साधकरूप (३)–मंदकषायरूप शुभ–परिणाम हैं तथा जो बाह्यक्रियाएँ हैं उन सभीको व्यवहारधर्म कहा जाता है। उसीप्रकार रत्नत्रयका तात्पर्य स्वरूपके भेद दर्शन–ज्ञान–चारित्र तथा उनके कारण बाह्य क्रियादिक हैं, उन सभीको व्यवहार धर्म कहा जाता है। उसीप्रकार–(४) जीवोंकी दया कहनेका तात्पर्य यह है कि—क्रोधादि मंदकषाय होनेसे अपने या परके मरण, दुःख, क्लेश आदि न करना; [1]—उसके साधक समस्त बाह्यक्रियादिको धर्म कहा जाता है। इस प्रकार जिनमतमें निश्चय–व्यवहारनयसे साधा हुआ धर्म कहा है।

वहाँ एकस्वरूप अनेकस्वरूप कहनेमें स्याद्वादसे विरोध नहीं आता, कथञ्चित् विवक्षासे सर्व प्रमाणसिद्ध है। ऐसे धर्मका मूल दर्शन कहा है, इसलिये ऐसे धर्मकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचिसहित आचरण करना ही दर्शन है, यह धर्मकी मूर्ति है, इसीको मत [दर्शन] कहते हैं और यही धर्मका मूल है। तथा ऐसे धर्मकी प्रथम श्रद्धा, प्रतीति, रुचि न हो तो धर्मका आचरण भी नहीं होता,—जैसे वृक्षके मूल बिना स्कंधादिक नहीं होते। इस प्रकार दर्शनको धर्मका मूल कहना युक्त है। ऐसे दर्शनका सिद्धान्तोंमें जैसा वर्णन है तदनुसार कुछ लिखते हैं।

वहाँ अंतरंग सम्यग्दर्शन तो जीवका भाव है वह निश्चय द्वारा उपाधिरहित शुद्ध जीवका साक्षात् अनुभव होना ऐसा एक प्रकार है। वह ऐसा अनुभव अनादिकालसे मिथ्यादर्शन नामक कर्मके उदयसे अन्यथा हो रहा है। सादि मिथ्यादृष्टिके

१ साधकरूप—सहचर हेतुरूप निमित्तमात्र; अंतरङ्ग कार्य हो तो बाह्यमें इस प्रकारको निमित्तकारण कहा जाता है।

उस मिथ्यात्वकी तीन प्रकृतियाँ सत्तामें होती हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृति। तथा उनकी सहकारिणी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के भेदसे चार कषाय नामक प्रकृतियाँ हैं। इसप्रकार यह सात प्रकृतियाँ ही सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली हैं; इसलिये इन सातोंका उपशम होनेसे पहले तो इस जीवके उपशमसम्यक्त्व होता है। इन प्रकृतियोंका उपशम होनेका बाह्य कारण सामान्यत: द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं, उनमें **द्रव्यमें** तो साक्षात् तीर्थंकरके देखनादि प्रधान हैं, **क्षेत्रमें** समवसरणादिक प्रधान हैं, **कालमें** अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार-भ्रमण शेष रहे वह तथा **भावमें** अध:प्रवृत्त करण आदिक हैं।

(सम्यक्त्वके बाह्य कारण) विशेषरूपसे तो अनेक हैं। उनमेंसे कुछके तो अरिहंत बिम्बका देखना, कुछके जिनेन्द्रके कल्याणक आदिकी महिमा देखना, कुछके जातिस्मरण, कुछके वेदना का अनुभव, कुछके धर्म श्रवण तथा कुछके देवोंकी ऋद्धिका देखना—इत्यादि बाह्य कारणों द्वारा मिथ्यात्वकर्मका उपशम होनेसे उपशमसम्यक्त्व होता है। तथा इन सात प्रकृतियोंमेंसे छहका तो उपशम या क्षय हो और एक सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो तब क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। इस प्रकृतिके उदयसे किंचित् अतिचार-मल लगता है। तथा इन सात प्रकृतियोंका सत्तामेंसे नाश हो तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

इस प्रकार उपशमादि होने पर जीवके परिणाम भेदसे तीन प्रकार होते हैं; वे परिणाम अति सूक्ष्म हैं, केवलज्ञानगम्य हैं, इसलिये इन प्रकृतियोंके द्रव्य पुद्गल-परमाणुओंके स्कंध हैं, वे अतिसूक्ष्म हैं और उनमें फल देनेकी शक्तिरूप अनुभाग है वह अतिसूक्ष्म है वह छद्मस्थके ज्ञानगम्य नहीं है। तथा उनका उपशमादिक होनेसे जीवके परिणाम भी सम्यक्त्वरूप होते हैं, वे भी अतिसूक्ष्म हैं, वे भी केवलज्ञानगम्य हैं। तथापि जीवके कुछ परिणाम छद्मस्थके ज्ञानमें आने योग्य होते हैं, वे उसे पहिचाननेके बाह्य-चिह्न हैं, उनकी परीक्षा करके निश्चय करनेका व्यवहार है; ऐसा न हो तो छद्मस्थ व्यवहारी जीवके सम्यक्त्वका निश्चय नहीं होगा और तब आस्तिक्यका अभाव सिद्ध होगा, व्यवहारका लोप होगा—यह महान दोष आयेगा। इसलिये बाह्य चिह्नोंको आगम, अनुमान तथा स्वानुभवसे परीक्षा करके निश्चय करना चाहिये।

वे चिह्न कौनसे हैं सो लिखते हैं:—मुख्य चिह्न तो उपाधिरहित शुद्ध ज्ञान-चेतनास्वरूप आत्माकी अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञानका विशेष है, तथापि वह

सम्यक्त्व होनेपर होती है, इसलिये उसे बाह्य चिह्न कहते हैं। ज्ञान तो अपना अपनेको स्वसंवेदनरूप है; उसका—रागादि विकार रहित शुद्धज्ञानमात्रका अपनेको आस्वाद होता है कि– "**जो यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूँ और ज्ञानमें जो रागादि विकार हैं वे कर्मके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है**"—**इसप्रकार भेदज्ञानसे ज्ञानमात्रके आस्वादनको ज्ञानकी अनुभूति कहते हैं, वही आत्माकी अनुभूति है,** तथा वही शुद्धनयका विषय है। ऐसी अनुभूतिसे शुद्धनयके द्वारा ऐसा भी श्रद्धान होता है कि सर्व कर्मजनित **रागादिक भावसे रहित अनंत चतुष्टय मेरा स्वरूप है, अन्य सब भाव संयोगजनित हैं; ऐसी आत्माकी अनुभूति सो सम्यक्त्वका मुख्य चिह्न है।** यह मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीके अभावसे सम्यक्त्व होता है उसका चिह्न है; उस चिह्नको ही सम्यक्त्व कहना सो व्यवहार है।

उसकी परीक्षा सर्वज्ञके आगम, अनुमान तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष प्रमाण इन प्रमाणोंसे की जाती है। इसीको निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहते हैं। वहाँ अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदनकी प्रधानतासे होती है और परकी परीक्षा तो परके अंतरंगमें होनेकी परीक्षा परके वचन, कायकी क्रियाकी परीक्षासे होती है यह व्यवहार है, परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं। व्यवहारी जीवको सर्वज्ञने भी व्यवहारके ही शरणका उपदेश दिया है।

[नोंध—अनुभूति ज्ञानगुणकी पर्याय है वह श्रद्धागुणसे भिन्न है इसलिये ज्ञानके द्वारा श्रद्धानका निर्णय करना व्यवहार है उसका नाम व्यवहारी जीवको व्यवहारका ही शरण अर्थात् आलम्बन समझना।]

अनेक लोग कहते हैं कि—सम्यक्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिये अपनेको सम्यक्त्व होनेका निश्चय नहीं होता, इसलिये अपनेको सम्यग्दृष्टि नहीं मान सकते? परन्तु इस प्रकार सर्वथा एकान्तसे कहना तो मिथ्यादृष्टि है; सर्वथा ऐसा कहने से व्यवहारका लोप होगा, सर्व मुनि–श्रावकोंकी प्रवृत्ति मिथ्यात्वरूप सिद्ध होगी, और सब अपनेको मिथ्यादृष्टि मानेंगे तो व्यवहार कहाँ रहेगा? इसलिये परीक्षा होने पश्चात् ऐसा श्रद्धान नहीं रखना चाहिये कि मैं मिथ्यादृष्टि ही हूँ। मिथ्यादृष्टि तो अन्यमतीको कहते हैं और उसीके समान स्वयं भी होगा इसलिये सर्वथा एकान्तपक्ष ग्रहण नहीं करना चाहिये। तथा तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिह्न है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा,

मोक्ष ऐसे सात तत्त्वार्थ हैं; उनमें पुण्य और पापको जोड़ देनेसे नव पदार्थ होते हैं। उनकी श्रद्धा अर्थात् सन्मुखता, रुचि अर्थात् तद्रूप भाव करना तथा प्रतीति अर्थात् जैसे सर्वज्ञने कहे हैं तदनुसार ही अङ्गीकार करना और उनके आचरणरूप क्रिया.—इसप्रकार श्रद्धानादिक होना सो सम्यक्त्वका बाह्य चिह्न है।

तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भी सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं। वहाँ (१) **प्रशमः**—अनंतानुबन्धी क्रोधादिक कषायके उदयका अभाव सो प्रशम है। उसके बाह्य चिह्न जैसे कि–सर्वथा एकान्त तत्त्वार्थका कथन करनेवाले अन्य मतोंका श्रद्धान, बाह्यवेशमें सत्यार्थपनेका अभिमान करना, पर्यायोंमें एकान्तके कारण आत्मबुद्धिसे अभिमान तथा प्रीति करना वह अनंतानुबन्धीका कार्य है—वह जिसके न हो, तथा किसीने अपना बुरा किया तो उसका घात करना आदि मिथ्यादृष्टिकी भाँति विकार–बुद्धि अपनेको उत्पन्न न हो, तथा वह ऐसा विचार करे कि मैंने अपने परिणामोंसे जो कर्म बाँधे थे वे ही बुरा करनेवाले हैं, अन्य तो निमित्तमात्र हैं,–ऐसी बुद्धि अपनेको उत्पन्न हो—ऐसे मंदकषाय है। तथा अनंतानुबन्धीके विना अन्य चारित्रमोहकी प्रकृतियोंके उदयसे आरम्भादिक क्रियामें हिंसादिक होते हैं उनको भी भला नहीं जानता इसलिये उससे प्रशमका अभाव नहीं कहते।

(२) **संवेगः**—धर्ममें और धर्मके फलमें परम उत्साह हो वह संवेग है। तथा साधर्मियोंसे अनुराग और परमेष्ठियोंमें प्रीति वह भी **संवेग** ही है। इस धर्ममें तथा धर्मके फलमें अनुरागको अभिलाष नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अभिलाष तो उसे कहते हैं जिसे इन्द्रियविषयोंकी चाह हो। अपने स्वरूपकी प्राप्तिमें अनुरागको अभिलाष नहीं कहते। तथा (३) **निर्वेगः**—इस संवेग ही में निर्वेद भी हुआ समझना, क्योंकि अपने स्वरूपरूप धर्मकी प्राप्तिमें अनुराग हुआ तब अन्यत्र सभी अभिलाषका त्याग हुआ, सर्व परद्रव्योंसे वैराग्य हुआ, वही निर्वेद है। तथा (४) **अनुकम्पाः**—सर्व प्राणियोंमें उपकारकी बुद्धि और मैत्रीभाव सो अनुकम्पा है। तथा मध्यस्थभाव होनेसे सम्यग्दृष्टिके शल्य नहीं है, किसीसे बैरभाव नहीं होता, सुख–दुःख, जीवन–मरण अपना परके द्वारा और परका अपने द्वारा नहीं मानता है। तथा परमें जो अनुकम्पा है सो अपनेमें ही है, इसलिये परका बुरा करनेका विचार करेगा तो अपने कषायभावसे स्वयं अपना ही बुरा हुआ; परका बुरा नहीं सोचेगा तब अपने कषायभाव नहीं होंगे इसलिये अपनी अनुकम्पा ही हुई। (५) **आस्तिक्यः**—जीवादि पदार्थोंमें अस्तितत्वभाव सो आस्तिक्यभाव

है। जीवादि पदार्थोंका स्वरूप सर्वज्ञके आगमसे जानकर उनमें ऐसी बुद्धि हो कि– जैसे सर्वज्ञने कहे वैसे ही यह हैं–अन्यथा नहीं हैं वह आस्तिक्य भाव है। इसप्रकार यह सम्यक्त्वके बाह्य चिह्न हैं।

सम्यक्त्वके आठ गुण हैं:—संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा। यह सब प्रशमादि चारमें ही आ जाते हैं संवेगमें निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति ये आ गये तथा प्रशममें निन्दा, गर्हा आ गई।

सम्यग्दर्शनके आठ अङ्ग कहे हैं। उन्हें लक्षण भी कहते हैं और गुण भी। उनके नाम हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रभावना।

वहाँ शङ्का नाम संशयका भी है और भयका भी। वहाँ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालाणुद्रव्य, परमाणु इत्यादि तो सूक्ष्मवस्तु हैं, तथा द्वीप, समुद्र, मेरुपर्वत आदि दूरवर्ती पदार्थ हैं, तथा तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि अंतरित पदार्थ हैं; वे सर्वज्ञके आगममें जैसे कहे हैं वैसे हैं या नहीं हैं? अथवा सर्वज्ञदेवने वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक कहा है सो सत्य है या असत्य?—ऐसे सन्देहको शङ्का कहते हैं। जिसके यह न हो उसे निःशङ्कित अङ्ग कहते हैं। तथा यह जो शङ्का होती है सो मिथ्यात्वकर्मके उदयसे [उदयमें युक्त होनेसे] होती है; परमें आत्मबुद्धि होना उसका कार्य है। जो परमें आत्मबुद्धि है सो पर्यायबुद्धि है और पर्यायबुद्धि भय भी उत्पन्न करती है। शंका भयको भी कहते हैं, उसके सात भेद हैं:—इस लोकका भय, परलोकका भय, मृत्युका भय, अरक्षाका भय, अगुप्तिका भय, वेदनाका भय, अकस्मात्का भय। जिसके यह भय हों उसे मिथ्यात्वकर्मका उदय समझना चाहिये; सम्यग्दृष्टि होने पर यह नहीं होते।

प्रश्नः—भय प्रकृतिका उदय तो आठवें गुणस्थान तक है; उसके निमित्तसे सम्यग्दृष्टिको भय होता ही है, फिर भयका अभाव कैसा?—**समाधान**—कि यद्यपि सम्यग्दृष्टिके चारित्रमोहके भेदरूप भय प्रकृतिके उदयसे भय होता है तथापि उसे निर्भय ही कहते हैं, क्योंकि उसके कर्मके उदयका स्वामित्व नहीं है और परद्रव्यके कारण अपने द्रव्यस्वभावका नाश नहीं मानता। पर्यायका स्वभाव विनाशीक मानता है इसलिये भय होने पर भी उसे निर्भय ही कहते हैं। भय होने पर उसका उपचार भागना इत्यादि करता है; वहाँ वर्तमानकी पीड़ा सहन न होनेसे वह इलाज (–उपचार)

करता है वह निर्बलताका दोष है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सन्देह तथा भयरहित होनेसे उसके **निःशङ्कित अङ्ग** होता है।। १ ।।

कांक्षा अर्थात् भोगोंकी इच्छा–अभिलाषा। वहाँ पूर्वकालमें किये भोगोंकी वांछा तथा उन भोगोंकी मुख्य क्रियामें वांछा तथा कर्म और कर्मके फलकी वांछा तथा मिथ्यादृष्टियोंके भोगोंकी प्राप्ति देखकर उन्हें अपने मनमें भला जानना अथवा जो इन्द्रियोंको न रुचें ऐसे विषयोंमें उद्वेग होना–यह भोगाभिलाषके चिह्न हैं। यह भोगाभिलाष मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होता है, और जिसके यह न हो वह निःकांक्षित अङ्ग-युक्त सम्यग्दृष्टि होता है। वह सम्यग्दृष्टि यद्यपि शुभक्रिया–व्रतादिक आचरण करता है और उसका फल शुभकर्मबन्ध है, किन्तु उसकी वह वांछा नहीं करता। व्रतादिकको स्वरूपका साधक जानकर उनका आचरण करता है, कर्मके फलकी वांछा नहीं करता।—ऐसा **निःकांक्षित अङ्ग** है।। २ ।।

अपनेमें अपने गुणकी महत्ताकी बुद्धिसे अपनेको श्रेष्ठ मानकर परमें हीनताकी बुद्धि हो उसे विचिकित्सा कहते हैं; वह जिसके न हो सो निर्विचिकित्सा अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। उसके चिह्न ऐसे हैं कि–यदि कोई पुरुष पापके उदयसे दुःखी हो, असाताके उदयसे ग्लानियुक्त शरीर हो तो उसमें ग्लानिबुद्धि नहीं करता। ऐसी बुद्धि नहीं करता कि–मैं सम्पदावान हूँ, सुन्दर शरीरवान हूं, यह दीन, रङ्क मेरी बराबरी नहीं कर सकता। उलटा ऐसा विचार करता है कि–प्राणियोंके कर्मोदयसे अनेक विचित्र अवस्थाएँ होती हैं। जब मेरे ऐसे कर्मका उदय आवे तब मैं भी ऐसा ही हो जाऊँ।–ऐसे विचारसे **निर्विचिकित्सा अङ्ग** होता है।। ३ ।।

अतत्त्वमें तत्त्वपनेका श्रद्धान सो **मूढदृष्टि** है। ऐसी मूढदृष्टि जिसके न हो सो अमूढदृष्टि है। मिथ्यादृष्टियों द्वारा मिथ्या हेतु एवं मिथ्या दृष्टान्तसे साधित पदार्थ है वह सम्यग्दृष्टिको प्रीति उत्पन्न नहीं कराते हैं तथा लौकिक रूढि अनेक प्रकारकी है, वह निःसार है, निःसार पुरुषों द्वारा ही उसका आचरण होता है, जो अनिष्ट फल देनेवाली है तथा जो निष्फल है; जिसका बुरा फल है तथा उसका कुछ हेतु नहीं है, कुछ अर्थ नहीं है; जो कुछ लोकरूढि चल पड़ती है उसे लोग अपना लेते हैं और फिर उसे छोड़ना कठिन हो जाता है–इत्यादि लोकरूढि है।

अदेवमें देवबुद्धि, अधर्ममें धर्मबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि इत्यादि देवादिक मूढ़ता है, वह कल्याणकारी नहीं है। सदोष देवको देव मानना, तथा उनके निमित्त हिंसादि

द्वारा अधर्मको धर्म मानना, तथा मिथ्या आचारवान, शल्यवान, परिग्रहवान सम्यक्त्व-व्रतरहितको गुरु मानना इत्यादि मूढदृष्टिके चिह्न हैं। अब, देव-धर्म-गुरु कैसे होते हैं, उनका स्वरूप जानना चाहिये, सो कहते हैं:—

रागादिक दोष और ज्ञानावरणादिक कर्म ही आवरण है; यह दोनों जिसके नहीं हैं वह देव है। उसके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य—ऐसे अनंत-चतुष्टय होते हैं। सामान्यरूपसे तो देव एक ही है और विशेषरूपसे अरहंत, सिद्ध ऐसे दो भेद हैं; तथा इनके नामभेदके भेदसे भेद करें तो हजारों नाम हैं। तथा गुणभेद किए जायें तो अनन्त गुण हैं। परमौदारिक देहमें विद्यमान घातियाकर्म रहित अनन्त चतुष्टयसहित धर्मका उपदेश करनेवाले ऐसे तो अरिहंतदेव हैं तथा पुद्गलमयी देहसे रहित लोकके शिखर पर विराजमान सम्यक्त्वादि अष्टगुणमंडित अष्टकर्मरहित ऐसे सिद्ध देव हैं। इनके अनेकों नाम हैं:—अरहंत, जिन, सिद्ध, परमात्मा, महादेव, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, हरि, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग परमात्मा इत्यादि अर्थ सहित अनेक नाम हैं;—ऐसा देवका स्वरूप जानना।

गुरुका भी अर्थसे विचार करें तो अरिहंतदेव ही हैं, क्योंकि मोक्षमार्गका उपदेश करनेवाले अरिहंत ही हैं, वे ही साक्षात् मोक्षमार्गका प्रवर्तन कराते हैं, तथा अरिहंतके पश्चात् छद्मस्थ ज्ञानके धारक उन्हींका निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप धारण करनेवाले मुनि हैं सो गुरु हैं, क्योंकि अरिहंतकी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकदेश शुद्धता उनके पायी जाती है और वे ही संवर-निर्जरा-मोक्षका कारण हैं, इसलिये अरिहंतकी भाँति एक-देशरूपसे निर्दोष हैं वे मुनि भी गुरु हैं, मोक्षमार्गका उपदेश करनेवाले हैं।

ऐसा मुनिपना सामान्यरूपसे एक प्रकारका है और विशेषरूपसे वही तीन प्रकार-का है—आचार्य, उपाध्याय, साधु। इस प्रकार यह पदवीकी विशेषता होने पर भी उनके मुनिपनेकी क्रिया समान ही है; बाह्य लिंग भी समान है, पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, तीन गुप्ति—ऐसे तेरह प्रकारका चारित्र भी समान ही है, तप भी शक्ति अनुसार समान ही है, साम्यभाव भी समान है, मूलगुण उत्तरगुण भी समान हैं, परिषह उपसर्गोंका सहना भी समान है, आहारादिकी विधि भी समान है, चर्या, स्थान, आसनादि भी समान हैं, मोक्षमार्गकी साधना, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र भी समान हैं। ध्याता, ध्यान, ध्येयपना भी समान है, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयपना भी समान हैं, चार आराधनाकी आराधना, क्रोधादिक कषायोंका जीतना इत्यादि मुनियोंकी प्रवृत्ति है वह सब समान है।

विशेष यह है कि–जो आचार्य हैं वे पञ्चाचार अन्यको ग्रहण कराते हैं, तथा अन्यको दोष लगे तो उसके प्रायश्चित्तकी विधि बतलाते हैं, धर्मोपदेश, दीक्षा, शिक्षा देते हैं;–ऐसे आचार्य गुरुवन्दना करने योग्य हैं।

जो उपाध्याय हैं वे वादित्व, वाग्मित्व, कवित्व–गमकत्व–इन चार विद्याओंमें प्रवीण होते हैं; उसमें शास्त्रका अभ्यास प्रधान कारण है। जो स्वयं शास्त्र पढ़ते हैं और अन्यको पढ़ाते हैं ऐसे उपाध्याय गुरु वन्दन योग्य हैं; उनके अन्य मुनिव्रत, मूलगुण, उत्तरगुणकी क्रिया आचार्यसमान ही होती है। तथा साधु रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गकी साधना करते हैं; सो साधु हैं; उनके दीक्षा, शिक्षा, उपदेशादि देनेकी प्रधानता नहीं है, वे तो अपने स्वरूपकी साधनामें ही तत्पर होते हैं; जिनागममें जैसी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिकी प्रवृत्ति कही है वैसी सभी प्रवृत्ति उनके होती है–ऐसे साधु वंदनाके योग्य हैं। अन्यलिंगी–वेषी व्रतादिकसे रहित परिग्रहवान, विषयोंमें आसक्त गुरु नाम धारण करते हैं वे वन्दन योग्य नहीं हैं।

इस पञ्चमकालमें जिनमतमें भी भेषी हुए हैं। वे श्वेताम्बर, यापनीयसंघ, गोपुच्छपिच्छसंघ, निःपिच्छसंघ, द्राविड़संघ आदि अनेक हुये हैं; यह सब वन्दन योग्य नहीं हैं। मूलसंघ, नग्नदिगम्बर, अट्ठाईस मूलगुणोंके धारक, दयाके और शौचके उपकरण मयूरपिच्छक, कमण्डल धारण करनेवाले, यथोक्त विधि आहर करनेवाले गुरु वन्दन योग्य हैं, क्योंकि जब तीर्थंकर देव दीक्षा लेते हैं तब ऐसा ही रूप धारण करते हैं अन्य भेष धारण नहीं करते; इसीको जिनदर्शन कहते हैं।

धर्म उसे कहते हैं जो जीवको संसारके दुःखरूप नीच पदसे मोक्षके सुखरूप उच्च पदमें धारण करे;–ऐसा धर्म मुनि–श्रावकके भेदसे, दर्शन–ज्ञान–चारित्रात्मक एकदेश सर्वदेशरूप निश्चय–व्यवहार द्वारा दो प्रकार कहा है; उसका मूल सम्यग्दर्शन है; उसके बिना धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार देव–गुरु–धर्म तथा लोकमें यथार्थ दृष्टि हो और मूढ़ता न हो सो **अमूढ़दृष्टि अङ्ग** है ॥४॥

अपने आत्माकी शक्तिको बढ़ाना सो उपबृंहण अङ्ग है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रको अपने पुरुषार्थ द्वारा बढ़ाना ही **उपबृंहण** है। इसे **उपगूहन** भी कहते हैं। उसका ऐसा अर्थ जानना चाहिये कि जिनमार्ग स्वयंसिद्ध है; उसमें बालकके तथा असमर्थ जनके आश्रयसे जो न्यूनता हो उसे अपनी बुद्धिसे गुप्त कर दूर ही करे वह **उपगूहन अंग** है ॥५॥

जो धर्मसे च्युत होता हो उसे दृढ़ करना सो स्थितिकरण अङ्ग है। स्वयं कर्मउदयके वश होकर कदाचित् श्रद्धान्से तथा क्रिया-आचारसे च्युत होता हो तो अपनेको पुरुषार्थपूर्वक पुनः श्रद्धान्में दृढ़ करे, उसीप्रकार अन्य कोई धर्मात्मा धर्मसे च्युत होता हो तो उसे उपदेशादिक द्वारा धर्ममें स्थापित करे—वह **स्थितिकरण अंग** है ॥६॥

अरिहंत, सिद्ध, उनके बिम्ब, चैत्यालय चतुर्विध संघ और शास्त्रमें दासत्व हो—जैसे स्वामीका भृत्य दास होता है तदनुसार—वह **वात्सल्य अंग** है। धर्मके स्थानकों पर उपसर्गादि आयें उन्हें अपनी शक्ति अनुसार दूर करे, अपनी शक्तिको न छिपाये;—यह सब धर्ममें अति प्रीति हो तब होता है ॥७॥

धर्मका उद्योत करना सो प्रभावना अंग है। रत्नत्रय द्वारा अपने आत्माका उद्योत करना तथा दान, तप, पूजा-विधान द्वारा एवं विद्या, अतिशय—चमत्कारादि द्वारा जिनधर्मका उद्योत करना वह **प्रभावना अंग** है ॥८॥

—इसप्रकार यह सम्यक्त्वके आठ अंग हैं; जिसके यह प्रगट हों उसके सम्यक्त्व है ऐसा जानना चाहिये। **प्रश्न**—यदि यह सम्यक्त्वके चिह्न मिथ्यादृष्टिके भी दिखाई दें तो सम्यक्-मिथ्याका विभाग कैसे होगा ? **समाधान**—जैसे सम्यक्त्वीके होते हैं वैसे मिथ्यात्वीके तो कदापि नहीं होते, तथापि अपरीक्षकको समान दिखाई दें तो परीक्षा करके भेद जाना जा सकता है। परीक्षामें अपना स्वानुभव प्रधान है। सर्वज्ञके आगममें जैसा आत्माका अनुभव होना कहा है वैसा स्वयंको हो तो उसके होनेसे अपनी वचन कायकी प्रवृत्ति भी तदनुसार होती है, उस प्रवृत्तिके अनुसार अन्यकी भी वचन कायकी प्रवृत्ति पहचानी जाती है;—इसप्रकार परीक्षा करनेसे विभाग होते हैं। तथा यह व्यवहार मार्ग है, इसलिये व्यवहारी छद्मस्थ जीवोंके अपने ज्ञानके अनुसार प्रवृत्ति है; यथार्थ सर्वज्ञदेव जानते हैं। व्यवहारीको सर्वज्ञदेवने व्यवहारका ही आश्रय बतलाया है*। यह अन्तरंग सम्यक्त्वभावरूप सम्यक्त्व है वही सम्यग्दर्शन है, बाह्यदर्शन, व्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र और तपसहित अट्ठाईस मूलगुण सहित नग्न दिगम्बर मुद्रा

---

* स्वात्मानुभूति ज्ञानगुणकी पर्याय है, ज्ञानके द्वारा सम्यक्त्वका निर्णय करना उसका नाम व्यवहारीको व्यवहारका आश्रय समझना, किन्तु भेदरूप व्यवहारके आश्रयसे वीतराग अंशरूप धर्म होगा ऐसा अर्थ कहीं पर नहीं समझना।

उसकी मूर्ति है, उसे जिनदर्शन कहते हैं। इसप्रकार धर्मका मूल **सम्यग्दर्शन** जानकर जो सम्यग्दर्शनरहित हैं उनके वंदन–पूजनका निषेध किया है।–ऐसा यह उपदेश भव्य जीवोंको अंगीकार करने योग्य है ॥२॥

अब कहते हैं कि—अन्तरंगसम्यग्दर्शन बिना बाह्यचारित्रसे निर्वाण नहीं होताः—

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति॥ ३ ॥

दर्शनभ्रष्टाः भ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम्।
सिध्यन्ति चारित्रभ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टाः न सिध्यन्ति ॥३॥

अर्थः—जो पुरुष दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं; जो दर्शनसे भ्रष्ट हैं उनको निर्वाण नहीं होता; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्रसे भ्रष्ट हैं वे तो सिद्धिको प्राप्त होते हैं परन्तु जो दर्शनभ्रष्ट हैं वे सिद्धिको प्राप्त नहीं होते।

भावार्थः—जो जिनमतकी श्रद्धासे भ्रष्ट हैं उन्हें भ्रष्ट कहते हैं; और जो श्रद्धासे भ्रष्ट नहीं हैं, किन्तु कदाचित् कर्मके उदयसे चारित्रभ्रष्ट हुये हैं उन्हें भ्रष्ट नहीं कहते; क्योंकि जो दर्शनसे भ्रष्ट हैं उन्हें निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती; जो चारित्रसे भ्रष्ट होते हैं और श्रद्धानदृढ़ रहते हैं उनके तो शीघ्र ही पुनः चारित्रका ग्रहण होता है और मोक्ष होता है तथा दर्शन श्रद्धासे भ्रष्ट होय उसीके फिर चारित्रका ग्रहण कठिन होता है, इसलिये निर्वाणकी प्राप्ति दुर्लभ होती है। जैसे—वृक्षकी शाखा आदि कट जायें और जड़ बनी रहे तो शाखा आदि शीघ्र ही पुनः उग आयेंगे और फल लगेंगे, किन्तु जड़ उखड़ जाने पर शाखा आदि कैसे होंगे? उसीप्रकार धर्मका मूल दर्शन जानना ॥३॥

अब, जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं और शास्त्रोंको अनेक प्रकारसे जानते हैं तथापि संसारमें भटकते हैं;–ऐसे ज्ञानसे भी दर्शनको अधिक कहते हैंः—

दृग्भ्रष्ट जीवो भ्रष्ट छे, दृग्भ्रष्टनो नहि मोक्ष छे।
चारित्रभ्रष्ट मुकाय छे दृग्भ्रष्ट नहि मुक्ति लहे ॥३॥

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टाः जानंतो बहुविधानि शास्त्राणि ।
आराधना विरहिताः भ्रमंति तत्रैव तत्रैव ॥ ४ ॥

अर्थः—जो पुरुष सम्यक्त्वरूप रत्नसे भ्रष्ट हैं तथा अनेक प्रकारके शास्त्रोंको जानते हैं, तथापि वह आराधनासे रहित होते हुए संसारमें ही भ्रमण करते हैं। दो बार कहकर बहुत परिभ्रमण बतलाया है।

भावार्थः—जो जिनमतकी श्रद्धासे भ्रष्ट हैं और शब्द, न्याय, छन्द, अलंकार आदि अनेक प्रकारके शास्त्रोंको जानते हैं तथापि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपरूप आराधना उनके नहीं होती; इसलिये कुमरणसे चतुर्गतिरूप संसारमें ही भ्रमण करते हैं—मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते; इसलिये सम्यक्त्वरहित ज्ञानकी आराधना नाम नहीं देते।

अब कहते हैं कि—जो तप भी करते हैं और सम्यक्त्वरहित होते हैं उन्हें स्वरूपका लाभ नहीं होताः—

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥ ५ ॥

सम्यक्त्वविरहिता णं सुष्ठु अपि उग्रं तपः चरंतो णं ।
न लभन्ते बोधिलाभं अपि वर्षसहस्रकोटिभिः ॥ ५ ॥

अर्थः—जो पुरुष सम्यक्त्वसे रहित हैं वे सुष्ठु अर्थात् भलीभाँति उग्र तपका आचरण करते हैं तथापि वे बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय जो अपना स्वरूप है उसका लाभ प्राप्त नहीं करते; यदि हजार कोटि वर्ष तक तप करते रहें तब भी

सम्यक्त्वरत्नविहीन जाणे शास्त्र बहुविधने भले।
पण शून्य छे आराधनाथी तेथी त्यां ने त्यां भमे॥ ४॥
सम्यक्त्व विण जीवो भले तप उग्र सुष्ठु आचरे।
पण लक्ष कोटि वर्षमांये बोधिलाभ नहीं लहे॥ ५॥

स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती। यहाँ गाथामें दो स्थानों पर 'णं' शब्द है वह प्राकृतमें अव्यय है, उसका अर्थ वाक्यका अलंकार है।

भावार्थः—सम्यक्त्वके बिना हजार कोटि वर्ष तप करने पर भी मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती। यहाँ हजार कोटि कहनेका तात्पर्य उतने ही वर्ष नहीं समझना, किन्तु कालका बहुतपना बतलाया है। तप मनुष्य पर्यायमें ही होता है, इसलिये मनुष्यकाल भी थोड़ा है, इसलिये तपका तात्पर्य यह वर्ष भी बहुत कहे हैं ॥५॥

—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्वके बिना चारित्र, तपको निष्फल कहा है। अब सम्यक्त्व सहित सभी प्रवृत्ति सफल है—ऐसा कहते हैं:—

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥ ६ ॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्यवर्द्धमानाः ये सर्वे।
कलिकलुषपापरहिताः वरज्ञानिनः भवंति अचिरेण ॥६॥

अर्थः—जो पुरुष सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, बल, वीर्यसे वर्द्धमान हैं अथा कलिकलुष-पाप अर्थात् इस पञ्चमकालके मलिन पापसे रहित हैं वे सभी अलपकालमें वरज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं।

भावार्थः—इस पंचमकालमें जड़-वक्र जीवोंके निमित्तसे यथार्थ मार्ग अपभ्रंश हुआ है। उसकी वासनासे जो जीव रहित हुए वे यथार्थ जिनमार्गके श्रद्धानरूप सम्यक्त्वसहित ज्ञान-दर्शनके अपने पराक्रम-बलको न छिपाकर तथा अपने वीर्य अर्थात् शक्तिसे वर्द्धमान होते हुए प्रवर्तते हैं, वे अल्पकालमें ही केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥६॥

अब कहते हैं कि—सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह आत्माको कर्मरज नहीं लगने देता:—

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बन्धुच्चिय णासए तस्स ॥ ७ ॥

सम्यक्त्व-दर्शन-ज्ञान-बल-वीर्ये अहो! वधता रहे।
कलिमलरहित जे जीव, ते वरज्ञानने अचिरे लहे ॥ ६ ॥

सम्यक्त्वनीरप्रवाह जेना हृदयमां नित्ये वहे।
तस बद्धकर्मो वालुका-आवरण सम क्षयने लहे ॥ ७ ॥

सम्यक्त्वसलिलप्रवाहः नित्यं हृदये प्रवर्त्तते यस्य।
कर्म वालुकावरणं बद्धमपि नश्यति तस्य ॥७॥

अर्थः—जिस पुरुषके हृदयमें सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह निरन्तर प्रवर्त्तमान है उसके कर्मरूपी रज–धूलका आवरण नहीं लगता, तथा पूर्वकालमें जो कर्मबंध हुआ हो वह भी नाशको प्राप्त होता है।

भावार्थः—सम्यक्त्वसहित पुरुषको (निरन्तर ज्ञानचेतनाके स्वामित्वरूप परिणमन है इसलिये) कर्मके उदयसे हुए रागादिक भावोंका स्वामित्व नहीं होता, इसलिये कषायोंकी तीव्र कलुषतासे रहित परिणाम उज्ज्वल होते हैं; उसे जलकी उपमा है। जैसे—जहाँ निरन्तर जलका प्रवाह बहता है वहाँ बालू–रेत–रज नहीं लगती; वैसे ही सम्यक्त्वी जीव कर्मके उदयको भोगता हुआ भी कर्मसे लिप्त नहीं होता। तथा ब्राह्य व्यवहारकी अपेक्षासे ऐसा भी तात्पर्य जानना चाहिये कि—जिसके हृदयमें निरन्तर सम्यक्त्वरूपी जलका प्रवाह बहता है वह सम्यक्त्वी पुरुष इस कलिकाल सम्बन्धी वासना अर्थात् कुदेव–कुशास्त्र–कुगुरुको नमस्कारादिरूप अतिचार-रूप रज भी नहीं लगाता, तथा उसके मिथ्यात्व सम्बन्धी प्रकृतियोंका आगामी बंध भी नहीं होता ॥८॥

अब कहते हैं कि—जो दर्शनभ्रष्ट हैं तथा ज्ञानचारित्रसे भ्रष्ट हैं वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही परन्तु दूसरोंको भी भ्रष्ट करते हैं,—यह अनर्थ है :—

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठ वि भट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ॥८॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः ज्ञाने भ्रष्टाः चारित्र भ्रष्टाः च।
एते भ्रष्टात् अपि भ्रष्टाः शेषं अपि जनं विनाशयंति ॥८॥

अर्थः—जो पुरुष दर्शनमें भ्रष्ट हैं तथा ज्ञान–चारित्रमें भी भ्रष्ट हैं वे पुरुष भ्रष्टोंमें भी विशेष भ्रष्ट हैं। कई तो दर्शन सहित हैं किन्तु ज्ञान–चारित्र उनके नहीं है, तथा कई अंतरंग दर्शनसे भ्रष्ट हैं तथापि ज्ञान–चारित्रका भलीभाँति पालन करते हैं; और जो दर्शन–ज्ञान–चारित्र इन तीनोंसे भ्रष्ट हैं वे तो अत्यन्त भ्रष्ट हैं; वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही परन्तु शेष अर्थात् अपने अतिरिक्त अन्य जनोंको भी नष्ट करते हैं।

दृग्भ्रष्ट, ज्ञाने भ्रष्ट ने चारित्रमां छे भ्रष्ट जे।
ते भ्रष्टथी पण भ्रष्ट छे ने नाश अन्य तणो करे ॥८॥

भावार्थः—यहाँ सामान्य वचन है इसलिये ऐसा भी आशय सूचित करता है कि सत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र तो दूर ही रहा, जो अपने मतकी श्रद्धा, ज्ञान, आचरणसे भी भ्रष्ट हैं वे तो निरर्गल स्वेच्छाचारी हैं। वे स्वयं भ्रष्ट हैं उसी प्रकार अन्य लोगोंको उपदेशादिक द्वारा भ्रष्ट करते हैं, तथा उनकी प्रवृत्ति देखकर लोग स्वयमेव भ्रष्ट होते हैं, इसलिये ऐसे तीव्रकषायी निषिद्ध हैं; उनकी संगति करना भी उचित नहीं है ॥ ८ ॥

अब कहते हैं कि—ऐसे भ्रष्ट पुरुष स्वयं भ्रष्ट हैं, वे धर्मात्मा पुरुषोंको दोष लगाकर भ्रष्ट बतलाते हैंः—

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोगगुणधारी।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति ॥ ९ ॥

यः कोऽपि धर्मशीलः संयमतपोनियमयोगगुणधारी।
तस्य च दोषान् कथयंतः भग्गा भग्नत्वं ददति ॥ ९ ॥

अर्थः—जो पुरुष धर्मशील अर्थात् अपने स्वरूपरूप धर्मको साधनेका जिसका स्वभाव है, तथा **संयम** अर्थात् इन्द्रिय-मनका निग्रह और षट्कायके जीवोंकी रक्षा, तप अर्थात् बाह्याभ्यंतर भेदकी अपेक्षासे बाहर प्रकारके तप, **नियम** अर्थात् आवश्यकादि नित्यकर्म, **योग** अर्थात् समाधि, ध्यान तथा वर्षाकाल आदि कालयोग, **गुण** अर्थात् मूलगुण, उत्तरगुण-इनका धारण करनेवाला है उसे कई मतभ्रष्ट जीव दोषोंका आरोपण करके कहते हैं कि—यह भ्रष्ट है, दोषयुक्त है, वे पापात्मा जीव स्वयं भ्रष्ट हैं इसलिये अपने अभिमानकी पुष्टि के लिये अन्य धर्मात्मा पुरुषोंको भ्रष्टपना देते हैं।

भावार्थः—पापियोंका ऐसा ही स्वभाव होता है कि स्वयं पापी हैं उसीप्रकार धर्मात्मामें दोष बतलाकर अपने समान बनाना चाहते हैं। ऐसे पापियोंकी संगति नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

अब, कहते हैं कि—जो दर्शन भ्रष्ट है वह मूलभ्रष्ट है, उसको फलकी प्राप्ति नहीं होतीः—

जे धर्मशील, संयम-नियम-तप-योग-गुण धरनार छे।
तेनाय भाखी दोष, भ्रष्ट मनुष्य दे भ्रष्टत्वने। ९

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी ।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥ १० ॥

यथा मूले विनष्टे द्रुमस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः ।
तथा जिनदर्शनभ्रष्टाः मूलविनष्टाः न सिद्धयन्ति ॥ १० ॥

अर्थः—जिसप्रकार वृक्षका मूल विनष्ट होने पर उसके परिवार अर्थात् स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प, फलकी वृद्धि नहीं होती, उसीप्रकार जो जिनदर्शनसे भ्रष्ट हैं—बाह्यमें तो नग्न–दिगम्बर यथाजातरूप निर्ग्रन्थ लिंग, मूलगुणका धारण, मयूर पिच्छिका की पींछी तथा कमंडल धारण करना, यथाविधि दोष टालकर खड़े-खड़े शुद्ध आहार लेना–इत्यादि बाह्य शुद्ध वेष धारण करते हैं, तथा अन्तरंगमें जीवादि छह द्रव्य, नव-पदार्थ, सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान एवं भेदविज्ञानसे आत्मस्वरूपका अनुभवन–ऐसे दर्शन–मतसे बाह्य हैं वे मूलविनष्ट हैं, उनके सिद्धि नहीं होती, वे मोक्षफलको प्राप्त नहीं करते ।

अब कहते हैं कि–जिनदर्शन ही मूल मोक्षमार्ग है:—

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ ।
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥ ११ ॥

यथा मूलात् स्कंधः शाखापरिवारः बहुगुणः भवति ।
तथा जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं मोक्षमार्गस्य ॥ ११ ॥

अर्थः—जिसप्रकार वृक्षके मूलसे स्कंध होते हैं; कैसे स्कंध होते हैं कि–जिनके शाखा आदि परिवार बहुत गुण हैं । यहाँ गुण शब्द बहुतका वाचक है: उसीप्रकार गणधर देवादिकने जिनदर्शनको मोक्षमार्गका मूल कहा है ।

भावार्थः—यहाँ जिनदर्शन अर्थात् तीर्थंकर परमदेवने जो दर्शन ग्रहण किया उनीका उपदेश दिया है वह मूलसंघ है; वह अट्ठाईस मूलगुण सहित कहा है । पाँच

ज्यम मूलनाशे वृक्षना परिवारनो वृद्धि नहीं ।
जिनदर्शनात्मक मूल होय विनष्ट तो सिद्धि नहीं ॥ १० ॥

ज्यम मूल द्वारा स्कंध ने शाखादि बहुगुण थाय छे ।
त्यम मोक्षपथनुं मूल जिनदर्शन कह्युं जिनशासने ॥ ११ ॥

महाव्रत, पाँच समिति, छह आवश्यक, पाँच इन्द्रियोंको वशमें करना, स्नान नहीं करना, भूमिशयन, वस्त्रादिकका त्याग अर्थात् दिगम्बर मुद्रा, केशलोंच करना, एकबार भोजन करना, खड़े खड़े आहार लेना, दंतधावन न करना—यह अट्ठाईस मूलगुण हैं। तथा छियालीस दोष टालकर आहार करना वह एषणा समितिमें आ गया। ईर्यापथ—देखकर चलना वह ईर्या समितिमें आ गया। तथा दयाका उपकरण मोरपुच्छ की पींछी और शौचका उपकरण कमंडल धारण करना—ऐसा बाह्य वेष है। तथा अन्तरंगमें जीवादिक षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थोंको यथोक्त जानकर श्रद्धान करना और भेदविज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूपका चिंतवन करना, अनुभव करना ऐसा दर्शन अर्थात् मत वह मूलसंघका है। ऐसा जिनदर्शन है वह मोक्षमार्गका मूल है; इस मूलसे मोक्षमार्गकी सर्व प्रवृत्ति सफल होती है। तथा जो इससे भ्रष्ट हुए हैं वे इस पंचमकालके दोषसे जैनाभास हुए हैं वे श्वेताम्बर, द्राविड़, यापनीय, गोपुच्छ-पिच्छ, निपिच्छ—पाँच संघ हुए हैं; उन्होंने सूत्र सिद्धान्त अपभ्रंश किये हैं। जिन्होंने बाह्य वेषको बदलकर आचरणको बिगाड़ा है वे जिनमतके मूलसंघसे भ्रष्ट हैं, उनको मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं है। मोक्षमार्गकी प्राप्ति मूलसंघके श्रद्धान—ज्ञान—आचरण ही से है ऐसा नियम जानना ॥ ११ ॥

आगे कहते हैं कि जो यथार्थ दर्शनसे भ्रष्ट हैं और दर्शनके धारकोंसे अपनी विनय कराना चाहते हैं वे दुर्गति प्राप्त करते हैं:—

जे[1] दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः पादयोः पातयंति दर्शनधरान् ।
ते भवंति लल्लमूकाः बोधिः पुनः दुर्लभा तेषाम् ॥ १२ ॥

---

[1] मुद्रित संस्कृत सटीक प्रतिमें इस गाथाका पूर्वार्द्ध इस प्रकार है जिसका यह अर्थ है कि—"जो दर्शन-भ्रष्ट पुरुष दर्शनधारियोंके चरणोंमें नहीं गिरते हैं"—

"जे दंसणेसु भट्ठा पाए न पडंति दंसणधराणं"—
उत्तरार्ध समान है।

दृग्भ्रष्ट जे निज पाय पाडे दृष्टिना धरनारने ।
ते थाय मूंगा, अंडभाषी, बोधि दुर्लभ तेमने ॥ १२ ॥

अर्थ:—जो पुरुष दर्शनमें भ्रष्ट हैं तथा अन्य जो दर्शनके धारक हैं उन्हें अपने पैरों पड़ाते हैं, नमस्कारादि कराते हैं वे परभवमें लूले, मूक होते हैं, और उनके बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्राप्ति दुर्लभ होती है।

भावार्थ:—जो दर्शन भ्रष्ट हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और दर्शनके धारक हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं; जो मिथ्यादृष्टि होकर सम्यग्दृष्टियोंसे नमस्कार चाहते हैं वे तीव्र मिथ्यात्वके उदय सहित हैं, वे परभवमें लूले, मूक होते हैं अर्थात् एकेन्द्रिय होते हैं, उनके पैर नहीं होते, वे परमार्थतः लूले, मूक हैं; इसप्रकार एकेन्द्रिय-स्थावर होकर निगोदमें वास करते हैं वहाँ अनन्तकाल रहते हैं; उनके दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्राप्ति दुर्लभ होती है; मिथ्यात्वका फल निगोद ही कहा है। इस पंचम कालमें मिथ्यामतके आचार्य बनकर लोगोंसे विनयादिक पूजा चाहते हैं उनके लिये मालूम होता है कि त्रसराशिका काल पूरा हुआ, अब एकेन्द्रिय होकर निगोदमें वास करेंगे—इस प्रकार जाना जाता है।

आगे कहते हैं कि जो दर्शन भ्रष्ट हैं उनके लज्जादिकसे भी पैरों पड़ते हैं वे भी उन्हीं जैसे ही हैं:—

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं ॥ १३ ॥

येऽपि पतन्ति च तेषां जानंतः लज्जागारवभयेन ।
तेषामपि नास्ति बोधिः पापं अनुमन्यमानानाम् ॥ १३ ॥

अर्थ:—जो पुरुष दर्शन सहित हैं वे भी, जो दर्शन भ्रष्ट हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी उनके पैरों पड़ते हैं, उनकी लज्जा, भय, गारवसे विनयादि करते हैं उनके भी बोधि अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्राप्ति नहीं है, क्योंकि वे भी मिथ्यात्व जो कि पाप है उसका अनुमोदन करते हैं। करना, कराना, अनुमोदन करना समान कहे हैं। यहाँ लज्जा तो इस प्रकार है कि—हम किसीकी विनय नहीं करेंगे तो लोग कहेंगे यह उद्धत हैं, मानी हैं, इसलिये हमें तो सर्वका साधन करना है। इसप्रकार लज्जासे दर्शनभ्रष्टके भी विनयादिक करते हैं। तथा भय इसप्रकार है कि—यह राज्य

वणी जाणीने पण तेमने गारव-शरम-भयथी नमे ।
तेनेय बोधि-अभाव छे पापानुमोदन होईने ॥ १३ ॥

मान्य है और मंत्र विद्यादिककी सामर्थ्ययुक्त है, इसकी विनय नहीं करेंगे तो कुछ हमारे ऊपर उपद्रव करेगा; इस प्रकार भयसे विनय करते हैं। तथा गारव तीन प्रकार कहा है; रसगारव, ऋद्धिगारव, सातगारव। वहाँ रसगारव तो ऐसा है कि–मिष्ट, इष्ट, पुष्ट, भोजनादि मिलता रहे तब उससे प्रमादी रहता है; तथा ऋद्धिगारव ऐसा है कि कुछ तपके प्रभाव आदि से ऋद्धिकी प्राप्ति हो उसका गौरव आ जाता है, उससे उद्धत, प्रमादी रहता है। तथा सातगारव ऐसा कि शरीर निरोग हो, कुछ क्लेशका कारण न आये तब सुखीपना आ जाता है, उससे मग्न रहते हैं–इत्यादिक गारवभावकी मस्तीसे भले–बुरेका कुछ विचार नहीं करता तब दर्शनभ्रष्टकी भी विनय करने लग जाता है। इत्यादि निमित्तसे दर्शनभ्रष्टकी विनय करे तो उसमें मिथ्यात्वका अनुमोदन आता है; उसे भला जाने तो आप भी उसी समान हुआ, तब उसके बोधि कैसे कही जाये? ऐसा जानना ॥१३॥

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होदि ॥१४॥

द्विविधः अपि ग्रन्थत्यागः त्रिषु अपि योगेषु संयमः तिष्ठति।
ज्ञाने करणशुद्धे उद्भोजने दर्शनं भवति ॥१४॥

अर्थः—जहाँ बाह्याभ्यंतर भेदसे दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग हो और मन–वचन–काय ऐसे तीनों योगोंमें संयम हो तथा कृत–कारित–अनुमोदना ऐसे तीन करण जिसमें शुद्ध हों वह ज्ञान हो, तथा निर्दोष जिसमें कृत, कारित, अनुमोदना अपनेको न लगे ऐसा, खड़े रहकर पाणिपात्रमें आहार करे, इसप्रकार मूर्तिमन्त दर्शन होता है।

भावार्थः—यहाँ दर्शन अर्थात् मत है; वहाँ बाह्य वेश शुद्ध दिखाई दे वह दर्शन; वही उसके अंतरङ्गभावको बतलाता है। वहाँ बाह्य परिग्रह अर्थात् धन–धान्यादिक और अंतरङ्ग परिग्रह मिथ्यात्व–कषायादिक, वे जहाँ नहीं हों, यथाजात दिगम्बर मूर्ति हो, तथा इन्द्रिय–मनको वशमें करना, त्रस–स्थावर जीवोंकी दया करना, ऐसे संयमका मन–वचन–काय द्वारा शुद्ध पालन हो और ज्ञानमें विकार करना, कराना,

---

ज्यां ज्ञान ने संयम त्रियोगे, उभयपरिग्रहत्याग छे।
जे शुद्ध स्थितिभोजन करे, दर्शन तदाश्रित होय छे ॥१४॥

अनुमोदन करना–ऐसे तीन करणोंसे विकार न हो और निर्दोष पाणिपात्रमें खड़े रहकर आहार लेना इस प्रकार दर्शनकी मूर्ति है वह जिनदेवका मत है, वही वंदन–पूजन योग्य है, अन्य पाखंड वेष वंदना–पूजा योग्य नहीं है ।। १४ ।।

आगे कहते हैं कि—इस सम्यग्दर्शनसे ही कल्याण–अकल्याणका निश्चय होता है:—

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी ।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥ १५ ॥

सम्यक्त्वात् ज्ञानं ज्ञानात् सर्वभावोपलब्धिः ।
उपलब्धपदार्थे पुनः श्रेयोऽश्रेयो विजानाति ।। १५ ।।

अर्थः—सम्यक्त्वसे तो ज्ञान सम्यक् होता है; तथा सम्यक्ज्ञानसे सर्व पदार्थोंकी उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति अर्थात् जानना होता है; तथा पदार्थोंकी उपलब्धि होनेसे श्रेय अर्थात् कल्याण अश्रेय अर्थात् अकल्याण इन दोनोंको जाना जाता है ।

भावार्थः—सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहा है, इसलिये सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है, और सम्यग्ज्ञानसे जीवादि पदार्थोंका स्वरूप यथार्थ जाना जाता है। तथा जब पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जाना जाये तब भला–बुरा मार्ग जाना जाता है। इसप्रकार मार्गके जाननेमें भी सम्यग्दर्शन ही प्रधान है ।। १५ ।।

आगे, कल्याण–अकल्याणको जाननेसे क्या होता है सो कहते हैं:—

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि ।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ।। १६ ।।

श्रेयोऽश्रेयवेत्ता उद्धृतदुःशील: शीलवानपि ।
शीलफलेनाभ्युदयं ततः पुनः लभते निर्वाणम् ।। १६ ।।

सम्यक्त्वथी सुज्ञान, जेथी सर्व भाव जणाय छे ।
ने सौ पदार्थो जाणतां अश्रेय-श्रेय जणाय छे ।। १५ ।।

अश्रेय-श्रेयसुजाण छोडी कुशील धारे शीलने ।
ने शीलफलथी होय अभ्युदय, पछी मुक्ति लहे ।। १६ ।।

अर्थः—कल्याण और अकल्याणमार्गको जाननेवाला पुरुष "उद्धृतदुःशील:" अर्थात् जिसने मिथ्यात्वस्वभावको उड़ा दिया है—ऐसा होता है; तथा "शीलवानपि" अर्थात् सम्यक्त्वस्वभावयुक्त भी होता है, तथा उस सम्यक्त्वस्वभावके फलसे अभ्युदयको प्राप्त होता है, तीर्थंकरादि पद प्राप्त करता है, तथा अभ्युदय होनेके पश्चात् निर्वाणको प्राप्त होता है।

भावार्थः—भले-बुरे मार्गको जानता है तब अनादि संसारसे लगाकर जो मिथ्याभावरूप प्रकृति है वह पलटकर सम्यक्त्वभावस्वरूप प्रकृति होती है; उस प्रकृतिसे विशिष्ट पुण्यबंध करे तब अभ्युदयरूप तीर्थंकरादिकी पदवी प्राप्त करके निर्वाणको प्राप्त होता है ।। १६ ।।

आगे कहते हैं कि ऐसा सम्यक्त्व जिनवचनसे प्राप्त होता है इसलिये वे ही सर्व दुःखोंको हरनेवाले हैं :—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं ।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥ १७॥

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतम् ।
जरामरणव्याधिहरणंक्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ।। १७ ।।

अर्थः—यह जिनवचन हैं सो औषधि हैं। कैसी औषधि हैं?—कि इन्द्रिय विषयोंमें जो सुख माना है उसका विरेचन अर्थात् दूर करनेवाले हैं। तथा कैसे हैं अमृतभूत अर्थात् अमृत समान हैं और इसीलिये जरामरणरूप रोगको हरनेवाले हैं, तथा सर्व दुःखोंका क्षय करनेवाले हैं ।

भावार्थः—इस संसारमें प्राणी विषयसुखोंका सेवन करते हैं जिनसे कर्म बंधते हैं और उससे जन्म-जरा-मरणरूप रोगोंसे पीड़ित होते हैं; वहाँ जिनवचनरूप औषधि ऐसी है जो विषयसुखोंसे अरुचि उत्पन्न करके उनका विरेचन करती है। जैसे गरिष्ठ आहारसे जब मल बढ़ता है तब ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं और तब उसके विरेचनको हरड़ आदि औषधि उपकारी होती है उसीप्रकार उपकारी हैं। उन विषयोंसे

जिनवचनरूप दवा विषयसुखरेचिका, अमृतमयी ।
छे व्याधि-मरण-जरादिहरणी, सर्व दुःखविनाशिनी ।। १५ ।।

वैराग्य होने पर कर्मबन्ध नहीं होता और तब जन्म–जरा–मरण रोग नहीं होते तथा संसारके दुःखका अभाव होता है। इसप्रकार जिनवचनोंको अमृत समान मानकर अंगीकार करना ।। १७।।

आगे, जिनवचनमें दर्शनका लिंग अर्थात् भेष कितने प्रकारका कहा है सो कहते हैं :—

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु ।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ।।१८।।

एकं जिनस्य रूपं द्वितीयं उत्कृष्ठ श्रावकाणां तु ।
अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिंगदर्शनं नास्ति ।। १८।।

अर्थ :—दर्शनमें एक तो जिनका स्वरूप है; वहाँ जैसा लिंग जिनदेवने धारण किया वही लिंग है; तथा दूसरा उत्कृष्ट श्रावकोंका लिंग है और तीसरा 'अवरस्थित' अर्थात् जघन्यपदमें स्थित ऐसी आर्यिकाओंका लिंग है; तथा चौथा लिंग दर्शनमें है नहीं ।

भावार्थ :—जिनमतमें तीनों लिंग अर्थात् भेष कहते हैं। एक तो वह है जो यथाजातरूप जिनदेवने धारण किया; तथा दूसरा ग्यारहवीं प्रतिमाके धारी उत्कृष्ट श्रावकका है, और तीसरा स्त्री आर्यिका हो उसका है। इसके सिवा चौथा अन्य प्रकारका भेष जिनमतमें नहीं है। जो मानते हैं वे मूलसंघसे बाहर हैं ।। १८।।

आगे कहते हैं कि—ऐसा बाह्यलिंग हो उसके अन्तरङ्ग श्रद्धान भी ऐसा होता है और वह सम्यग्दृष्टि है :—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ।।१९।।

षट् द्रव्याणि नव पदार्थाः पंचास्तिकायाः सप्ततत्त्वानि निर्दिष्टानि ।
श्रद्दधाति तेषां रूपं सः सद्दृष्टिः ज्ञातव्यः ।। १९ ।।

छे एक जिननुं रूप, बीजुं श्रावकोत्तम-लिंग छे ।
त्रीजुं कह्युं आर्यादिनुं, चोथुं न कोई कहेल छे ।। १८।।
पंचास्तिकाय, छ द्रव्य ने नव अर्थ, तत्त्वो सात छे ।
श्रद्धे स्वरूपो तेमनां, जाणो सुदृष्टि तेहने ।। १९।।

अर्थः—छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व–यह जिनवचनमें कहे हैं, उनके स्वरूपका जो श्रद्धान करे उसे सम्यग्दृष्टि जानना।

भावार्थः—(जाति अपेक्षा छह द्रव्योंके नाम–) जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल–यह तो छह द्रव्य हैं; तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य, पाप–यह नव तत्त्व अर्थात् नव पदार्थ हैं; छह द्रव्य काल बिना पंचास्तिकाय हैं। पुण्य–पाप बिना नव पदार्थ सप्त तत्त्व हैं। इनका संक्षेप स्वरूप इसप्रकार है—जीव तो चेतनास्वरूप है और चेतना दर्शनज्ञानमयी है; पुद्‌गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गुणसहित मूर्तिक है, उसके परमाणु और स्कंध दो भेद हैं; स्कंधके भेद शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत इत्यादि अनेक प्रकार हैं; धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य ये एक एक हैं–अमूर्तिक हैं, निष्क्रिय हैं, कालाणु असंख्यात द्रव्य है। कालको छोड़कर पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं इसलिये अस्तिकाय पाँच हैं। कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है इसलिये वह अस्तिकाय नहीं है; इत्यादिक उनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी टीकासे जानना। जीव पदार्थ एक है और अजीव पदार्थ पाँच हैं, जीवके कर्मबन्ध योग्य पुद्‌गलोंका आना आस्रव है, कर्मोंका बंधना बन्ध है, आस्रवका रुकना संवर है, कर्मबन्धका झड़ना निर्जरा है, सम्पूर्ण कर्मोंका नाश होना मोक्ष है, जीवोंको सुखका निमित्त पुण्य है और दुःखका निमित्त पाप है; ऐसे सप्त तत्त्व और नव पदार्थ हैं। इनका आगमके अनुसार स्वरूप जानकर श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दृष्टि होते हैं॥ १९॥

अब व्यवहार निश्चयके भेदसे सम्यक्त्वको दो प्रकारका कहते हैं:—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं॥२०॥

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
व्यवहारात् निश्चयतः आत्मैव भवति सम्यक्त्वम्॥ २०॥

अर्थः—जिन भगवानने जीव आदि पदार्थोंके श्रद्धानको व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और अपने आत्माके ही श्रद्धानको निश्चय सम्यक्त्व कहा है।

जीवादिना श्रद्धानने सम्यक्त्व भाख्युं छे जिने।
व्यवहारथी, पण निश्चये आत्मा ज निज सम्यक्त्व छे॥ २०॥

भावार्थः—तत्त्वार्थका श्रद्धान व्यवहारसे सम्यक्त्व है और अपने आत्मस्वरूपके अनुभव द्वारा उसकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, आचरण सो निश्चयसे सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व आत्मासे भिन्न वस्तु नहीं है आत्माहीका परिणाम है सो आत्मा ही है। ऐसे सम्यक्त्व और आत्मा एक ही वस्तु है यह निश्चयका आशय जानना ।। २० ।।

अब कहते हैं कि यह सम्यग्दर्शन ही सब गुणोंमें सार है उसे धारण करोः—

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥ २१ ॥

एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्नं धरत भावेन ।
सारं गुणरत्नत्रये सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ।। २१ ।।

अर्थः—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार जिनेश्वर देवका कहा हुआ दर्शन है सो गुणोंमें और दर्शन–ज्ञान–चारित्र इन तीन रत्नोंमें सार है—उत्तम है और मोक्षमन्दिरमें चढ़नेके लिये पहली सीढ़ी है इसलिये आचार्य कहते हैं कि—हे भव्यजीवो ! तुम इसको अन्तरंग भावसे धारण करो, बाह्य क्रियादिकसे धारण करना तो परमार्थ नहीं है, अन्तरंगकी रुचिसे धारण करना मोक्षका कारण है ।। २१ ।।

अब कहते हैं कि—जो श्रद्धान करता है उसीके सम्यक्त्व होता हैः—

***जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।**
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥ २२ ॥

यत् शक्नोति तत् क्रियते यत् च न शक्नुयात् तस्य च श्रद्धानम् ।
केवलिजिनैः भणितं श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वम् ।। २२ ।।

---

* नियमसार गा० १५४

ए जिनकथित दर्शनरतनने भावथी धारो तमे ।
गुणरत्नत्रयमां सार ने जे प्रथम शिवसोपान छे ।। २१ ।।

थई जे शके करवुं अने नव थई शके ते श्रद्धवुं ।
सम्यक्त्व श्रद्धावंतने सर्वज्ञ जिनदेवे कह्युं ।। २२ ।।

अर्थः—जो करनेको समर्थ हो वह तो करे और जो करनेको समर्थ नहीं हो वह श्रद्धान करे क्योंकि केवली भगवानने श्रद्धान करनेवालेको सम्यक्त्व कहा है ॥ २२ ॥

भावार्थः—यहाँ आशय ऐसा है कि यदि कोई कहे कि—सम्यक्त्व होनेके बादमें तो सब परद्रव्य–संसारको हेय जानते हैं। जिसको हेय जाने उसको छोड़ मुनि बनकर चारित्रका पालन करे तब सम्यक्त्वी माना जावे, इसके समाधानरूप यह गाथा है जिसने सब परद्रव्यको हेय जानकर निजस्वरूपको उपादेय जाना, श्रद्धान किया तब मिथ्याभाव तो दूर हुआ परन्तु जब तक (चारित्रमें प्रबल दोष हैं तब तक) चारित्र-मोहकर्मका उदय प्रबल होता है [और] तब तक चारित्र अङ्गीकार करनेकी सामर्थ्य नहीं होती। जितनी सामर्थ्य है उतना तो करे और शेषका श्रद्धान करे, इसप्रकार श्रद्धान करनेवालेको ही भगवानने सम्यक्त्व कहा है ॥ २२ ॥

अब कहते हैं कि जो ऐसे दर्शन–ज्ञान–चारित्रमें स्थित हैं वे वंदन करने योग्य हैं :—

दंसणणाणचरित्ते तवविणये [1]णिच्चकालसुपसत्था ।
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥ २३ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रे तपोविनये नित्यकालसुप्रस्वस्थाः ।
ऐते तु वन्दनीया ये गुणवादिनः गुणधराणाम् ॥ २३ ॥

अर्थः—दर्शन–ज्ञान–चारित्र, तप तथा विनय इनमें जो भले प्रकार स्थित हैं वे प्रशस्त हैं, सराहने योग्य हैं अथवा भले प्रकार स्वस्थ हैं लीन हैं और गणधर आचार्य भी उनके गुणानुवाद करते हैं अतः वे वन्दने योग्य हैं। दूसरे जो दर्शनादिकसे भ्रष्ट हैं और गुणवानोंसे मत्सरभाव रखकर विनयरूप नहीं प्रवर्तते हैं वे वंदने योग्य नहीं हैं ॥ २३ ॥

अब कहते हैं कि—जो यथाजातरूपको देखकर मत्सरभावसे वन्दना नहीं करते हैं वे मिथ्यादृष्टि ही है :—

---

१. पाठान्तर—णिच्चकालसुपसत्ता।

दृग, ज्ञान ने चारित्र, तप, विनये सदाय सुनिष्ठ जे।
ते जीव वंदनयोग्य छे—गुणधर तणा गुणवादी जे ॥ २३ ॥

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठं जो मण्णए ण मच्छरिओ ।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥२४॥

सहजोत्पन्नं रूपं दृष्ट्वा यः मन्यते न मत्सरी ।
सः संयमप्रतिपन्नः मिथ्यादृष्टिः भवति एषः ॥ २४ ॥

अर्थः—जो सहजोत्पन्न यथाजातरूपको देखकर नहीं मानते हैं, उसका विनय सत्कार प्रीति नहीं करते हैं और मत्सर भाव करते हैं वे संयमप्रतिपन्न हैं, दीक्षा ग्रहण की है फिर भी प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि हैं ॥ २४ ॥

भावार्थः—जो यथाजातरूपको देखकर मत्सरभावसे उसका विनय नहीं करते हैं तो ज्ञात होता है कि—इनके इस रूपकी श्रद्धा–रुचि नहीं है ऐसी श्रद्धा–रुचि बिना तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। यहाँ आशय ऐसा है कि–जो श्वेताम्बरादिक हुए वे दिगम्बर रूपके प्रति मत्सरभाव रखते हैं और उसका विनय नहीं करते हैं उनका निषेध है ॥ २४ ॥

आगे इसीको दृढ़ करते हैंः—

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं ।
जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥ २५॥

अमरैः वंदितानां रूपं दृष्ट्वा शीलसहितानाम् ।
ये गौरवं कुर्वन्ति च सम्यक्त्वविवर्जिताः भवंति ॥ २५ ॥

अर्थः—देवोंसे वंदने योग्य शील सहित जिनेश्वरदेवके यथाजातरूपको देखकर जो गौरव करते हैं, विनयादिक नहीं करते हैं वे सम्यक्त्वसे रहित हैं।

भावार्थः—जिस यथाजातरूपको देखकर अणिमादिक ऋद्धियोंके धारक देव भी चरणोंमें गिरते हैं उसको देखकर मत्सरभावसे नमस्कार नहीं करते हैं उनके सम्यक्त्व कैसा ? वे सम्यक्त्वसे रहित ही हैं ॥ २५ ॥

ज्यां रूप देखी साहजिक, आदर नहीं मत्सर वडे ।
संयम तणो धारक भले ते होय पण कुदृष्टि छे ॥ २४ ॥
जे अमरवंदित शीलयुत मुनिओ तणु रूप जोईने ।
मिथ्याभिमान करे अरे ! ते जीव दृष्टिविहीन छे ॥ २५ ॥

अब कहते हैं कि असंयमी वंदने योग्य नहीं हैः—

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणोवि तो ण वंदिज्ज ।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥ २६ ॥

असंयतं न वन्देत वस्त्रविहीनोऽपि स न वन्द्यते ।
द्वौ अपि भवतः समानौ एकः अपि न संयतः भवति ॥ २६ ॥

अर्थः—असंयमीको नमस्कार नहीं करना चाहिये । भावसयम नहीं हो और बाह्यमें वस्त्र रहित हो वह भी वंदने योग्य नहीं है क्योंकि यह दोनों ही संयम रहित समान हैं, इनमें एक भी संयमी नहीं है ।

भावार्थः—जिसने गृहस्थका भेष धारण किया है वह तो असंयमी है ही, परन्तु जिसने वाह्यमें नग्नरूप धारण किया है और अन्तरङ्गमें भावसंयम नहीं है तो वह भी असंयमी ही है, इसलिये यह दोनों ही असंयमी हैं, अतः दोनों ही वंदने योग्य नहीं हैं । यहाँ आशय ऐसा है अर्थात् ऐसा नहीं जानना चाहिये कि—जो आचार्य यथाजातरूपको दर्शन कहते आये हैं वह केवल नग्नरूप ही यथाजातरूप होगा, क्योंकि आचार्य तो बाह्यअभ्यंतर सब परिग्रहसे रहित हो उसको यथाजातरूप कहते हैं । अभ्यंतर भावसंयम बिना बाह्य नग्न होनेसे तो कुछ संयमी होता नहीं है ऐसा जानना । यहाँ कोई पूछे—बाह्य भेष शुद्ध हो, आचार निर्दोष पालन करनेवालेको अभ्यंतर भावमें कपट हो उसका निश्चय कैसे हो, तथा सूक्ष्मभाव केवलीगम्य हैं, मिथ्यात्व हो उसका निश्चय कैसे हो, निश्चय बिना वंदनेकी क्या रीति ? उसका समाधान—ऐसे कपटका जब तक निश्चय नहीं हो तब तक आचार शुद्ध देखकर वंदना करे उसमें दोप नहीं है, और कपटका किसी कारणसे निश्चय हो जाय तब वंदना नहीं करे, केवलीगम्य मिथ्यात्वकी व्यवहारमें चर्चा नहीं है, छद्मस्थके ज्ञानगम्यकी चर्चा है । जो अपने ज्ञानका विषय ही नहीं उसका बाधनिर्बाध करनेका व्यवहार नही है, सर्वज्ञ भगवानकी भी यही आज्ञा है । व्यवहारी जीवको व्यवहारका ही शरण है ॥ २६ ॥

[नोट—एक गुणका दूसरे आनुपंगिक गुण द्वारा निश्चय करना व्यवहार है उसीका नाम व्यवहारी जीवको-व्यवहारका शरण है]

वंदो न अणसंयत, भले हो नग्न पण नहि वंद्य ते ।
बंने समानपणुं धरे, एक्के न संयमवंत छे ॥ २६ ॥

आगे इसही अर्थको दृढ़ करते हुए कहते हैं :—

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥२७॥

नापि देहो वंद्यते नापि च कुलं नापि च जातिसंयुक्तः ।
कः[1] वंद्यते गुणहीनः न खलु श्रमणः नैव श्रावकः भवति ॥ २७ ॥

अर्थः—देहको भी नहीं वंदते हैं और कुलको भी नहीं वंदते हैं तथा जातियुक्तको भी नहीं वंदते हैं क्योंकि गुण रहित हो उसको कौन वंदे ? गुण बिना प्रकट मुनि नहीं, श्रावक भी नहीं है ।

भावार्थः—लोकमें भी ऐसा न्याय है जो गुणहीन हो उसको कोई श्रेष्ठ नहीं मानता है, देह रूपवान हो तो क्या, कुल बड़ा हो तो क्या, जाति बड़ी हो तो क्या, क्योंकि मोक्षमार्गमें तो दर्शन–ज्ञान–चारित्र गुण हैं, इनके बिना जाति–कुल–रूप आदि वंदनीय नहीं हैं, इनसे मुनि–श्रावकपणा नहीं आता है, मुनि–श्रावकपणा तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रसे होता है, इसलिये इनको धारण हैं वही वंदने योग्य हैं, जाति, कुल आदि वंदने योग्य नहीं हैं ॥ २७ ॥

अब कहते हैं कि जो तप आदिसे संयुक्त हैं उनको नमस्कार करता हूं :—

वंदमि [2]तवसावण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च ।
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण[3] सुद्धभावेण ॥२८॥

वन्दे तपः श्रमणान् शीलं च गुणं च ब्रह्मचर्यं च ।
सिद्धिगमनं च तेषां सम्यक्त्वेन शुद्धभावेन ॥ २८ ॥

---

१. 'वन्दे गुणहीनं' षट्पाहुडमें पाठ है ।
२. 'तव समण्णा' छाया–(तपः समापन्नान्) 'तवसउण्णा' 'तवसमार्ण' ये तीन पाठ मुद्रित षट्प्राभृत की पुस्तक तथा उसकी टिप्पणीमें हैं । ३. 'सम्मत्तेणव' ऐसा पाठ होनेसे पाद भङ्ग नहीं होता ।

नहि देह वंद्य, न वंद्य कुल, नहि वंद्य जन जाति थकी ।
गुणहीन क्यम वंदाय? ते साधु नथी, श्रावक नथी ॥ २७ ॥
सम्यक्त्वसंयुक्त शुद्धभावे वंदुं छुं मुनिराजने ।
तस ब्रह्मचर्य, सुशीलने, गुणने तथा शिवगमनने ॥ २८ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जो तप सहित श्रमणपना धारण करते हैं उनको तथा उनके शीलको, उनके गुणको व ब्रह्मचर्यको मैं सम्यक्त्व सहित शुद्धभावसे नमस्कार करता हूँ क्योंकि उनके उन गुणोंसे–सम्यक्त्व सहित शुद्धभावसे सिद्धि अर्थात् मोक्ष उसके प्रति गमन होता है।

भावार्थः—पहले कहा कि–देहादिक वंदने योग्य नहीं हैं, गुण वंदने योग्य हैं। अब यहाँ गुण सहितकी वंदना की है। वहाँ जो तप धारण करके गृहस्थपना छोड़कर मुनि हो गये हैं उनको तथा उनके शीलगुणब्रह्मचर्य सम्यक्त्व सहित शुद्धभावसे संयुक्त हो उनकी वंदना की है। यहाँ शील शब्दसे उत्तरगुण और गुण शब्दसे मूलगुण तथा ब्रह्मचर्य शब्दसे आत्मस्वरूपमें मग्नता समझना चाहिये ॥ २८॥

आगे कोई आशङ्का करता है कि—संयमीको वंदने योग्य कहा तो समवसरणादि विभूति सहित तीर्थंकर हैं वे वंदने योग्य हैं या नहीं? उसका समाधान करनेके लिये गाथा कहते हैं कि—जो तीर्थंकर परमदेव हैं वे सम्यक्त्वसहित तपके माहात्म्यसे तीर्थंकर पदवी पाते हैं वे भी वंदने योग्य हैं:—

चउसट्ठि चमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो।
अणवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्तो ॥ २९॥

चतुःषष्टिचमरसहितः चतुस्त्रिंशद्भिरतिशयैः संयुक्तः।
[1]अनवरतबहुसत्त्वहितः कर्मक्षयकारणनिमित्तः[2] ॥ २९॥

अर्थः—जो चौसठ चवरोंसे सहित हैं, चौतीस अतिशय सहित हैं, निरन्तर बहुत प्राणियोंका हित जिनसे होता है ऐसे उपदेशके दाता हैं, और कर्मके क्षयका कारण हैं ऐसे तीर्थंकर परमदेव हैं वे वंदने योग्य हैं।

भावार्थः—यहाँ चौसठ चँवर चौतीस अतिशय सहित विशेषणोंसे तो तीर्थंकरका प्रभुत्व बताया है और प्राणियोंका हित करना तथा कर्मक्षयका कारण विशेषणसे दूसरे

१. 'अणुचरबहुसत्तहिओ' (अनुचरबहुसत्वहितः) मुद्रित षट्प्राभृतमें यह पाठ है।
२. 'निमित्ते' मुद्रित षट्प्राभृतमें ऐसा पाठ है।

चोसठ चमर संयुक्त ने चोत्रीस अतिशय युक्त जे।
बहुजीवहितकर सतत, कर्मविनाशकारण–हेतु छे ॥ २९॥

का उपकार करनेवालापना बताया है, इन दोनों ही कारणोंसे जगतमें वंदने पूजने योग्य हैं। इसलिये इसप्रकार भ्रम नहीं करना कि—तीर्थंकर कैसे पूज्य हैं, यह तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग हैं। उनके समवसरणादिक विभूति रचकर इन्द्रादिक भक्तजन महिमा करते हैं। इनके कुछ प्रयोजन नहीं है, स्वयं दिगम्बरत्वको धारण करते हुए अंतरीक्ष तिष्ठते हैं ऐसा जानना ॥ २९ ॥

आगे मोक्ष किससे होता है सो कहते हैं:—

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण ।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ३० ॥

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण संयमगुणेन ।
चतुर्णामपि समायोगे मोक्षः जिनशासने दृष्टः ॥ ३० ॥

अर्थः—ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्रसे इन चारोंका समायोग होने पर जो संयमगुण हो उससे जिन शासनमें मोक्ष होना कहा है ॥ ३० ॥

आगे इन ज्ञान आदिके उत्तरोत्तर सारपणा कहते हैं:—

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥ ३१ ॥

ज्ञानं नरस्य सारः सारः अपि नरस्य भवति सम्यक्त्वम् ।
सम्यक्त्वात् चरणं चरणात् भवति निर्वाणम् ॥ ३१ ॥

अर्थः—पहिले तो इस पुरुषके लिये ज्ञान सार है क्योंकि ज्ञानसे सब हेय-उपादेय जाने जाते हैं फिर उस पुरुषके लिये सम्यक्त्व निश्चयसे सार है क्योंकि सम्यक्त्व विना ज्ञान मिथ्या नाम पाता है, सम्यक्त्वसे चारित्र होता है क्योंकि सम्यक्त्व बिना चारित्र भी मिथ्या ही है, चारित्रसे निर्वाण होता है।

संयम थकी, था ज्ञान-दर्शन-चरण-तप छे चार जे ।
ए चार केरा योगथी, मुक्ति कही जिनशासने ॥ ३० ॥
रे ! ज्ञान नरने सार छे, सम्यक्त्व नरने सार छे ।
सम्यक्त्वथी चारित्र ने, चारित्रथी मुक्ति लहे ॥ ३१ ॥

भावार्थः—चारित्रसे निर्वाण होता है और चारित्र ज्ञानपूर्वक सत्यार्थ होता है तथा ज्ञान सम्यक्त्वपूर्वक सत्यार्थ होता है इसप्रकार विचार करनेसे सम्यक्त्वके सारपना आया। इसलिये पहिले तो सम्यक्त्व सार है पीछे ज्ञान चारित्र सार हैं। पहिले ज्ञानसे पदार्थोंको जानते हैं अतः पहिले ज्ञान सार है तो भी सम्यक्त्व बिना उसका भी सारपना नहीं है, ऐसा जानना ।। ३१ ।।

आगे इसी अर्थको दृढ़ करते हैंः—

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
[1]चउण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो ।। ३२ ।।

ज्ञाने दर्शने च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन ।
चतुर्णामपि समायोगे सिद्धा जीवा न सन्देहः ।। ३२ ।।

अर्थः—ज्ञान और दर्शनके होने पर सम्यक्त्व सहित तप करके चारित्रपूर्वक इन चारोंका समायोग होनेसे जीव सिद्ध हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

भावार्थः—पहिले जो सिद्ध हुए हैं वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारोंके संयोगसे ही हुए हैं यह जिनवचन है, इसमें सन्देह नहीं है ।। ३२ ।।

आगे कहते हैं कि—लोकमें सम्यग्दर्शनरूप रत्न अमोलक है वह देह दानवोंसे पूज्य हैः—

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं ।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ।। ३३ ।।

कल्याणपरंपरया लभंते जीवाः विशुद्धसम्यक्त्वम् ।
सम्यग्दर्शनरत्नं अर्घ्यते सुरासुरे लोके ।। ३३ ।।

---

१ पाठान्तरः—चोण्हं

दग-ज्ञानथी, सम्यक्त्वयुत चारित्रथी ने तप थकी।
—ए चारना योगे जीवो सिद्धि वरे, शंका नथी ।। ३२ ।।
कल्याणश्रेणी साथ पामे जीव समकित शुद्धने।
सुर-असुर केरा लोकमां सम्यक्त्वरत्न पुजाय छे ।। ३३ ।।

अर्थः—जीव विशुद्ध सम्यक्त्वको कल्याणकी परम्परा सहित पाते हैं इसलिये सम्यग्दर्शन रत्न है वह इस सुरअसुरोंसे भरे हुए लोकमें पूज्य है।

भावार्थः—विशुद्ध अर्थात् पच्चीस मलदोषोंसे रहित निरतिचार सम्यक्त्वसे कल्याण की परम्परा अर्थात् तीर्थङ्कर पद पाते हैं इसीलिये यह सम्यक्त्व रत्न लोकमें सब देव, दानव और मनुष्योंसे पूज्य होता है। तीर्थङ्कर प्रकृतिके बंधके कारण सोलहकारण भावना कही हैं उनमें पहिली दर्शनविशुद्धि है वही प्रधान है, यही विनयादिक पंद्रह भावनाओंका कारण है, इसलिये सम्यग्दर्शनके ही प्रधानपना है ।।३३।।

अब कहते हैं कि जो उत्तम गोत्र सहित मनुष्यत्वको पाकर सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे मोक्ष पाते हैं यह सम्यक्त्वका माहात्म्य हैः—

लद्धूण[1] य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं[2] च मोक्खं च ॥ ३४॥

लब्ध्वा च मनुजत्वं सहितं तथा उत्तमेन गोत्रेण।
लब्ध्वा च सम्यक्त्वं अक्षयसुखं च मोक्षं च ।। ३४ ।।

अर्थः—उत्तमगोत्र सहित मनुष्यपना प्रत्यक्ष प्राप्त करके और वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करके अविनाशी सुखरूप केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, तथा उस सुखसहित मोक्ष प्राप्त करते हैं।

भावार्थः—यह सब सम्यक्त्वका माहात्म्य है ।। ३४ ।।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि—जो सम्यक्त्वके प्रभावसे मोक्ष प्राप्त करते हैं वे तत्काल ही प्राप्त करते हैं या कुछ अवस्थान भी रहते हैं? उसके समाधानरूप गाथा कहते हैंः—

---

१ 'दट्ठूण' पाठान्तर।
२ 'अक्खयसोक्खं लहदि मोक्खं च' पाठान्तर।

रे! गोत्र उत्तमथी सहित मनुजत्वने जीव पामीने।
संप्राप्त करी सम्यक्त्व, अक्षय सौख्य ने मुक्ति लहे ॥ ३४॥

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो।
चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥ ३५॥

विहरति यावत् जिनेन्द्रः सहस्राष्टलक्षणैः संयुक्तः ।
चतुस्त्रिंशदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता ॥ ३५ ॥

अर्थः—केवलज्ञान होनेके बाद जिनेन्द्र भगवान जब तक इस लोकमें आर्यखंडमें विहार करते हैं तब तक उनकी वह प्रतिमा अर्थात् शरीर सहित प्रतिबिम्ब उसको 'थावर प्रतिमा' इस नामसे कहते हैं। वे जिनेन्द्र कैसे हैं? एक हजार आठ लक्षणोंसे संयुक्त हैं। वहाँ श्रीवृक्षको आदि लेकर एक सौ आठ तो लक्षण होते हैं। तिल मुसको आदि लेकर नो सौ व्यंजन होते हैं। चौंतीस अतिशयोंमें दस तो जन्मसे ही लिये हुए उत्पन्न होते हैं:—१ निस्वेदता, २ निर्मलता, ३ श्वेतरुधिरता, ४ समचतुरस्रसंस्थान, ५ वज्रवृषभ नाराच संहनन, ६ सुरूपता, ७, सुगंधता, ८, सुलक्षणता, ९ अतुलवीर्य, १० हितमितवचन ऐसे दस होते हैं। घातिया कर्मोंके क्षय होने पर दस होते हैं:— १ शतयोजन सुभिक्षता, २ आकाशगमन, ३ प्राणिवधका अभाव, ४ कवलाहारका अभाव, ५ उपसर्गका अभाव, ६ चतुर्मुखपना, ७ सर्वविद्याप्रभुत्व, ८ छायारहितत्व, ९ लोचन-निस्पंदनरहितत्त्व, १० केश नखवृद्धिरहितत्व ऐसे दस होते हैं। देवों द्वारा किये हुए चौदह होते हैं:—१—सकलार्द्धमागधी भाषा, २—सर्वजीव मैत्रीभाव, ३—सर्वऋतुफलपुष्प-प्रादुर्भाव, ४—दर्पणके समान पृथ्वीका होना, ५—मंद सुगंध पवनका चलना, ६—सारे संसारमें आनन्दका होना, ७—भूमिकंटकादिरहित होना, ८—देवों द्वारा गंधोदककी वर्षा होना, ९—विहारके समय चरणकमलके नीचे देवों द्वारा सुवर्णमयी कमलोंकी रचना होना, १०—भूमि धान्यनिष्पत्ति सहित होना, ११—दिशा आकाश निर्मल होना, १२—देवोंका आह्वानन शब्द होना, १३—धर्मचक्रका आगे चलना, १४—अष्ट मंगल द्रव्य होना ऐसे चौदह होते हैं। सब मिलकर चौंतीस हो गये। आठ प्रातिहार्य होते हैं, उनके नामः—अशोकवृक्ष, २—पुष्पवृष्टि, ३—दिव्यध्वनि, ४—चामर, ५—सिंहासन, ६—छत्र, ७—भामंडल, ८—दुन्दुभिवादित्र ऐसे आठ होते हैं। ऐसे अतिशयसहित अनन्तज्ञान,

---

चोत्रीस अतिशययुक्त, अष्ट सहस्र लक्षणधरपणे।
जिनचन्द्र विहरे ज्यां लगी, ते बिंब स्थावर उक्त छे ॥ ३५ ॥

अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य सहित तीर्थंकर परमदेव जब तक जीवोंके सम्बोधन निमित्त विहार करते विराजते हैं तब तक स्थावर प्रतिमा कहलाते हैं। ऐसे स्थावर प्रतिमा कहनेसे तीर्थंकरके केवलज्ञान होनेके बादमें अवस्थान बताया है और धातु पाषाणकी प्रतिमा बनाकर स्थापित करते हैं वह इसीका व्यवहार है ॥ ३५ ॥

आगे कर्मोंका नाश करके मोक्ष प्राप्त करते हैं ऐसा कहते हैं:—

बारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण सं ।
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥३६॥

द्वादशविधतपोयुक्तः कर्मक्षपयित्वा विधिबलेन स्वीयम् ।
व्युत्सर्गत्यक्तदेहा निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताः ॥ ३६ ॥

अर्थः—जो बारह प्रकारके तपसे संयुक्त होते हुए विधिके बलसे अपने कर्मको नष्ट कर 'वोसट्टचत्तदेहा' अर्थात् जिन्होंने भिन्न कर छोड़ दिया है देह ऐसे होकर वे अनुत्तर अर्थात् जिससे आगे अन्य अवस्था नहीं है ऐसी निर्वाण अवस्थाको प्राप्त होते हैं।

भावार्थः—जो तप द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर जब तक विहार करें तब तक अवस्थान रहें पीछे द्रव्य, क्षेत्र, काल-भावकी सामग्रीरूप विधिके बलसे कर्म नष्ट कर व्युत्सर्गद्वारा शरीरको छोड़कर निर्वाणको प्राप्त होते हैं। यहाँ आशय ऐसा है कि जब निर्वाणको प्राप्त होते हैं तब लोकशिखर पर जाकर विराजते हैं वहाँ गमनमें एकसमय लगता है, उस समय जंगम प्रतिमा कहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, उसमें सम्यग्दर्शन प्रधान है। इस पाहुडमें सम्यग्दर्शनके प्रधानपनेका व्याख्यान किया है ॥ ३६ ॥

द्वादश तपे सयुक्त निज कर्मो खपावी विधिबले ।
व्युत्सर्गथी तनने तजी, पाम्या अनुत्तम मोक्षने ॥ ३६ ॥

* सवैया छन्द *

मोक्ष उपाय कह्यो जिनराज जु सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्रा ।
तामधि सम्यग्दर्शन मुख्य भये निज बोध फलै सु चरित्रा ।।
जे नर आगम जानि करै पहचानि यथावत मित्रा ।
घाति क्षिपाय रु केवल पाय अघाति हने लहि मोक्ष पवित्रा ।।१।।

* दोहा *

नमूं देव गुरु धर्मकूं, जिन आगमकूं मानि ।
जा प्रसाद पायो अमल, सम्यग्दर्शन जानि ।।२।।

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामि विरचित अष्टप्राभृतमें प्रथम दर्शनप्राभृत और
उसकी जयचन्द्रजी छाबड़ा कृत देशभाषामयवचनिका का
हिन्दी भाषानुवाद समाप्त हुआ।
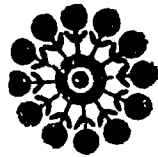
* दोहा *

वीर जिनेश्वरको नमूं गौतम गणधर लार ।
काल पंचमा आदिमैं भए सूत्रकरतार ॥१॥

इस प्रकार मगल करके श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत गाथा बंध सूत्रपाहुडकी देशभाषामय वचनिका लिखते हैं :—

प्रथम ही श्रीकुन्दकुन्द आचार्य सूत्रकी महिमागर्भित सूत्रका स्वरूप बताते हैं :—

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥१॥

अर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रथितं सम्यक् ।
सूत्रार्थमार्गणार्थं श्रमणाः साधयंति परमार्थम् ॥१॥

अर्थ :—जो गणधरदेवोंने सम्यक् प्रकार पूर्वापरविरोधरहित गूंथा (रचना की) वह सूत्र है। वह सूत्र कैसा है ?–सूत्रका जो कुछ अर्थ है उसको मार्गण अर्थात् ढूंढ़ने जाननेका जिसमें प्रयोजन है और ऐसे ही सूत्रके द्वारा श्रमण (मुनि) परमार्थ अर्थात् उत्कृष्ट अर्थ प्रयोजन जो अविनाशी मोक्षको साधते हैं। यहाँ गाथामें 'सूत्र' इसप्रकार विशेष्य पद नहीं कहा तो भी विशेषणोंकी सामर्थ्यसे लिया है।

भावार्थः—जो अरहंत सर्वज्ञ द्वारा भाषित है तथा गणधरदेवोंने अक्षर पद वाक्यमयी गूंथा है और सूत्रके अर्थको जाननेका ही जिसमें अर्थ—प्रयोजन है ऐसे सूत्रके

अर्हंतभाषित-अर्थमय, गणधरसुविरचित सूत्र छे ।
सूत्रार्थना शोधन वडे साधे श्रमण परमार्थने ॥ १ ॥

मुनि परमार्थ जो मोक्ष उसको साधते हैं। अन्य जो अक्षपाद, जैमिनि, कपिल, सुगत आदि छद्मस्थोंके द्वारा रचे हुए कल्पित सूत्र हैं, उनसे परमार्थकी सिद्धि नहीं है, इस प्रकार आशय जानना ।। १ ।।

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार सूत्रका अर्थ आचार्योंकी परम्परासे प्रवर्तता है उसको जानकर मोक्षमार्गको साधते हैं वे भव्य हैं :—

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपूरेण मग्गेण।
णाऊण दुविह सुत्तं वट्टदि सिवमग्ग जो भव्वो ॥ २ ॥

सूत्रे यत् सुदृष्टं आचार्यपरंपरेण मार्गेण ।
ज्ञात्वा द्विविधं सूत्रं वर्त्तते शिवमार्गे यः भव्यः ।। २ ।।

अर्थः—सर्वज्ञभाषित सूत्रमें जो कुछ भले प्रकार कहा है उसको आचार्योंकी परम्परारूप मार्गसे दो प्रकारके सूत्रको शब्दमय और अर्थमय जानकर मोक्षमार्गमें प्रवर्तता है वह भव्यजीव है, मोक्ष पानेके योग्य है।

भावार्थः—यहाँ कोई कहे—अरहंत द्वारा भाषित और गणधर देवोंसे गूंथा हुआ सूत्र तो द्वादशांगरूप है वह तो इस कालमें दिखता नहीं है तब परमार्थरूप मोक्षमार्ग कैसे सधे, इसका समाधान करनेके लिये यह गाथा है—अरहंत भाषित गणधर रचित सूत्रमें जो उपदेश है उसको आचार्योंकी परम्परासे जानते हैं, उसको शब्द और अर्थके द्वारा जानकर जो मोक्षमार्गको साधता है वह मोक्ष होने योग्य भव्य है। यहाँ फिर कोई पूछे कि–आचार्योंकी परम्परा क्या है? अन्य ग्रन्थोंमें आचार्योंकी परम्परा निम्न प्रकारसे कही गई है:—

श्री वर्द्धमान तीर्थंकर सर्वज्ञ देवके पीछे तीन केवलज्ञानी हुए; १ गौतम, २ सुधर्म, ३ जम्बू। इनके पीछे पाँच श्रुतकेवली हुए; इनको द्वादशांग सूत्रका ज्ञान था, १ विष्णु, २ नंदिमित्र, ३ अपराजित, ४ गौवर्द्धन, ५ भद्रबाहु। इनके पीछे दस पूर्वके ज्ञाता ग्यारह हुए; १ विशाख, २ प्रौष्ठिल, ३ क्षत्रिय, ४ जयसेन, ५ नागसेन, ६ सिद्धार्थ, ७ धृतिषेण, ८ विजय, ९ बुद्धिल, १० गंगदेव, ११ धर्मसेन। इनके पीछे

सूत्रे सुदर्शित जेह, ते सूरिगणपरंपर मार्गथी।
जाणी द्विधा, शिवपंथ वर्ते जीव जे ते भव्य छे ॥ २ ॥

पाँच ग्यारह अङ्गोंके धारक हुए; १ नक्षत्र, २ जयपाल, ३ पांडु, ४ ध्रुवसेन, ५ कंस। इनके पीछे एक अङ्गके धारक चार हुए; १ सुभद्र, २ यशोभद्र, ३ भद्रबाहु, ४ लोहाचार्य। इनके पीछे एक अङ्गके पूर्णज्ञानीकी तो व्युच्छित्ति (अभाव) हुई और अंगके एकदेश अर्थके ज्ञाता आचार्य हुए। इनमेंसे कुछके नाम ये हैं—अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समंतभद्र, शिवकोटि, शिवायन, पूज्यपाद, वीरसेन, जिनसेन, नेमिचन्द्र इत्यादि।

इनके पीछे इनकी परिपाटीमें आचार्य हुए, इनसे अर्थका व्युच्छेद नहीं हुआ, ऐसी दिगम्बरोंके संप्रदायमें प्ररूपणा यथार्थ है। अन्य श्वेताम्बरादिक वर्द्धमान स्वामीसे परम्परा मिलाते हैं वह कल्पित है क्योंकि भद्रबाहु स्वामीके पीछे कई मुनि अवस्थामें भ्रष्ट हुए, ये अर्द्धफालक कहलाये। इनकी सम्प्रदायमें श्वेताम्बर हुए, इनमें "देवर्द्धिगणी" नामका साधु इनकी संप्रदायमें हुआ है, इसने सूत्र बनाये हैं सो इनमें शिथिलाचारको पुष्ट करनेके लिये कल्पित कथा तथा कल्पित आचरणका कथन किया है वह प्रमाणभूत नहीं है। पंचमकालमें जैनाभासोंके शिथिलाचारकी अधिकता है सो युक्त है, इस कालमें सच्चे मोक्षमार्गकी विरलता है इसलिये शिथिलाचारियोंके सच्चा मोक्षमार्ग कहाँसे हो इस प्रकार जानना।

अब यहाँ कुछ द्वादशांगसूत्र तथा अङ्गबाह्यश्रुतका वर्णन लिखते हैं—तीर्थंकरके मुखसे उत्पन्न हुई सर्व भाषामय दिव्यध्वनिको सुन करके चार ज्ञान, सप्तऋद्धिके धारक गणधर देवोंने अक्षर पदमय सूत्ररचना की। सूत्र दो प्रकारके हैं—१ अंग २ अङ्गबाह्य। इनके अपुनरुक्त अक्षरोंकी संख्या बीस अङ्क प्रमाण है ये अङ्क एक घाटि इकट्ठी प्रमाण हैं। ये अङ्क—१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अक्षर हैं। इनके पद करें तब एक मध्यपदके अक्षर सोलहसौ चौंतीस करोड़ तियासी लाख सात हजार आठसौ अट्यासी कहे हैं। इनका भाग देनेपर एकसौ बारह करोड़ तियासी लाख अठावन हजार पाँच इतने पावें, ये पद बारह अङ्गरूप सूत्रके पद हैं और अवशेष बीस अङ्कोंमें अक्षर रहे, ये अङ्गबाह्य सूत्र कहलाते हैं। ये आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एकसौ पिचहत्तर अक्षर हैं, इन अक्षरोंमें चौदह प्रकीर्णकरूप सूत्र रचना है।

अब इन द्वादशांगरूप सूत्ररचनाके नाम और पद संख्या लिखते हैं—प्रथम अंग आचारांग है, इसमें मुनीश्वरोंके आचारका निरूपण है, इसके पद अठारह हजार हैं।

दूसरा सूत्रकृत अंग है, इसमें ज्ञानका विनय आदिक अथवा धर्मक्रियामें स्वमत परमतकी क्रियाके विशेषका निरूपण है, इसके पद छत्तीस हजार हैं। तीसरा स्थान अंग है, इसमें पदार्थोंके एक आदि स्थानोंका निरूपण है जैसे जीव सामान्यरूपसे एक प्रकार विशेषरूपसे दो प्रकार, तीन प्रकार इत्यादि ऐसे स्थान कहे हैं, इसके पद बियालीस हजार हैं। चौथा समवाय अग है, इसमें जीवादिक छहद्रव्योंका द्रव्य क्षेत्र कालादि द्वारा वर्णन है, इसके पद एक लाख चौंसठ हजार हैं।

पाँचवाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्ग है, इसमें जीवके अस्ति नास्ति आदिक साठ हजार प्रश्न गणधरदेवोंने तीर्थंकरके निकट किये उनका वर्णन है, इसके पद दो लाख अठाईस हजार हैं। छठा ज्ञातृधर्मकथा नामका अङ्ग है, इसमें तीर्थंकरोंके धर्मकी कथा जीवादिक पदार्थोंके स्वभावका वर्णन तथा गणधरके प्रश्नोंके उत्तरका वर्णन है, इसके पद पाँच लाख छप्पन हजार हैं। सातवाँ उपासकाध्ययन नामका अङ्ग है, इसमें ग्यारह प्रतिमा आदि श्रावकके आचारका वर्णन है, इसके पद ग्यारह लाख सत्तर हजार हैं। आठवाँ अन्तकृतदशांग नामका अंग है, इसमें एक एक तीर्थङ्करके कालमें दस दस अन्तकृत केवली हुए उनका वर्णन है, इसके पद तेईस लाख अठाईस हजार हैं।

नौवां अनुत्तरोपपादक नामका अंग है, इसमें एक एक तीर्थंकरके कालमें दस दस महामुनि घोर उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न हुए उनका वर्णन है, इसके पद बाणवै लाख चवालीस हजार हैं। दसवां प्रश्न व्याकरण नामका अंग है, इसमें अतीत अनागत काल सम्बन्धी शुभाशुभका प्रश्न कोई करे उसका उत्तर यथार्थ कहनेके उपायका वर्णन है तथा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी इन चार कथाओंका भी इस अंगमें वर्णन है, इसके पद तिराणवें लाख सोलह हजार हैं। ग्यारहवाँ विपाकसूत्र नामका अंग है, इसमें कर्मके उदयका तीव्र, मंद अनुभागका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा लिये हुए वर्णन है, इसके पद एक करोड़ चौरासी लाख हैं। इसप्रकार ग्यारह अंग हैं, इनके पदोंकी संख्याको जोड़ देने पर चार करोड़ पंदरह लाख दो हजार पद होते हैं।

बारहवां दृष्टिवाद नामका अंग है, इसमें मिथ्यादर्शन सम्बन्धी तीनसौ तरेसठ कुवादोंका वर्णन है, इसके पद एकसौ आठ करोड़ अडसठ लाख छप्पन हजार पाँच पद है। इस बारहवें अंगके पाँच अधिकार हैं—१ परिकर्म, २ सूत्र, ३ प्र॰

४ पूर्वगत, ५ चूलिका। परिकर्ममें गणितके करण सूत्र हैं; इसके पाँच भेद हैं–प्रथम चन्द्रप्रज्ञप्ति है, इसमें चन्द्रमाके गमनादिक परिवार वृद्धि, हानि, ग्रह आदिका वर्णन है, इसके पद छत्तीस लाख पांच हजार हैं। दूसरा सूर्यप्रज्ञप्ति है, इसमें सूर्यकी ऋद्धि, परिवार, गमन आदिका वर्णन है, इसके पद पांच लाख तीन हजार हैं। तीसरा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति है, इसमें जम्बूद्वीप संबंधी मेरु गिरि क्षेत्र कुलाचल आदिका वर्णन है, इसके पद तीन लाख पच्चीस हजार हैं। चौथा द्वीपसागर प्रज्ञप्ति है, इसमें द्वीपसागरका स्वरूप तथा वहाँ स्थित ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवोंके आवास तथा वहाँ स्थित जिनमन्दिरोंका वर्णन है, इसके पद बावन लाख छत्तीस हजार हैं। पाँचवाँ व्याख्या-प्रज्ञप्ति है, इसमें जीव, अजीव पदार्थोंके प्रमाणका वर्णन है, इसके पद चौरासी लाख छत्तीस हजार हैं। इसप्रकार परिकर्मके पांच भेदोंके पद जोड़ने पर एक करोड़ इक्यासी लाख पांच हजार होते हैं।

बारहवें अंगका दूसरा भेद सूत्र नामका है, इसमें मिथ्यादर्शन सम्बन्धी तीनसौ तरेसठ कुवादोंका पूर्वपक्ष लेकर उनको जीव पदार्थ पर लगाने आदिका वर्णन है, इसके पद अठयासी लाख हैं। बारहवें अंगका तीसरा भेद प्रथमानुयोग है, इसमें प्रथम जीवके उपदेश योग्य तीर्थंकर आदि तरेसठ शलाका पुरुषोंका वर्णन है, इसके पद पाँच हजार हैं। बारहवें अंगका चौथा भेद पूर्वगत है, इसके चौदह भेद हैं, प्रथम उत्पाद नामका है इसमें जीव आदि वस्तुओंके उत्पाद व्यय ध्रौव्य आदि अनेक धर्मोंकी अपेक्षा भेद वर्णन है, इसके पद एक करोड़ हैं। दूसरा अग्रायणी नामका पूर्व है इसमें सातसौ सुनय दुर्नयका और षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व, नव पदार्थोंका वर्णन है, इसके छिनवें लाख पद हैं।

तीसरा वीर्यानुवाद नामका पूर्व है, इसमें छहद्रव्योंकी शक्तिरूप वीर्यका वर्णन है, इसके पद सत्तर लाख हैं। चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद नामका पूर्व है, इसमें जीवादिक वस्तुका स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा अस्ति, पररूप द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा नास्ति आदि अनेक धर्मोंमें विधि निषेध करके सप्तभंगके द्वारा कथंचित् विरोध मेटनेरूप मुख्य गौण करके वर्णन है, इसके पद साठ लाख हैं। पांचवां ज्ञानप्रवाद नामका पूर्व है, इसमें ज्ञानके भेदोंका स्वरूप, संख्या, विषय, फल आदिका वर्णन है इसके पद एक कम करोड़ हैं। छठा सत्यप्रवाद नामका पूर्व है, इसमें सत्य, असत्य आदि वचनोंकी अनेक प्रकारकी प्रवृत्तिका वर्णन है, इसके पद एक करोड़ छह हैं

सातवाँ आत्मप्रवाद नामका पूर्व है, इसमें आत्मा (जीव) पदार्थके कर्त्ता, भोक्ता, आदि अनेक धर्मोंका निश्चय–व्यवहारनयकी अपेक्षा वर्णन है, इसके पद छब्बीस करोड़ हैं।

आठवां कर्मप्रवाद नामका पूर्व है, इसमें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंके बंध, सत्व, उदय, उदीरणा आदिका तथा क्रियारूप कर्मोंका वर्णन है, इसके पद एक करोड़ अस्सी लाख हैं। नौवाँ प्रत्याख्यान नामका पूर्व है, इसमें पापके त्यागका अनेक प्रकारसे वर्णन है, इसके पद चौरासी लाख हैं। दसवाँ विद्यानुवाद नामका पूर्व है, इसमें सातसौ क्षुद्रविद्या और पांचसौ महाविद्याओंके स्वरूप, साधन, मंत्रादिक और सिद्ध हुए इनके फलका वर्णन है तथा अष्टांग निमित्तज्ञानका वर्णन है, इसके पद एक करोड़ दस लाख हैं। ग्यारहवां कल्याणवाद नामका पूर्व है, इसमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदिके गर्भ आदि कल्याणका उत्सव तथा इसके कारण षोडश भावनादिके तपश्चरणादिक तथा चन्द्रमा सूर्यादिकके गमन विशेष आदिका वर्णन है, इसके पद छब्बीस करोड़ हैं।

बारहवां प्राणवाद नामका पूर्व है, इसमें आठ प्रकार वैद्यक तथा भूतादिकका व्याधिके दूर करनेके मंत्रादिक तथा विष दूर करनेके उपाय और स्वरोदय आदिका वर्णन है, इसके तेरह करोड़ पद हैं। तेरहवां क्रियाविशाल नामका पूर्व है, इसमें संगीत-शास्त्र, छन्द, अलंकारादिक तथा चौसठ कला, गर्भाधानादि चौरासी क्रिया, सम्यग्दर्शन आदि एक सौ आठ क्रिया, देववंदनादि पच्चीस क्रिया, नित्य नैमित्तिक क्रिया इत्यादिका वर्णन है, इसके पद नव करोड़ हैं। चौदहवां त्रिलोकबिंदुसार नामका पूर्व है, इसमें तीनलोकका स्वरूप और बीजगणितका स्वरूप तथा मोक्षका स्वरूप तथा मोक्षकी कारणभूत क्रियाका स्वरूप इत्यादिका वर्णन है, इसके पद बारह करोड़ पचास लाख हैं। ऐसे चौदह पूर्व हैं, इनके सब पदोंका जोड़ पिच्याणवे करोड़ पचास लाख है।

बारहवें अंगका पांचवां भेद चूलिका है, इसके पाँच भेद हैं, इनके पद दो करोड़ नव लाख निवासी हजार दो सौ हैं। इसके प्रथम भेद जलगता चूलिकामें जलका स्तंभन करना, जलमें गमन करना। अग्निगता चूलिकामें अग्नि स्तंभन करना, अग्निमें प्रवेश करना, अग्निका भक्षण करना इत्यादिके कारणभूत मंत्र तंत्रादिकका प्ररूपण है, इसके पद दो करोड़ नव लाख निवासी हजार दो सौ हैं। इतने इतने ही पद अन्य चार चूलिकाके जानने। दूसरा भेद स्थलगता चूलिका है, इसमें मेरु पर्वत भूमि

इत्यादिमें प्रवेश करना शीघ्र गमन करना इत्यादि क्रियाके कारण मंत्र तंत्र तपश्चरणादिकका प्ररूपण है।

तीसरा भेद मायागता चूलिका है. इसमें मायामयी इन्द्रजाल विक्रियाके कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चरणादिकका प्ररूपण है। चौथा भेद रूपगता चलिका है, इसमें सिंह, हाथी, घोड़ा, बैल, हरिण इत्यादि अनेक प्रकारके रूप बना लेनेके कारण-भूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदिका प्ररूपण है तथा चित्राम, काष्ठलेपादिकका लक्षण वर्णन है और धातु रसायनका निरूपण है। पाँचवाँ भेद आकाशगता चूलिका है, इसमें आकाशमें गमनादिकके कारणभूत मंत्र यंत्र तंत्रादिकका प्ररूपण है। ऐसे बारहव अंग है। इस प्रकारसे बारह अंग सूत्र हैं।

अंगबाह्य श्रुतके चौदह प्रकीर्णक हैं। प्रथम प्रकीर्णक सामायिक नामका है इसमें नाम, स्थापना. द्रव्य. क्षेत्र, काल, भावके भेदसे छह प्रकार इत्यादि सामायिकका विशेषरूपने वर्णन है। दूसरा चतुर्विंशतिस्तव नामका प्रकीर्णक है, इसमें चौबीस तीर्थंकरोंकी महिमाका वर्णन है। तीसरा वंदना नामका प्रकीर्णक है, इसमें एक तीर्थंकरके आश्रय वन्दना स्तुतिका वर्णन है। चौथा प्रतिक्रमण नामका प्रकीर्णक है. इसमें सात प्रकारके प्रतिक्रमणका वर्णन है। पांचवां वैनयिक नामका प्रकीर्णक है, इसमें पांच प्रकारके विनयका वर्णन है। छठा कृतिकर्म नामका प्रकीर्णक है, इसमें अरहंत आदिकी वंदनाकी क्रियाका वर्णन है। सातवाँ दशवैकालिक नामका प्रकीर्णक है. इसमें मुनिका आचार, आहारकी शुद्धता आदिका वर्णन है। आठवां उत्तराध्ययन नामका प्रकीर्णक है, इसमें परीषह उपसर्गको सहनेके विधानका वर्णन है।

नववाँ कल्पव्यवहार नामका प्रकीर्णक है, इसमें मुनिके योग्य आचरण और अयोग्य सेवनके प्रायश्चित्तोंका वर्णन है। दसवां कल्पाकल्प नामका प्रकीर्णक है, इसमें मुनिको यह योग्य है यह अयोग्य है ऐसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा वर्णन है। ग्यारहवां महाकल्प नामका प्रकीर्णक है, इसमें जिनकल्पी मुनिके प्रतिमायोग, त्रिकाल-योगका प्ररूपण है तथा स्थविरकल्पी मुनियोंकी प्रवृत्तिका वर्णन है। बारहवां पुण्डरीक नामका प्रकीर्णक है, इसमें चार प्रकारके देवोंमें उत्पन्न होनेके कारणोंका वर्णन है। तेरहवाँ महापुण्डरीक नामका प्रकीर्णक है, इसमें इन्द्रादिक बड़ी ऋद्धिके धारक देवोंमें उत्पन्न होनेके कारणोंका प्ररूपण है। चौदहवां निषिद्धिका नामका प्रकीर्णक है, इसमे

अनेक प्रकारके दोषोंकी शुद्धताके निमित्त प्रायश्चित्तोंका प्ररूपण है, यह प्रायश्चित्त शास्त्र है, इसका नाम निर्मितिका भी है। इसप्रकार अंगबाह्य श्रुत चौदह प्रकारका है।

पूर्वोंकी उत्पत्ति पर्यायसमास ज्ञानसे लगाकर पूर्वज्ञानपर्यंत बीस भेद हैं इनका विशेष वर्णन, श्रुतज्ञानका वर्णन गोम्मटसार नामके ग्रन्थमें विस्तार पूर्वक है वहाँसे जानना ॥ २ ॥

आगे कहते हैं कि जो सूत्रमें प्रवीण है वह संसारका नाश करता है—

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ॥ ३ ॥

सूत्रे ज्ञायमानः भवस्य भवनाशनं च सः करोति।
सूची यथा असूत्रा नश्यति सूत्रेण सह नापि ॥ ३ ॥

अर्थः—जो पुरुष सूत्रको जाननेवाला है, प्रवीण है वह संसारमें जन्म होनेका नाश करता है जैसे लोहकी सूई सूत्र (डोरा) के बिना हो तो नष्ट हो जाय और डोरा सहित हो तो नष्ट नहीं हो यह दृष्टांत है ॥ ३ ॥

भावार्थः—सूत्रका ज्ञाता हो वह संसारका नाश करता है जैसे सूई डोरा सहित हो तो दृष्टिगोचर होकर मिल जावे, कभी भी नष्ट न हो और डोरेके बिना हो तो दीखे नहीं, नष्ट हो जाय इस प्रकार जानना ॥ ३ ॥

आगे सूईके दृष्टांतका दार्ष्टांत कहते हैं—

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।
सच्चेदण पच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥ ४॥

---

१ सुत्तम्मि' । २ 'सूत्रहि' पाठान्तर षट्पाहुड ।

सूत्रज्ञ जीव करे विनष्ट भवो तणा उत्पादने ।
खोवाय सोय असूत्र, सोय ससूत्र नहि खोवाय छे ॥३॥

आत्माय तेम ससूत्र नहि खोवाय, हो भवमां भले ।
अदृष्ट पण ते स्वानुभवप्रत्यक्षथी भवने हणे ॥४॥

पुरुषोऽपि यः ससूत्रः न विनश्यति स गतोऽपि संसारे ।
सच्चेतनप्रत्यक्षेण नाशयति तं सः अदृश्यमानोऽपि ।। ४ ।।

अर्थः—जैसे सूत्रसहित सूई नष्ट नहीं होती है वैसे ही जो पुरुष भी संसार में गत हो रहा है, अपना रूप अपने दृष्टिगोचर नहीं है तो भी सूत्रसहित हो (सूत्रका ज्ञाता हो) तो उसके आत्मा सत्तारूप चैतन्य चमत्कारमयी स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष अनुभव में आती है इसलिये गत नहीं है नष्ट नहीं हुआ है, वह जिस संसारमें गत है उस ससारका नाश करता है ।

भावार्थः—यद्यपि आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं है तो भी सूत्रके ज्ञाताके स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अनुभव गोचर है, वह सूत्रका ज्ञाता संसारका नाश करता है, आप प्रगट होता है इसलिये सूईका दृष्टांत युक्त है ।। ४ ।।

आगे सूत्रमें अर्थ क्या है वह कहते हैं—

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं ।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ।। ५ ।।

सूत्रार्थं जिनभणितं जीवाजीवादिबहुविधमर्थम् ।
हेयाहेयं च तथा यो जानति स हि सद्दृष्टिः ।।५।।

अर्थः—सूत्रका अर्थ जिन सर्वज्ञ देवने कहा है और सूत्रका अर्थ जीव अजीव आदि बहुत प्रकारका है तथा हेय अर्थात् त्यागने योग्य पुद्गलादिक और अहेय अर्थात् त्यागने योग्य नहीं इसप्रकार आत्माको जो जानता है वह प्रगट सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थः—सर्वज्ञभाषित सूत्रमें जीवादिक नवपदार्थ और इनमें हेय उपादेय इसप्रकार बहुत प्रकारसे व्याख्यान है उसको जानता है वह श्रद्धावान सम्यग्दृष्टि होता है ।।५।।

जिनसूत्रमां भाखेल जीव-अजीव आदि पदार्थ ने ।
हेयत्व-अणहेयत्व सह जाणे, सुदृष्टि तेह छे ।। ५ ।।

आगे कहते हैं कि जिनभाषित सूत्र व्यवहार परमार्थरूप दो प्रकार है, उसको जानकर योगीश्वर शुद्धभाव करके सुखको पाते हैं—

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो ।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥ ६ ॥

यत्सूत्रं जिनोक्तं व्यवहारं तथा च ज्ञानीहि परमार्थम् ।
तं ज्ञात्वा योगी लभते सुखं क्षिपते मलपुंजं ॥ ६ ॥

अर्थः—जो जिनभाषित सूत्र है, वह व्यवहाररूप तथा परमार्थरूप है, उसको योगीश्वर जानकर सुख पाते हैं और मलपुंज अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मका क्षेपण करते हैं ।

भावार्थः—जिनसूत्रको व्यवहार परमार्थरूप यथार्थ जानकर योगीश्वर (मुनि) कर्मोंका नाश करके अविनाशी सुखरूप मोक्षको पाते हैं । परमार्थ (निश्चय) और व्यवहार इनका संक्षेप स्वरूप इसप्रकार है—जिन आगमकी व्याख्या चार अनुयोगरूप शास्त्रोंमें दो प्रकारसे सिद्ध है, एक आगमरूप दूसरी अध्यात्मरूप । वहां सामान्य-विशेषरूपसे सब पदार्थोंका प्ररूपण करते हैं सो आगमरूप है परन्तु जहां एक आत्माहीके आश्रय निरूपण करते हैं सो अध्यात्म है । अहेतुमत् और हेतुमत् ऐसे भी दो प्रकार हैं, जहां सर्वज्ञकी आज्ञाहीसे केवल प्रमाणता मानना अहेतुमत् है और प्रमाण नयके द्वारा वस्तुकी निर्बाध सिद्धि करके मानना सो हेतुमत् है । इसप्रकार दो प्रकारसे आगममें निश्चय व्यवहारसे व्याख्यान है वह कुछ लिखनेमें आ रहा है ।

जब आगमरूप सब पदार्थोंके व्याख्यान पर लगाते हैं तब तो वस्तुका स्वरूप सामान्य विशेषरूप अनन्त धर्मस्वरूप है वह ज्ञानगम्य है, इनमें सामान्यरूप तो निश्चयनयका विषय है और विशेषरूप जितने हैं उनको भेदरूप करके भिन्न भिन्न कहे वह व्यवहारनयका विषय है, उसको द्रव्य पर्याय स्वरूप भी कहते हैं । जिस वस्तुको विवक्षित करके सिद्ध करना हो उसके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे जो कुछ सामान्य विशेष-रूप वस्तुका सर्वस्व हो तो निश्चय व्यवहारसे कहा है वैसे सिद्ध होता है और उस

जिन—उक्त छे जे सूत्र ते व्यवहार ने परमार्थ छे।
ते जाणी योगी सौख्यने पामे, दहे मलपुंजने ॥ ६ ॥

वस्तुके कुछ अन्य वस्तुके संयोगरूप अवस्था हो उसको उस वस्तुरूप कहना भी व्यवहार है, इसको उपचार भी कहते हैं। इसका उदाहरण ऐसे है—जैसे एक विवक्षित घट नामक वस्तु पर लगावें तब जिस घटका द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप सामान्य विशेषरूप जितना सर्वस्व है उतना कहा, वैसे निश्चय व्यवहारसे कहना वह तो निश्चय-व्यवहार है और घटके कुछ अन्य वस्तुका लेप करके उस घटको उस नामसे कहना तथा अन्य पटादिमें घटका आरोपण करके घट कहना भी व्यवहार है।

व्यवहारके दो आश्रय हैं, एक प्रयोजन, दूसरा निमित्त। प्रयोजन साधनेको किसी वस्तुको घट कहना वह तो प्रयोजनाश्रित है और किसी अन्य वस्तुके निमित्तसे घटमें अवस्था हुई उसको घटरूप कहना वह निमित्ताश्रित है। इसप्रकार विवक्षित सर्व जीव अजीव वस्तुओं पर लगाना। एक आत्माहीको प्रधान करके लगाना अध्यात्म है। जीव सामान्यको भी आत्मा कहते हैं। जो जीव अपनेको सब जीवोंसे भिन्न अनुभव करे उसको भी आत्मा कहते हैं, जब अपनेको सबसे भिन्न अनुभव करके, अपने पर निश्चय लगावे तब इसप्रकार जो आप अनादि अनन्त अविनाशी सब अन्य द्रव्योंसे भिन्न एक सामान्य विशेषरूप अनन्तधर्मात्मक द्रव्य पर्यायात्मक जीव नामक शुद्ध वस्तु है, वह कैसा है—

शुद्ध दर्शन ज्ञानमयी चेतनास्वरूप असाधारण धर्मको लिये हुए अनन्त शक्तिका धारक है, उसमें सामान्य भेद चेतना अनन्त शक्तिका समूह द्रव्य है। अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्य ये चेतनाके विशेष हैं वह तो गुण हैं और अगुरुलघु गुणके द्वारा षट्स्थान पतित हानि वृद्धिरूप परिणमन करते हुए जीवके त्रिकालात्मक अनन्त पर्यायें हैं। इसप्रकार शुद्ध जीव नामक वस्तुको सर्वज्ञने देखा जैसा आगममें प्रसिद्ध है वह तो एक अभेदरूप शुद्ध निश्चय नयका विषयभूत जीव है, इस दृष्टिसे अनुभव करे तब तो ऐसा है और अनन्त धर्मोंमें भेदरूप किसी एक धर्म को लेकर कहना व्यवहार है।

आत्मवस्तुके अनादिहीसे पुद्गल कर्मका संयोग है, इसके निमित्तसे रागद्वेषरूप विकारकी उत्पत्ति होती है उसको विभाव परिणति कहते हैं, इससे फिर आगामी कर्मका बंध होता है। इसप्रकार अनादि निमित्त-नैमित्तिक भावके द्वारा चतुर्गतिरूप संसार-भ्रमणकी प्रवृत्ति होती है। जिस गतिको प्राप्त हो वैसे ही नामका जीव कहलाता है तथा जैसा रागादिक भाव हो वैसा नाम कहलाता है। जब द्रव्य क्षेत्र काल भावकी बाह्यअंतरंग सामग्रीके निमित्तसे अपने शुद्धस्वरूप शुद्धनिश्चयनयके विषयस्वरूप अपनेको

जानकर श्रद्धान करे और कर्म संयोगको तथा उसके निमित्तसे अपने भाव होते हैं उनका यथार्थ स्वरूप जाने तब भेदज्ञान होता है, तब ही परभावोंसे विरक्ति होती है। फिर उनको दूर करनेका उपाय सर्वज्ञके आगमसे यथार्थ समझकर उसको अंगीकार करे तब अपने स्वभावमें स्थिर होकर अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं, सब कर्मोंका क्षय करके लोकशिखर पर जाकर विराजमान हो जाता है तब मुक्त या सिद्ध कहलाता है।

इसप्रकार जितनी संसार की अवस्था और यह मुक्त अवस्था इसप्रकार भेदरूप आत्माका निरूपण है वह भी व्यवहार नयका विषय है, इसको अध्यात्म-शास्त्रमें अभूतार्थ असत्यार्थ नामसे कहकर वर्णन किया है क्योंकि शुद्ध आत्मामें संयोगजनित अवस्था हो सो तो असत्यार्थ ही है, कुछ शुद्ध वस्तुका तो यह स्वभाव नहीं है इसलिये असत्य ही है। जो निमित्तसे अवस्था हुई वह भी आत्माहीका परिणाम है, जो आत्माका परिणाम है वह आत्माही में है इसलिये कथंचित् इसको सत्य भी कहते हैं परन्तु जब तक भेदज्ञान नहीं होता है तब तक ही यह दृष्टि है, भेदज्ञान होनेपर जैसे है वैसे ही जानता है।

जो द्रव्यरूप पुद्गलकर्म हैं वे आत्मा से भिन्न ही हैं उनसे शरीरादिका संयोग है वह आत्मासे प्रगट ही भिन्न है, इनको आत्माके कहते हैं सो यह व्यवहार प्रसिद्ध है ही, इसको असत्यार्थ या उपचार कहते हैं। यहाँ कर्मके संयोगजनित भाव हैं वे सब निमित्ताश्रित व्यवहारके विषय हैं और उपदेश अपेक्षा इसको प्रयोजनाश्रित भी कहते हैं, इसप्रकार निश्चय–व्यवहारका संक्षेप है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको मोक्षमार्ग कहा, यहाँ ऐसे समझना कि ये तीनों एक आत्माहीके भाव हैं, इसप्रकार इनरूप आत्माहीका अनुभव हो सो निश्चय मोक्षमार्ग है, इसमें भी जबतक अनुभवकी साक्षात् पूर्णता नहीं हो तबतक एकदेशरूप होता है उसको कथंचित् सर्वदेशरूप कहकर कहना व्यवहार है और एकदेश नामसे कहना निश्चय है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्रको भेदरूप कहकर मोक्षमार्ग कहे तथा इनके बाह्य परद्रव्य स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव निमित्त हैं उनको दर्शन ज्ञान चारित्रके नामसे कहे वह व्यवहार है। देव, गुरु, शास्त्रकी श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कहते हैं, जीवादिक तत्त्वोंकी श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कहते हैं। शास्त्रके ज्ञान अर्थात् जीवादिक पदार्थोंके ज्ञानको ज्ञान कहते हैं इत्यादि। पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्तिरूप प्रवृत्तिको चारित्र कहते

हैं। बारह प्रकारके तपको तप कहते हैं। ऐसे भेदरूप तथा परद्रव्यके आलम्बनरूप प्रवृत्तियाँ सब अध्यात्मशास्त्रकी अपेक्षा व्यवहारके नामसे कही जाती हैं क्योंकि वस्तुके एकदेशको वस्तु कहना भी व्यवहार है और परद्रव्यकी आलम्बनरूप प्रवृत्तिको उस वस्तुके नामसे कहना वह भी व्यवहार है।

अध्यात्म शास्त्रमें इस प्रकार भी वर्णन है कि वस्तु अनन्त धर्मरूप है इसलिये सामान्य–विशेषरूपसे तथा द्रव्य–पर्यायसे वर्णन करते हैं। द्रव्यमात्र कहना तथा पर्यायमात्र कहना व्यवहारका विषय है। द्रव्यका भी तथा पर्यायका भी निषेध करके वचन अगोचर कहना निश्चयनयका विषय है। द्रव्यरूप है वही पर्यायरूप है इसप्रकार दोनोंको ही प्रधान करके कहना प्रमाणका विषय है, इसका उदाहरण इसप्रकार है—जैसे जीवको चैतन्यरूप, नित्य, एक, अस्तिरूप इत्यादि अभेदमात्र कहना वह तो द्रव्यार्थिक नयका विषय है और ज्ञान-दर्शनरूप, अनित्य, अनेक, नास्तित्वरूप इत्यादि भेदरूप कहना पर्यायार्थिक नयका विषय है। दोनों ही प्रकारकी प्रधानताका निषेधमात्र वचन अगोचर कहना निश्चय नयका विषय है। दोनों ही प्रकारको प्रधान करके कहना प्रमाणका विषय है इत्यादि।

इसप्रकार निश्चय–व्यवहारका सामान्य अर्थात् संक्षेप स्वरूप है, उसको जानकर जैसे आगम–अध्यात्म शास्त्रोंमें विशेषरूपसे वर्णन हो उसको सूक्ष्मदृष्टिसे जानना, जिनमत अनेकांतस्वरूप स्याद्वाद है और नयोंके आश्रित कथन है। नयोंके परस्पर विरोधको स्याद्वाद दूर करता है, इसके विरोधका तथा अविरोधका स्वरूप अच्छी तरह जानना। यथार्थ तो गुरु आम्नाय ही से होता है परन्तु गुरुका निमित्त इस कालमें विरल हो गया, **इसलिये अपने ज्ञानका बल चले तब तक विशेषरूपसे समझते ही रहना, कुछ ज्ञानका लेश पाकर उद्धत नहीं होना, वर्तमान कालमें अल्पज्ञानी बहुत हैं इसलिये उनसे कुछ अभ्यास करके उनमें महन्त बनकर उद्धत होनेपर मद आ जाता है तब ज्ञान थकित हो जाता है** और विशेष समझने की अभिलाषा नहीं रहती है तब विपरीत होकर यद्वातद्वा–मनमाना कहने लग जाता है उससे अन्य जीवोंका श्रद्धान विपरीत हो जाता है, तब अपने अपराध का प्रसंग आता है, **इसलिये शास्त्रको समुद्र जानकर अल्पज्ञरूप ही अपना भाव रखना जिससे विशेष समझनेकी अभिलाषा बनी रहे,** इससे ज्ञानकी वृद्धि होती है।

अल्प ज्ञानियों में बैठकर महन्तबुद्धि रखे तब अपना प्राप्त ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, इसप्रकार जानकर निश्चय-व्यवहाररूप आगम की कथन पद्धतिको समझकर उसका श्रद्धान करके यथाशक्ति आचरण करना। इस कालमें गुरु संप्रदायके बिना महन्त नहीं बनना, जिन-आज्ञाका लोप नहीं करना। कोई कहते हैं—हम तो परीक्षा करके जिनमतको मानेंगे वे वृथा बकते हैं—स्वल्पबुद्धिका ज्ञान परीक्षा करने के योग्य नहीं है। आज्ञाको प्रधान रखकरके बने जितनी परीक्षा करनेमें दोष नहीं है, केवल परीक्षा ही को प्रधान रखनेमें जिनमतसे च्युत हो जाय तो बड़ा दोष आवे इसलिये जिनकी अपने हित-अहित पर दृष्टि है वे तो इसप्रकार जानो, और जिनको अल्प-ज्ञानियोंमें महंत बनकर अपने मान, लोभ, बड़ाई, विषय-कषाय पुष्ट करने हों उनकी बात नहीं है, वे तो जैसे अपने विषय-कषाय पुष्ट होंगे वैसे ही करेंगे, उनको मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं लगता है, विपरीतको किसका उपदेश? इसप्रकार जानना चाहिये ॥६॥

आगे कहते हैं कि जो सूत्रके अर्थ पदसे भ्रष्ट है उसको मिथ्यादृष्टि जानना—

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥ ७ ॥

सूत्रार्थपदविनष्टः मिथ्यादृष्टिः हि सः ज्ञातव्यः।
खेलेऽपि न कर्तव्यं पाणिपात्रं[1] सचेलस्य ॥७॥

अर्थ—जिसके सूत्रका अर्थ और पद विनष्ट है वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है इसीलिये जो सचेल है, वस्त्रसहित है उसको 'खेडे वि' अर्थात् हास्य कुतूहलमें भी पाणिपात्र अर्थात् हस्तरूप पात्रसे आहारदान नहीं करना।

भावार्थः—सूत्रमें मुनिका रूप नग्न दिगम्बर कहा है। जिसके ऐसा सूत्रका अर्थ तथा अक्षररूप पद विनष्ट है और आप वस्त्र धारण करके मुनि कहलाता है वह

१. पाणिपात्रे पाठान्तर

सूत्रार्थपदथी भ्रष्ट छे ते जीव मिथ्यादृष्टि छे।
करपात्रभोजन रमतमांय न योग्य होय सचेलने ॥७॥

जिन आज्ञासे भ्रष्ट हुआ प्रगट मिथ्यादृष्टि है, इसलिये वस्त्र सहितको हास्य कुतूहलसे भी पाणिपात्र अर्थात् आहारदान नहीं करना तथा इसप्रकार भी अर्थ होता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टिको पाणिपात्र आहार लेना योग्य नहीं है, ऐसा भेष हास्य कुतूहलसे भी धारण करना योग्य नहीं है, कि वस्त्रंसहित रहना और पाणिपात्र भोजन करना, इसप्रकारसे तो क्रीडामात्र भी नहीं करना ॥ ७ ॥

आगे कहते हैं कि जिनसूत्रसे भ्रष्ट हरि हरादिकके हो तुल्य तो भी मोक्ष नहीं पाता है—

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी ।
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ८ ॥

हरिहरतुल्योऽपि नरः स्वर्गं गच्छति एति भवकोटिः ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥८॥

अर्थः—जो मनुष्य सूत्रके अर्थ पदसे भ्रष्ट है वह हरि अर्थात् नारायण हर अर्थात् रुद्र इनके समान भी हो, अनेक ऋद्धि संयुक्त हो तो भी सिद्धि अर्थात् मोक्षको प्राप्त नहीं होता है । यदि कदाचित् दान पूजादिक करके पुण्य उपार्जन कर स्वर्ग चला जावे तो भी वहाँसे चय कर करोड़ों भव लेकर संसार ही में रहता है, इसप्रकार जिनागममें कहा है ।

भावार्थः—श्वेताम्बरादिक इसप्रकार कहते हैं कि—गृहस्थ आदि वस्त्र सहितको भी मोक्ष होता है इसप्रकार सूत्रमें कहा है, उसका इस गाथामें निषेधका आशय है कि—जो हरिहरादिक बड़ी सामर्थ्यके धारक भी हैं तो भी वस्त्र सहित तो मोक्ष नहीं पाते हैं । श्वेताम्बरों ने सूत्र कल्पित बनाये हैं उनमें यह लिखा है सो प्रमाणभूत नहीं है, वे श्वेताम्बर जिनसूत्रके अर्थ पदसे च्युत हो गये हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥८॥

आगे कहते हैं कि—जो जिनसूत्रसे च्युत हो गये हैं वे स्वच्छंद होकर प्रवर्तते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं:—

हरितुल्य हो पण स्वर्ग पामे, कोटि कोटि भवे भमे ।
पण सिद्धि नव पामे, रहे संसारस्थित-आगम कहे ॥८॥

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छंदि होदि मिच्छत्तं ॥ ९॥

उत्कृष्ट सिंहचरितः बहुपरिकर्मा च गुरुभारश्च ।
यः विहरति स्वच्छंदं पापं गच्छति भवति मिथ्यात्वम् ॥ ९ ॥

अर्थः—जो मुनि होकर उत्कृष्ट सिंहके समान निर्भय हुआ आचरण करता है और बहुत परिकर्म अर्थात् तपश्चरणादिक्रिया विशेषोंसे युक्त है तथा गुरुके भार अर्थात् बड़ा पदस्थरूप है, संघ नायक कहलाता है परन्तु जिनसूत्रसे च्युत होकर स्वच्छंद प्रवर्तता है तो वह पापहीको प्राप्त होता है और मिथ्यात्वको प्राप्त होता है ।

भावार्थः—जो धर्मका नायकपना लेकर—गुरु बनकर निर्भय हो तपश्चरणादिक से बड़ा कहलाकर अपना संप्रदाय चलाता है, जिनसूत्रसे च्युत होकर स्वेच्छाचारी प्रवर्तता है तो वह पापी मिथ्यादृष्टि ही है उसका प्रसंग भी श्रेष्ठ नहीं है ॥ ९ ॥

आगे कहते हैं कि—जिनसूत्रमें ऐसा मोक्षमार्ग कहा है—

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं ।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥ १० ॥

निश्चेलपाणिपात्रं उपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैः ।
एकोऽपि मोक्षमार्गः शेषाश्च अमार्गा सर्वे: ॥ १० ॥

अर्थः—जो निश्चेल अर्थात् वस्त्ररहित दिगम्बर मुद्रास्वरूप और पाणिपात्र अर्थात् हाथरूपी पात्रमें खड़े खड़े आहार करना इसप्रकार एक अद्वितीय मोक्षमार्ग तीर्थंकर परमदेव जिनेन्द्रने उपदेश दिया है, इसके सिवाय अन्य रीति सब अमार्ग हैं ।

स्वच्छन्द वर्ते तेह पामे पापने मिथ्यात्वने ।
गुरुभारधर, उत्कृष्ट सिंहचरित्र, बहुतपकर भले ॥ ९ ॥

निश्चेल-करपात्रत्व परमजिनेन्द्रथी उपदिष्ट छे ।
ते एक मुक्तिमार्ग छे ने शेष सर्व अमार्ग छे ॥ १० ॥

भावार्थः—जो मृगचर्म, वृक्षके वल्कल, कपास पट्ट, दुकूल, रोमवस्त्र, टाटके और तृणके वस्त्र इत्यादि रखकर अपनेको मोक्षमार्गी मानते हैं तथा इस कालमें जिनसूत्रसे च्युत हो गये हैं. उन्होंने अपनी इच्छासे अनेक भेष चलाये हैं, कई श्वेत वस्त्र रखते हैं, कई रक्त वस्त्र, कई पीले वस्त्र, कई टाटके वस्त्र, कई घासके वस्त्र और कई रोमके वस्त्र आदि रखते हैं, उनके मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि जिनसूत्रमें तो एक नग्न दिगम्बर स्वरूप पाणिपात्र भोजन करना इसप्रकार मोक्षमार्गमें कहा है. अन्य सब भेष मोक्षमार्ग नहीं है और जो मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं ॥ १० ॥

आगे दिगम्बर मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति कहते हैं:—

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि ।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥ ११ ॥

यः संयमेषु सहितः आरंभपरिग्रहेषु विरतः अपि ।
सः भवति वंदनीयः ससुरासुरमानुषे लोके ॥११॥

अर्थः—जो दिगम्बर मुद्राका धारक मुनि इन्द्रिय-मनको वशमें करना, छहकायके जीवोंकी दया करना इसप्रकार संयम सहित हो और आरम्भ अर्थात् गृहस्थके सब आरम्भोंसे तथा बाह्यअभ्यन्तर परिग्रहसे विरक्त हो इनमें नहीं प्रवर्ते तथा आदि शब्दसे ब्रह्मचर्य आदि गुणोंसे युक्त हो वह देव-दानव सहित मनुष्यलोकमें वंदने योग्य है, अन्य भेषी परिग्रह-आरंभादिसे युक्त पाखण्डी (ढोंगी) वंदने योग्य नहीं है ॥ ११ ॥

आगे फिर उनकी प्रवृत्तिका विशेष कहते हैं:—

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता ।
ते होंति[1] वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥१२॥

---

[1] पाठान्तर—होंति

जे जीव संयमयुक्त ने आरम्भपरिग्रहविरत छे ।
ते देव-दानव-मानवोना लोकत्रयमां वंद्य छे ॥११॥

बावीश परिषहने सहे छे. शक्तिशतसंयुक्त जे ।
ते कर्मक्षय ने निर्जरामां निपुण मुनिओ वंद्य छे ॥१२॥

ये द्वाविंशतिपरीषहान् सहंते शक्तिशतैः संयुक्ताः ।
ते भवंति वंदनीयाः कर्मक्षयनिर्जरासाधवः ।। १२ ।।

अर्थः—जो साधु मुनि अपनी शक्तिके सैंकडोंसे युक्त होते हुए क्षुधा, तृषादिक बाईस परीषहोंको सहते हैं और कर्मोंकी क्षयरूप निर्जरा करनेमें प्रवीण हैं वे साधु वंदने योग्य हैं ।

भावार्थः—जो बड़ी शक्तिके धारक साधु हैं वे परीषहोंको सहते हैं, परीषह आने पर अपने पदसे च्युत नहीं होते हैं उनके कर्मोंकी निर्जरा होती है, वे वंदने योग्य हैं ।।१२।।

आगे कहते हैं कि जो दिगम्बरमुद्रा सिवाय कोई वस्त्र धारण करे, सम्यग्दर्शन ज्ञानसे युक्त हों वे इच्छाकार करने योग्य हैं:—

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जा य ॥ १३ ॥

अवशेषा ये लिंगिनः दर्शनज्ञानेन सम्यक् संयुक्ता ।
चेलेन च परिगृहीताः ते भणिता इच्छाकारयोग्याः ।। १३ ।।

अर्थः—दिगम्बरमुद्रा सिवाय जो अवशेष लिंगी भेष संयुक्त और सम्यक्त्व सहित दर्शन ज्ञान संयुक्त हैं तथा वस्त्रसे परिगृहीत हैं, वस्त्र धारण करते हैं वे इच्छाकार करने योग्य हैं ।

भावार्थः—जो सम्यग्दर्शन ज्ञान संयुक्त हैं और उत्कृष्ट श्रावकका भेष धारण करते हैं, एक वस्त्र मात्र परिग्रह रखते हैं वे इच्छाकार करने योग्य हैं इसलिये 'इच्छामि' इसप्रकार कहते हैं । इसका अर्थ है कि–मैं आपको इच्छूं हूँ, चाहता हूँ ऐसा 'इच्छामि' शब्दका अर्थ है । इसप्रकारसे इच्छाकार करना जिनसूत्रमें कहा है ।।१३।।

आगे इच्छाकार योग्य श्रावकका स्वरूप कहते हैं—

अवशेष लिंगी जेह सम्यक् ज्ञान–दर्शनयुक्त छे ।
ने वस्त्र धारे जेह, ते छे योग्य इच्छाकारने ॥ १३ ॥

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं ।
ठाणे ट्ठियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होदि ॥१४॥

इच्छाकारमहार्थं सूत्रस्थितः यः स्फुटं त्यजति कर्म ।
स्थाने स्थितसम्यक्त्वः परलोकसुखंकरः भवति ॥१४॥

अर्थः—जो पुरुष जिनसूत्रमें तिष्ठता हुआ इच्छाकार शब्दके महान प्रधान अर्थको जानता है और स्थान जो श्रावकके भेदरूप प्रतिमाओंमें तिष्ठता हुआ सम्यक्त्व महित वर्तता है आरंभ आदि कर्मोंको छोड़ता है वह परलोकमें सुख करनेवाला होता है।

भावार्थः—उत्कृष्ट श्रावकको इच्छाकार करते हैं सो जो इच्छाकारके प्रधान अर्थको जानता है और सूत्र अनुसार सम्यक्त्व सहित आरंभादिक छोड़कर उत्कृष्ट श्रावक होता है वह परलोकमें स्वर्गका सुख पाता है ॥१४॥

आगे कहते हैं कि जो इच्छाकारके प्रधान अर्थको नहीं जानता है और अन्य धर्मका आचरण करता है वह सिद्धिको नहीं पाता है :—

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं ।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥१५॥

अथ पुनः आत्मानं नेच्छति धर्मान् करोति निरवशेषान् ।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥१५॥

अर्थः—'अथ पुनः' शब्दका ऐसा अर्थ है कि—पहिली गाथामें कहा था कि जो इच्छाकारके प्रधान अर्थको जानता है वह आचरण करके स्वर्गसुख पाता है, वही अब फिर कहते हैं कि इच्छाकारका प्रधान अर्थ आत्माको चाहना है, अपने स्वरूपमें

सूत्रस्थ सम्यग्दृष्टियुत जे जीव छोडे कर्मने ।
'इच्छामि' योग्य पदस्थ ते परलोकगत सुखने लहे ॥ १४ ॥

पण आत्मने इच्छया विना धर्मो अशेष करे भले ।
तोपण लहे नहि सिद्धिने, भवमां भमे-आगम कहे ॥ १५ ॥

रुचि करना है वह इसको जो इष्ट नहीं करता है और अन्य धर्मके समस्त आचरण करता है तो भी सिद्धि अर्थात् मोक्षको नहीं पाता है और उसको संसारमें ही रहनेवाला कहा है ।

भावार्थः—इच्छाकारका प्रधान अर्थ आपको चाहना है सो जिसके अपने स्वरूपकी रुचिरूप सम्यक्त्व नहीं है, उसके सब मुनि श्रावककी आचरणरूप प्रवृत्ति मोक्षका कारण नहीं है ।। १५ ।।

आगे इसही अर्थको दृढ़ करके उपदेश करते हैं:—

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण ।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ।। १६ ।।

एतेन कारणेन च तं आत्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन ।
येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ।। ।।१६ ।।

अर्थः—पहिले कहा कि जो आत्माको इष्ट नहीं करता है उसके सिद्धि नहीं है, इस ही कारणसे हे भव्यजीवों ! तुम उस आत्माकी श्रद्धा करो, उसका श्रद्धान करो, मन-वचन-कायसे स्वरूपमें रुचि करो, इस कारणसे मोक्षको पाओ और जिससे मोक्ष पाते हैं उसको प्रयत्न द्वारा सब प्रकारके उद्यम करके जानो। (भाव पाहुड गा० ८७ में भी यह बात है।)

भावार्थः—जिससे मोक्ष पाते हैं उसहीको जानना, श्रद्धान करना यह प्रधान उपदेश है, अन्य आडम्बरसे क्या प्रयोजन ? इसप्रकार जानना ।। १६ ।।

आगे कहते हैं कि जो जिनसूत्रको जाननेवाले मुनि हैं उनका स्वरूप फिर दृढ़ करनेको कहते हैं:—

वालग्गकोडिमेत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं ।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ।। १७ ।।

आ कारणे ते आत्मनी त्रिविधे तमे श्रद्धा करो ।
ते आत्मने जाणो प्रयत्ने, मुक्तिने जेथी वरो ।। १६ ।।
रे ! होय नहि बालाग्रनी अणीमात्र परिग्रह साधुने ।
करपात्रमां परदत्त भोजन एक स्थान विषे करे ।। १७ ।।

बालाग्रकोटिमात्रं परिग्रहग्रहणं न भवति साधूनाम् ।
भुंजीत पाणिपात्रे दत्तमन्येन एकस्थाने ॥ १७ ॥

अर्थः—बालके अग्रभावकी कोटि अर्थात् अणी मात्र भी परिग्रहका ग्रहण साधुके नहीं होता है, यहाँ आशंका है कि यदि परिग्रह कुछ भी नहीं है तो आहार कैसे करते हैं? इसका समाधान करते हैं—आहार करते हैं सो पाणिपात्र (करपात्र) अपने हाथही में भोजन करते हैं, वह भी अन्यका दिया हुआ प्रासुक अन्न मात्र लेते हैं वह भी एक स्थान पर ही लेते हैं, बारबार नहीं लेते हैं और अन्य अन्य स्थानमें नहीं लेते हैं ।

भावार्थः—जो मुनि आहार ही परका दिया हुआ प्रासुक योग्य अन्नमात्र निर्दोष एकबार दिनमें अपने हाथमें लेते हैं तो अन्य परिग्रह किसलिये ग्रहण करे? अर्थात् नहीं ग्रहण करे, जिनसूत्रमें इसप्रकार मुनि कहे हैं ॥ १७ ॥

आगे कहते हैं कि अल्प परिग्रह ग्रहण करे उसमें दोष क्या है? उसको दोष दिखाते हैं:—

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम् ॥१८॥

यथाजातरूपसदृशः तिलतुषमात्रं न गृह्णाति हस्तयोः ।
यदि लाति अल्पबहुकं ततः पुनः याति निगोदम् ॥१८॥

अर्थः—मुनि यथाजातरूप है जैसे जन्मता बालक नग्नरूप होता है वैसेही नग्न रूप दिगम्बर मुद्राका धारक है, वह अपने हाथसे तिलके तुषमात्र भी कुछ ग्रहण नहीं करता है और यदि कुछ थोड़ा बहुत लेवे ग्रहण करे तो वह मुनि ग्रहण करनेसे निगोदमें जाता है ।

भावार्थः—मुनि यथाजातरूप दिगम्बर निर्ग्रंथको कहते हैं वह इसप्रकार होकरके भी कुछ परिग्रह रखे तो जानो कि इनके जिनसूत्रकी श्रद्धा नहीं है, मिथ्यादृष्टि

जन्म्या प्रमाणे रूप, तलतुपमात्र करमां नव ग्रहे।
थोडुं घणुं पण जो ग्रहे तो प्राप्त थाय निगोदने।।१८॥

है इसलिये मिथ्यात्वका फल निगोद ही है, कदाचित् कुछ तपश्चरणादिक करे तो उससे शुभकर्म बांधकर स्वर्गादिक पावे तो भी फिर एकेन्द्रिय होकर संसारहीमें भ्रमण करता है।

यहाँ प्रश्न है कि—मुनिके शरीर है, आहार करता है, कमंडलु पीछी पुस्तक रखता है, यहाँ तिल तुषमात्र भी रखना नहीं कहा, सो कैसे?

इसका समाधान यह है कि—मिथ्यात्व सहित रागभावसे अपनाकर अपने विषय कषाय पुष्ट करनेके लिए रखे उसको परिग्रह कहते हैं, इस निमित्त कुछ थोड़ा बहुत रखनेका निषेध किया है और केवल संयमके निमित्तका तो सर्वथा निषेध नहीं है। शरीर तो आयु पर्यन्त छोड़ने पर भी छूटता नहीं है, इसका तो ममत्व ही छूटता है सो उसीका निषेध किया ही है। जब तक शरीर है तब तक आहार नहीं करे तो सामर्थ्य ही नहीं हो, तब संयम नहीं सधे, इसलिये कुछ योग्य आहार विधिपूर्वक शरीरसे रागरहित होते हुए लेकरके शरीरको खड़ा रखकर संयम साधते हैं।

कमंडलु बाह्य शौचका उपकरण है, यदि नहीं रखे तो मलमूत्रकी अशुचितासे पंच परमेष्ठीकी भक्ति वंदना कैसे करे और लोकनिंद्य हो। पीछी दयाका उपकरण है, यदि नहीं रखे तो जीवसहित भूमि आदिकी प्रतिलेखना किससे करे। पुस्तक ज्ञानका उपकरण है यदि नहीं रखे तो पठन–पाठन कैसे हो। इन उपकरणोंका रखना भी ममत्व पूर्वक नहीं है, इनसे रागभाव नहीं है। आहार विहार पठन पाठनकी क्रियायुक्त जबतक रहे तबतक केवलज्ञान भी उत्पन्न नहीं होता है, इन सब क्रियाओंको छोड़कर शरीरका भी सर्वथा ममत्व छोड़ ध्यान अवस्था लेकर तिष्ठे, अपने स्वरूपमें लीन हो तब परम निर्ग्रंथ अवस्था होती है, तब श्रेणीको प्राप्त हुए मुनिराजके केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अन्य क्रिया सहित हो तबतक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, इसप्रकार निर्ग्रंथपना मोक्षमार्ग जिनसूत्रमें कहा है।

श्वेताम्बर कहते हैं कि भवस्थिति पूरी होने पर सब अवस्थाओंमें केवलज्ञान उत्पन्न होता है तो यह कहना मिथ्या है, जिनसूत्रका यह वचन नहीं है, इन श्वेताम्बरोंने कल्पित सूत्र बनाये हैं उनमें लिखा होगा। फिर यहाँ श्वेताम्बर कहते हैं कि जो तुमने कहा वह तो उत्सर्गमार्ग है, अपवाद मार्गमें वस्त्रादिक उपकरण रखना कहा है, जैसे

तुमने धर्मोपकरण कहे वैसेही वस्त्रादिक भी धर्मोपकरण हैं, जैसे क्षुधाकी बाधा आहारसे मिटाकर संयम साधते हैं, वैसे ही शीत आदिकी बाधा वस्त्र आदिसे मिटाकर संयम साधते हैं, इसमें विशेष क्या? इसको कहते हैं कि इसमें तो बड़े दोष आते हैं तथा कोई कहते हैं कि काम विकार उत्पन्न हो तब स्त्री सेवन करे तो इसमें क्या विशेष? इसलिये इसप्रकार कहना युक्त नहीं है।

क्षुधाकी बाधा तो आहारसे मिटाना युक्त है, आहारके बिना देह अशक्त हो जाता है तथा छूट जावे तो अपघातका दोष आता है परन्तु शीत आदिकी बाधा तो अल्प है यह तो ज्ञानाभ्यास आदिके साधनसे ही मिट जाती है। अपवादमार्ग कहा वह तो जिसमें मुनिपद रहे ऐसी क्रिया करना तो अपवादमार्ग है परन्तु जिस परिग्रहसे तथा जिस क्रियासे मुनिपद भ्रष्ट होकर गृहस्थके समान होजावे वह तो अपवादमार्ग नहीं है। दिगम्बर मुद्रा धारण करके कमडलु पीछी सहित आहार विहार उपदेशादिकमें प्रवर्ते वह अपवादमार्ग है और सब प्रवृत्तिको छोड़कर ध्यानस्थ हो शुद्धोपयोगमें लीन होजानेको उत्सर्गमार्ग कहा है। इसप्रकार मुनिपद अपनेसे सधता न जानकर किसलिये शिथिलाचारका पोषण करना? मुनिपदकी सामर्थ्य न हो तो श्रावकधर्महीका पालन करना, परम्परासे इसीसे सिद्धि हो जावेगी। जिनसूत्रकी यथार्थ श्रद्धा रखनेसे सिद्धि है इसके बिना अन्य क्रिया सब ही संसारमार्ग है मोक्षमार्ग नहीं है, इसप्रकार जानना ॥ १८ ॥

आगे इसहीका समर्थन करते हैं:—

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो॥ १९॥

यस्य परिग्रहग्रहणं अल्पं बहुकं च भवति लिंगस्य।
स गर्ह्यः जिनवचने परिग्रहरहितः निरागारः॥ १९॥

अर्थः—जिसके मतमें लिंग जो भेष उसके परिग्रहका अल्प तथा बहुत ग्रहण करना कहा है वह मत तथा उसका श्रद्धावान पुरुष गर्हित है, निंदायोग्य

रे! होय बहु वा अल्प परिग्रह साधुने जेना मते।
ते निंद्य छे; जिनवचनमां मुनि निष्परिग्रह होय छे॥ १९॥

है क्योंकि जिनवचनमें परिग्रह रहित ही निरागार है, निर्दोष मुनि है, इसप्रकार कहा है।

भावार्थः—श्वेताम्बरादिकके कल्पित सूत्रोंमें भेषमें अल्प बहुत परिग्रहका ग्रहण कहा है, वह सिद्धान्त तथा उसके श्रद्धानी निंद्य हैं। जिनवचनमें परिग्रह रहितको ही निर्दोष मुनि कहा है ॥ १९ ॥

आगे कहते हैं कि जिनवचनमें ऐसा मुनि वन्दने योग्य कहा है:—

पंचमहव्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥ २० ॥

पंचमहाव्रतयुक्तः तिसृभिः गुप्तिभिः यः स संयतो भवति।
निर्ग्रंथमोक्षमार्गः स भवति हि वन्दनीयः च ॥ २० ॥

अर्थः—जो मुनि पंच महाव्रत युक्त हो और तीन गुप्ति संयुक्त हो वह संयत है, संयमवान है और निर्ग्रंथ मोक्षमार्ग है तथा वह ही प्रगट निश्चयसे वंदने योग्य है।

भावार्थः—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रत सहित हो और मन, वचन, कायरूप तीन गुप्ति सहित हो वह संयमी है, वह निर्ग्रंथ स्वरूप है, वह ही वंदने योग्य है। जो कुछ अल्प बहुत परिग्रह रखे सो महाव्रती संयमी नहीं है, यह मोक्षमार्ग नहीं है और गृहस्थके समान भी नहीं है ॥ २० ॥

आगे कहते हैं कि पूर्वोक्त एक भेष तो मुनिका कहा, अब दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावकका इसप्रकार कहा है:—

दुइयं च उत्त लिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ॥ २१ ॥

त्रण गुप्ति, पंच महाव्रते जे युक्त, संयत तेह छे।
निर्ग्रन्थ मुक्तिमार्ग छे ते; ते खरेखर वंद्य छे ॥ २० ॥

बीजुं कह्युं छे लिंग उत्तम श्रावकोनुं शासने।
ते वाक्‌समिति वा मौनयुक्त सपात्र भिक्षाटन करे ॥ २१ ॥

द्वितीयं चोक्तं लिंगं उत्कृष्टं अवरश्रावकाणां च ।
भिक्षां भ्रमति पात्रे समितिभाषया मौनेन ।।२१।।

अर्थः—द्वितीय लिंग अर्थात् दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावक जो गृहस्थ नहीं है इसप्रकार उत्कृष्ट श्रावकका कहा है, वह उत्कृष्ट श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक है, वह भ्रमण करके भिक्षा द्वारा भोजन करे और पत्ते अर्थात् पात्रमें भोजन करे तथा हाथमें करे और समितिरूप प्रवर्तता हुआ भाषासमितिरूप बोले अथवा मौनसे रहे ।

भावार्थः—एक तो मुनिका यथाजातरूप कहा और दूसरा यह उत्कृष्ट श्रावकका कहा वह ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक उत्कृष्ट श्रावक है, वह एक वस्त्र तथा कोपीन मात्र धारण करता है और भिक्षा भोजन करता है, पात्र में भी भोजन करता है और करपात्रमें भी करता है, समितिरूप वचन भी कहता है अथवा मौन भी रखता है इसप्रकार यह दूसरा भेष है ।।२१।।

आगे तीसरा लिंग स्त्रीका कहते हैं:—

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि ।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेदि ।।२२।।

लिंगं स्त्रीणां भवति भुंक्ते पिंडं स्वेक काले ।
आर्या अपि एकवस्त्रा वस्त्रावरणेन भुंक्ते ।।२२।।

अर्थः—स्त्रियोंका लिंग इसप्रकार है—एककालमें भोजन करे, बारबार भोजन नहीं करे, आर्यिका भी हो तो एक वस्त्र धारण करे और भोजन करते समय भी वस्त्रके आवरण सहित करे, नग्न नहीं हो ।

भावार्थः—स्त्री आर्यिका भी हो और क्षुल्लिका भी हो वह दोनों ही भोजन तो दिनमें एकबार ही करे, आर्यिका हो वह एक वस्त्र धारण किये हुए ही ही भोजन करे, नग्न नहीं हो। इसप्रकार तीसरा स्त्रीका लिंग है ।।२२।।

छे लिंग एक स्त्रीओ तणुं, एकाशनी ते होय छे ।
अर्याय एक धरे वसन, वस्त्रावृता भोजन करे ।।२२।।

आगे कहते हैं कि—वस्त्र धारकके मोक्ष नहीं है, मोक्षमार्ग नग्नपणा ही है:—

ण वि सिज्झदि वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥

नापि सिध्यति वस्त्रधरः जिनशासने यद्यपि भवति तीर्थंकरः ।
नग्नः विमोक्षमार्गः शेषा उन्मार्गकाः सर्वे ॥ २३ ॥

अर्थः—जिनशासनमें इसप्रकार कहा है कि वस्त्रको धारण करनेवाला सीझता नहीं है, मोक्ष नहीं पाता है, यदि तीर्थंकर भी हो तो जबतक गृहस्थ रहे तबतक मोक्ष नहीं पाता है, दीक्षा लेकर दिगम्बररूप धारण करे तब मोक्ष पावे क्योंकि नग्नपना ही मोक्षमार्ग है, शेष सब लिंग उन्मार्ग हैं।

भावार्थः—श्वेताम्बर आदि वस्त्रधारकके भी मोक्ष होना कहते हैं वह मिथ्या है, यह जिनमत नहीं है ॥ २३ ॥

आगे स्त्रियोंको दीक्षा नहीं है इसका कारण कहते हैं:—

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहुमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्जा ॥ २४ ॥

लिंगे च स्त्रीणां स्तनांतरे नाभिकक्षदेशेषु ।
भणितः सूक्ष्मः कायः तासां कथं भवति प्रव्रज्या ॥ २४ ॥

अर्थः—स्त्रियोंके लिंग अर्थात् योनिमें, स्तनांतर अर्थात् दोनों कुचोंके मध्यप्रदेशमें तथा कक्ष अर्थात् दोनों कांखोंमें, नाभिमें सूक्ष्मकाय अर्थात् दृष्टिके अगोचर जीव कहे हैं अतः इसप्रकार स्त्रियोंके [1]प्रवज्या अर्थात् दीक्षा कैसे हो?

---

१. पाठान्तर—प्रव्रज्या।

नहि वस्त्रधर सिद्धि लहे, ते होय तीर्थंकर भले।
बस नग्न मुक्तिमार्ग छे, बाकी बधा उन्मार्ग छे ॥ २३ ॥

स्त्रीने स्तनोनी पास, कक्षे, योनिमां, नाभि विषे।
बहुसूक्ष्म जीव कहेल छे; क्यम होय दीक्षा तेमने ॥ २४ ॥

भावार्थः—स्त्रियोंके योनि, स्तन, कांख, नाभिमें पंचेन्द्रिय जीवोंकी उत्पत्ति निरंतर कही है, इनके महाव्रतरूप दीक्षा कैसे हो? महाव्रत कहे हैं वह उपचारसे कहे हैं, परमार्थ से नहीं है, स्त्री अपने सामर्थ्यकी हद्द को पहुँचकर व्रत धारण करती है, इस अपेक्षासे उपचारसे महाव्रत कहे हैं ।। २४।।

आगे कहते हैं कि यदि स्त्री भी दर्शनसे शुद्ध हो तो पापरहित है भली है:—

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण [1]पव्वया भणिया ।। २५।।

यदि दर्शनेन शुद्धा उक्ता मार्गेण सापि संयुक्ता।
घोरं चरित्वा चारित्रं स्त्रीषु न पापका भणिता ।। २५ ।।

अर्थः—स्त्रियोंमें जो स्त्री दर्शन अर्थात् यथार्थ जिनमतकी श्रद्धासे शुद्ध है वह भी मार्गसे संयुक्त कही गई है। जो घोर चारित्र तीव्र तपश्चरणादिक आचरणसे पापरहित होती है इसलिये उसे पापयुक्त नहीं कहते हैं।

भावार्थः—स्त्रियोंमें जो स्त्री सम्यक्त्व सहित हो और तपश्चरण करे तो पापरहित होकर स्वर्गको प्राप्त हो इसलिये प्रशंसा योग्य है परन्तु स्त्रीपर्यायसे मोक्ष नहीं है ।। २५ ।।

आगे कहते हैं कि स्त्रियोंके ध्यानकी सिद्धि भी नहीं है:—

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण सकया झाणा ।। २६ ।।

चित्ताशोधि न तेषां शिथिलः भावः तथा स्वभावेन।
विद्यते मासा तेषां स्त्रीषु न शंकया ध्यानम् ।। २६ ।।

---

१ पाठान्तर—पावया।

जे होय दर्शनशुद्ध तो तेनेय मार्गयुता कही।
छो चरण घोर चरे छतां स्त्रीने नथी दीक्षा कही ।। २५ ।।

मनशुद्धि पूरी न नारीने, परिणाम शिथिल स्वभावथी।
वर्ते होय मासिक धर्म, स्त्रीने ध्यान नहि निःशंकथी ।। २६ ।।

अर्थः—उन स्त्रियोंके चित्तकी शुद्धता नहीं है, वैसेही स्वभावहीसे उनके ढीला भाव है, शिथिल परिणाम है और उनके मासा अर्थात् मासमासमें रुधिरका स्राव विद्यमान है उसकी शंका रहती है उससे स्त्रियोंके ध्यान नहीं है।

भावार्थः—ध्यान होता है वह चित्त शुद्ध हो, दृढ़ परिणाम हो, किसी तरहकी शंका न हो तब होता है सो स्त्रियोंके तीनों ही कारण नहीं हैं तब ध्यान कैसे हो? ध्यानके बिना केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो और केवलज्ञानके बिना मोक्ष नहीं है श्वेताम्बरादिक मोक्ष कहते हैं वह मिथ्या है ।। २६ ।।

आगे सूत्रपाहुडको समाप्त करते हैं, सामान्यरूपसे सुखका कारण कहते हैं:—

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण।
इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुक्खाइं ॥ २७॥

ग्राह्येण अल्पग्राह्याः समुद्रसलिले स्वचेलार्थेन ।
इच्छा येभ्यः निवृत्ताः तेषां निवृत्तानि सर्वदुःखानि ।।२७।।

अर्थः—जो मुनि ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य वस्तु आहार आदिकसे तो अल्पग्राह्य हैं, थोड़ा ग्रहण करते हैं, जैसे कोई पुरुष बहुत जलसे भरे हुए समुद्रमेंसे अपने वस्त्रको धोनेके लिये वस्त्र धोनेमात्र जल ग्रहण करता है और जिन मुनियोंके इच्छा निवृत्त हो गई उनके सब दुःख निवृत्त हो गये।

भावार्थः—जगतमें यह प्रसिद्ध है कि जिनके संतोष है वे सुखी हैं इस न्यायसे यह सिद्ध हुआ कि जिन मुनियोंके इच्छाकी निवृत्ति होगई है, उनके संसारके विषयसंबंधी इच्छा किंचित् मात्र भी नहीं है, देहसे भी विरक्त हैं इसलिये परम संतोषी हैं और आहारादि कुछ ग्रहण योग्य हैं उनमेंसे भी अल्पको ग्रहण करते हैं इसलिये वे परम संतोषी हैं, वे परम सुखी हैं, यह जिनसूत्रके श्रद्धानका फल है, अन्य सूत्रमें यथार्थ

पटशुद्धिमात्र समुद्रजलवत् ग्राह्य पण अल्प ज ग्रहे।
इच्छा निवर्ती जेमने, दुख सौ निवर्त्यां तेमने ।। २७ ।।

निवृत्तिका प्ररूपण नहीं है इसलिये कल्याणके सुखको चाहनेवालोंको जिनसूत्रका निरंतर सेवन करना योग्य है ॥ २७ ॥

ऐसे सूत्रपाहुडको पूर्ण किया ।

❀ छप्पय ❀

जिनवरकी ध्वनि मेघध्वनिसम मुखतैं गरजै
गणधरके श्रुति भूमि वरषि अक्षर पद सरजै
सकल तत्त्व परकास करै जगताप निवारै
हेय अहेय विधान लोक नीकै मन धारै
विधि पुण्यपाप अरु लोककी मुनि श्रावक आचरन फुनि ।
करि स्व-पर भेद निर्णय सकल कर्म नाशि शिव लहत मुनि ॥१॥

❀ दोहा ❀

वर्द्धमान जिनके वचन वरतैं पंचमकाल ।
भव्य पाय शिवमग लहै नमूं तास गुणमाल ॥२॥

इति पं० जयचन्द छावड़ा कृत देशभाषावचनिकाके हिन्दी अनुवाद सहित
श्रीकुन्दकुन्दस्वामि विरचित सूत्रपाहुड समाप्त ॥ २ ॥

अथ चारित्रपाहुड

— ३ —

* दोहा *

बीतराग सर्वज्ञ जिन वंदूं मन वच काय ।
चारित धर्म बखानियो सांचो मोक्ष उपाय ।।१।।

कुन्दकुन्दमुनिराजकृत चारितपाहुड ग्रन्थ ।
प्राकृत गाथाबंधकी करूं वचनिका पंथ ।।२।।

इसप्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके अब चारित्रपाहुड प्राकृत गाथाबंधकी देशभाषामय वचनिका का हिन्दी अनुवाद लिखा जाता है, श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रथम ही मंगलके लिए इष्टदेवको नमस्कार करके चारित्रपाहुडको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं:—

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी ।
वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥१॥
णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं ।
मोक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे ॥२॥ युग्मम् ।

सर्वज्ञान् सर्वदर्शिनः निर्मोहान् वीतरागान् परमेष्ठिनः ।
वंदित्वा त्रिजगद्वंदितान् अर्हतः भव्यजीवैः ।।१।।

सर्वज्ञ छे, परमेष्ठी छे, निर्मोह ने वीतराग छे ।
ते त्रिजगवंदित, भव्यपूजित अर्हंतोने वंदीने ।।१।।

भाखीश हुं चारित्रप्राभृत मोक्षने आराधवा ।
जे हेतु छे सुज्ञान-दृग-चारित्र केरी शुद्धिमां ।।२।।

ज्ञानं दर्शनं सम्यक् चारित्रं शुद्धिकारणं तेषाम् ।
मोक्षाराधनहेतुं चारित्रं प्राभृतं वक्ष्ये ।। २ ।। युग्मम् ।

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि मैं अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार करके चारित्र-पाहुडको कहूँगा। अरहंत परमेष्ठी कैसे हैं? अरहंत ऐसे प्राकृत अक्षरकी अपेक्षा तो ऐसा अर्थ है—अकार आदि अक्षरसे तो 'अरि' अर्थात् मोहकर्म, रकार आदि अक्षरकी अपेक्षा रज अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म, उस ही रकारसे रहस्य अर्थात् अंतराय कर्म इसप्रकारसे चार घातिया कर्मोंको हनना घातना जिनके हुआ वे अरहन्त हैं। संस्कृतकी अपेक्षा 'अर्ह' ऐसा पूजा अर्थमें धातु है उससे 'अर्हन्' ऐसा निष्पन्न हो तब पूजायोग्य हो उसको अर्हत् कहते हैं वह भव्यजीवोंसे पूज्य है। परमेष्ठी कहनेसे परम इष्ट अर्थात् उत्कृष्ट पूज्य हो उसे परमेष्ठी कहते हैं अथवा परम जो उत्कृष्टपदमें तिष्ठे वह परमेष्ठी है। इसप्रकार इन्द्रादिकसे पूज्य अरहन्त परमेष्ठी हैं।

सर्वज्ञ हैं, सब लोकालोकस्वरूप चराचर पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाने वह सर्वज्ञ है। सर्वदर्शी अर्थात् सब पदर्थोंको देखनेवाले हैं। निर्मोह हैं, मोहनीय नामके कर्मकी प्रधान प्रकृति मिथ्यात्व है उससे रहित हैं। वीतराग हैं, जिसके विशेषरूपसे राग दूर हो गया हो सो वीतराग है उनके चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे (—उदयवश) हो ऐसा रागद्वेष भी नहीं है। त्रिजगद्वंद्य हैं, तीन जगतके प्राणी तथा उनके स्वामी इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्तियोंसे वंदने योग्य हैं। इसप्रकारसे अरहन्त पदको विशेष्य करके और अन्य पदोंको विशेषण करके अर्थ किया है। सर्वज्ञ पदको विशेष्य करके अन्य पदोंको विशेषण करने पर इसप्रकार भी अर्थ होता है परन्तु वहाँ अरहन्त भव्यजीवोंसे पूज्य हैं इसप्रकार विशेषण होता है।

चारित्र कैसा है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीन आत्माके परिणाम हैं, उनके शुद्धताका कारण है, चारित्र अंगीकार करने पर सम्यग्दर्शनादि परिणाम निर्दोष होता है। चारित्र मोक्षके आराधनका कारण है इसप्रकार चारित्रके पाहुड (प्राभृत) ग्रंथको कहूँगा, इसप्रकार आचार्य ने मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा की है ।। १–२ ।।

आगे सम्यग्दर्शनादि तीन भावोंका स्वरूप कहते हैंः—

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥ ३ ॥

यज्जानाति तत् ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं भणितम् ।
ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् भवति चारित्रम् ॥ ३ ॥

अर्थः—जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है वह दर्शन है ऐसे कहा है। ज्ञान और दर्शनके समायोगसे चारित्र होता है ।

भावार्थः—जाने वह तो ज्ञान और देखे, श्रद्धान हो वह दर्शन तथा दोनों एकरूप होकर स्थिर होना चारित्र है ॥३॥

आगे कहते हैं कि—जो तीन भाव जीवके हैं उनकी शुद्धताके लिये चारित्र दो प्रकारका कहा है :—

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया ।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥४॥

एते त्रयोऽपि भावाः भवंति जीवस्य अक्षयाः अमेयाः ।
त्रयाणामपि शोधनार्थं जिनभणितं द्विविधं चारित्रं ॥ ४ ॥

अर्थः—ये ज्ञान आदिक तीन भाव कहे, ये अक्षय और अनन्त जीवके भाव हैं. इनको शोधनेके लिये जिनदेवने दो प्रकारका चारित्र कहा है ।

भावार्थः—जानना देखना और आचरण करना ये तीन भाव जीवके अक्षयानंत हैं, अक्षय अर्थात् जिसका नाश नहीं है, अमेय अर्थात् अनन्त जिसका पार नहीं है, सब लोकालोकको जाननेवाला ज्ञान है इसप्रकार ही दर्शन है, इसप्रकार ही चरित्र है तथापि घातिकर्मके निमित्तसे अशुद्ध हैं जो ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप हैं इसलिये श्री

जे जाणतुं ते ज्ञान, देखे तेह दर्शन उक्त छे।
ने ज्ञान-दर्शनना समायोगे सुचारित होय छे ॥ ३ ॥

आ भाव त्रण आत्मा तणा अविनाश तेम अमेय छे ।
ए भावत्रयनी शुद्धि अर्थे द्विविध चरण जिनोक्त छे ॥ ४ ॥

जिनदेवने इनको शुद्ध करनेके लिय इनका चारित्र (आचरण करना) दो प्रकारका कहा है ॥४॥

आगे दो प्रकारका कहा सो कहते हैं:—

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥५॥

जिनज्ञानदृष्टिशुद्धं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ।
द्वितीयं संयमचरणं जिनज्ञानसंदेशितं तदपि ॥ ५ ॥

अर्थः—प्रथम तो सम्यक्त्वका आचरणस्वरूप चारित्र है, वह जिनदेवके ज्ञान दर्शन श्रद्धानसे किया हुआ शुद्ध है। दूसरा संयमका आचरणस्वरूप चारित्र है, वह भी जिनदेवके ज्ञानसे दिखाया हुआ शुद्ध है ।

भावार्थः—चारित्रको दो प्रकारका कहा है। प्रथम तो सम्यक्त्वका आचरण कहा वह जो सर्वज्ञके आगममें तत्त्वार्थका स्वरूप कहा उसको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना और उसके शंकादि अतिचार मल दोष कहे, उनका परिहार करके शुद्ध करना तथा उसके निःशंकितादि गुणोंका प्रगट होना वह सम्यक्त्वचरण चारित्र है और जो महाव्रत आदि अंगीकार करके सर्वज्ञके आगममें कहा वैसे संयमका आचरण करना और उसके अतिचार आदि दोषोंको दूर करना संयमचरण चारित्र है, इसप्रकार संक्षेपसे स्वरूप कहा ॥ ५ ॥

आगे सम्यक्त्वचरण चारित्रके मल दोषोंका परिहार करके आचरण करना कहते हैं:—

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाइ।
परिहर सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥ ६ ॥

सम्यक्त्वचरण छे प्रथम, जिनज्ञानदर्शनशुद्ध जे ।
बीजुं चरित संयमचरण, जिनज्ञानभाषित तेय छे ॥ ५ ॥

इम जाणीने छोडो त्रिविध योगे सकल शंकादिने ।
मिथ्यात्वमय दोषो तथा सम्यक्त्वमल जिन-उक्तने ॥ ६ ॥

एवं चैव ज्ञात्वा च सर्वान् मिथ्यात्वदोषान् शंकादीन् ।
परिहर सम्यक्त्वमलान् जिनभणितान् त्रिविधयोगेन ।।६।।

अर्थः—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्वाचरण चारित्रको जानकर मिथ्यात्व कर्मके उदयसे हुए शंकादिक दोष सम्यक्त्वको अशुद्ध करनेवाले मल हैं ऐसा जिनदेवने कहा है, इनको मन, वचन, कायके तीनों योगोंसे छोड़ना ।

भावार्थः—सम्यक्त्वाचरण चारित्र, शंकादिदोष सम्यक्त्वके मल हैं उनको त्यागने पर शुद्ध होता है इसलिये इनको त्याग करनेका उपदेश जिनदेवने किया है । वे दोष क्या हैं वह कहते हैं–जिनवचनमें वस्तुका स्वरूप कहा उसमें संशय करना शंका दोष है, इसके होने पर सप्तभयके निमित्तसे स्वरूपसे चिग जाय वह भी शंका है । भोगोंकी अभिलाषा कांक्षा दोष है, इसके होने पर भोगोंके लिए स्वरूपसे भ्रष्ट हो जाता है । वस्तुके स्वरूप अर्थात् धर्ममें ग्लानि करना जुगुप्सा दोप है, इसके होने पर धर्मात्मा पुरुषोंके पूर्वकर्मके उदयसे बाह्य मलिनता देखकर मतसे चिग जाना होता है ।

देव गुरु धर्म तथा लौकिक कार्योंमें मूढ़ता अर्थात् यथार्थ स्वरूपको न जानना सो मूढ़दृष्टिदोष है, इसके होने पर अन्य लौकिक जनोंसे माने हुए सरागी देव, हिंसाधर्म और सग्रन्थगुरु तथा लोगोंके बिना विचार किये ही मानी हुई अनेक क्रियाविशेषोंसे विभवादिकको प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति करनेसे यथार्थ मतसे भ्रष्ट हो जाता है । धर्मात्मा पुरुषोंमें कर्मके उदयसे कुछ दोष उत्पन्न हुआ देखकर उनको अवज्ञा करना सो अनुपगूहन दोष है, इसके होने पर धर्मसे छूट जाना होता है । धर्मात्मा पुरुषोंको कर्मके उदयके वशसे धर्मसे चिगते देखकर उनकी स्थिरता न करनी सो अस्थितिकरण दोष है, इसके होने पर ज्ञात होता है कि इसको धर्मसे अनुराग नहीं है और अनुरागका न होना सम्यक्त्वमें दोष है ।

धर्मात्मा पुरुषोंसे विशेष प्रीति न करना अवात्सल्य दोष है, इसके होने पर सम्यक्त्वका अभाव प्रगट सूचित होता है । धर्मका माहात्म्य शक्तिके अनुसार प्रगट न करना अप्रभावना दोष है, इसके होने पर ज्ञात होता है कि इसके धर्मके माहात्म्यकी श्रद्धा प्रगट नहीं हुई है । इसप्रकार ये आठ दोष सम्यक्त्वके मिथ्यात्वके उदयसे (उदयके वश होनेसे) होते हैं, जहाँ ये तीव्र हों वहाँ तो मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय

वताते हैं, सम्यक्त्वका अभाव बताते हैं और जहाँ कुछ मन्द अतिचाररूप हों तो सम्यक्त्व प्रकृति नामक मिथ्यात्वकी प्रकृतिके उदयसे हो वे अतिचार कहलाते हैं, वहाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका सद्भाव होता है परमार्थसे विचार करें तो अतिचार त्यागने ही योग्य हैं।

इन दोषोंके होने पर अन्य भी मल प्रगट होते हैं, वे तीन मूढ़ताएँ हैं, १ देवमूढ़ता २ पाखण्डमूढ़ता, ३ लोकमूढ़ता। किसी वरकी इच्छासे सरागी देवोंकी उपासना करना उनकी पाषाणादिमें स्थापना करके पूजना **देवमूढ़ता** है। ढोंगी गुरुओंमें मूढ़ता—परिग्रह, आरंभ, हिंसादि सहित पाखण्डी (ढोंगी) भेषधारियोंका सत्कार पुरस्कार करना पाखण्डमूढ़ता है। लोकमूढ़ता—अन्य मतवालोंके उपदेशसे तथा स्वयं ही बिना विचारे कुछ प्रवृत्ति करने लग जाय वह लोकमूढ़ता है, जैसे सूर्य को अर्घ देना, ग्रहणमें स्नान करना, संक्रांतिमें दान करना, अग्निका सत्कार करना, देहली, घर, कुआ पूजना, गायकी पूंछको नमस्कार करना, गायके मूत्रको पीना, रत्न, घोड़ा आदि वाहन, पृथ्वी, वृक्ष, शस्त्र, पर्वत आदिककी सेवा—पूजा करना, नदी-समुद्र आदिको तीर्थ मानकर उनमें स्नान करना, पर्वतसे गिरना, अग्निमें प्रवेश करना इत्यादि जानना।

छह अनायतन हैं—कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इनके भक्त ऐसे छह हैं, इनको धर्मके स्थान जानकर इनकी मनसे प्रशंसा करना, वचनसे सराहना करना, कायसे वंदना करना, ये धर्मके स्थान नहीं हैं इसलिये इनको अनायतन कहते हैं। जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, वल, विद्या, ऐश्वर्य इनका गर्व करना आठ मद हैं, जाति मातापक्ष है, लाभ धनादिक कर्मके उदयके आश्रय है, कुल पितापक्ष है, रूप कर्मोदयाश्रित है, तप अपने स्वरूपको साधनेका साधन है, बल कर्मोदयाश्रित है, विद्या कर्मके क्षयोपशमाश्रित है, ऐश्वर्य कर्मोदयाश्रित है, इनका गर्व क्या? परद्रव्यके निमित्तसे होनेवालेका गर्व करना सम्यक्त्वका अभाव बताता है अथवा मलिनता करता है। इसप्रकार ये पच्चीस, सम्यक्त्वके मल दोष हैं, इनका त्याग करने पर सम्यक्त्व शुद्ध होता है, वही सम्यक्त्वाचरण चारित्रका अंग है ॥६॥

आगे शंकादि दोष दूर होने पर सम्यक्त्वके आठ अंग प्रगट होते हैं उनको कहते हैं:—

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढ़दिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥ ७ ॥

निःशंकितं निःकांक्षितं निर्विचिकित्सा अमूढ़दृष्टी च ।
उपगूहनं स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावना च ते अष्टौ ॥ ७ ॥

अर्थः—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग हैं।

भावार्थः—ये आठ अंग पहिले कहे हुए शंकादि दोषोंके अभावसे प्रगट होते हैं, इनके उदाहरण पुराणोंमें हैं उनकी कथासे जानना। निःशंकितका अंजन चोरका उदाहरण है, जिसने जिनवचनमें शंका न की, निर्भय हो छींकेकी लड़ काट करके मंत्र सिद्ध किया। निःकांक्षितका सीता, अनंतमती, सुतारा आदिका उदाहरण है, जिन्होंने भोगोंके लिये धर्मको नहीं छोड़ा। निर्विचिकित्साका उद्दायन राजा का उदाहरण है, जिसने मुनिका शरीर अपवित्र देखकर भी ग्लानि नहीं की। अमूढ़दृष्टिका रेवतीरानीका उदाहरण है, जिसको विद्याधरने अनेक महिमा दिखाई तो भी श्रद्धानसे शिथिल नहीं हुई।

उपगूहनका जिनेन्द्रभक्त सेठका उदाहरण है, जिसने चोर, जिसने ब्रह्मचारीका भेष बना करके छत्रकी चोरी की, उसको ब्रह्मचर्यपदकी निंदा होती जानकर उसके दोषको छिपाया। स्थितिकरणका वारिषेणका उदाहरण है, जिसने पुष्पदंत ब्राह्मणको मुनिपदसे शिथिल हुआ जानकर दृढ़ किया। वात्सल्यका विष्णुकुमारका उदाहरण है, जिनने अकंपन आदि मुनियोंका उपसर्ग निवारण किया। प्रभावनामें वज्रकुमार मुनिका उदाहरण है, जिसने विद्याधरसे सहायता पाकर धर्मकी प्रभावना की। ऐसे आठ अंग प्रगट होने पर सम्यक्त्वचरण चारित्र होता है, जैसे शरीरमें हाथ पैर होते हैं वैसे ही ये सम्यक्त्वके अङ्ग हैं, ये न हों तो विकलांग होता है॥ ७॥

आगे कहते हैं कि इसप्रकार पहिला सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है:—

निःशंकता, निःकांक्ष, निर्विचिकित्स, अविमूढत्व ने।
उपगूहन, थिति, वात्सल्यभाव, प्रभावना-गुण अष्ट छे॥ ७॥

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाए।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥८॥

तच्चैव गुणविशुद्धं जिनसम्यक्त्वं सुमोक्षस्थानाय।
तत् चरति ज्ञानयुक्तं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ॥८॥

अर्थः—वह जिनसम्यक्त्व अर्थात् अरहंत जिनदेवकी श्रद्धा निःशंकित आदि गुणोंसे विशुद्ध हो उसका यथार्थ ज्ञानके साथ आचरण करे वह प्रथम सम्यक्त्वचरण चारित्र है, वह मोक्ष स्थानके लिये होता है।

भावार्थः—सर्वज्ञ भाषित तत्त्वार्थकी श्रद्धा निःशंकित आदि गुण सहित, पच्चीस मल दोष रहित, ज्ञानवान आचरण करे उसको सम्यक्त्वचरण चारित्र कहते हैं। यह मोक्षकी प्राप्तिके लिए होता है क्योंकि मोक्षमार्गमें पहिले सम्यग्दर्शन कहा है इसलिये मोक्षमार्गमें प्रधान यह ही है ॥८॥

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार सम्यक्त्वचरण चारित्रको अङ्गीकार करके संयमचरण चारित्रको अङ्गीकार करे तो शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त करता है:—

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥९॥

सम्यक्त्वचरणशुद्धाः संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः।
ज्ञानिनः अमूढदृष्टयः अचिरं प्राप्नुवंति निर्वाणम् ॥९॥

अर्थः—जो ज्ञानी होते हुए अमूढदृष्टि होकर सम्यक्त्वचरण चारित्रसे शुद्ध होता है और जो संयमचरण चारित्रसे सम्यक् प्रकार शुद्ध हो तो शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होता है।

ते अष्टगुणसुविशुद्ध जिनसम्यक्त्वने–शिवहेतुने।
आचरवुं ज्ञान समेत, ते सम्यक्त्वचरण चरित्र छे ॥८॥

सम्यक्त्वचरणविशुद्ध ने निष्पन्नसंयमचरण जे।
निर्वाणने अचिरे वरे अविमूढदृष्टि ज्ञानीओ ॥९॥

भावार्थः—जो पदार्थोंके यथार्थज्ञानसे मूढ़दृष्टिरहित विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होकर सम्यक्चारित्र स्वरूप संयमका आचरण करे तो शीघ्र ही मोक्षको पावे, संयम अंगीकार करने पर स्वरूपके साधनरूप एकाग्र धर्मध्यानके बलसे सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानरूप हो श्रेणी चढ़ अन्तर्मुहूर्तमे केवलज्ञान उत्पन्न कर अघातिकर्मका नाश करके मोक्ष प्राप्त करता है, यह सम्यक्त्वचरण चारित्रका ही माहात्म्य है ।।९।।

आगे कहते हैं कि जो संम्यक्त्वके आचरणसे भ्रष्ट हैं और वे संयमका आचरण करते हैं तो भी मोक्ष नहीं पाते हैं :—

सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जे वि णरा ।
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं ।।१०।।

सम्यक्त्वचरणभ्रष्टाः संयमचरणं चरन्ति येऽपि नराः ।
अज्ञानज्ञानमूढाः तथाऽपि न प्राप्नुवंति निर्वाणम् ।।१०।।

अर्थः—जो पुरुष सम्यक्त्वचरण चारित्रसे भ्रष्ट हैं और संयमका आचरण करते है तो भी वे अज्ञानसे मूढ़दृष्टि होते हुए निर्वाणको नहीं पाते हैं ।

भावार्थः—सम्यक्त्वचरण चारित्रके बिना संयमचरण चारित्र निर्वाणका कारण नहीं है क्योंकि सम्यग्ज्ञानके बिना तो ज्ञान मिथ्या कहलाता है सो इसप्रकार सम्यक्त्वके बिना चारित्रके भी मिथ्यापना आता है ।।१०।।

आगे प्रश्न उत्पन्न होता है कि इसप्रकार सम्यक्त्वचरण चारित्रके चिह्न क्या हैं जिनसे उसको जानें, इसके उत्तररूप गाथामें सम्यक्त्वके चिह्न कहते हैं :—

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए ।
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ।।११।।

सम्यक्त्वचरणविहीन छो संयमचरण जन आचरे ।
तोपण लहे नहि मुक्तिने अज्ञानज्ञानविमूढ ए ।।१०।।

वात्सल्य-विनय थकी, सुदाने दक्ष अनुकंपा थकी ।
वणी मार्गगुणस्तवना थकी, उपगूह ने स्थितिकरणथी ।।११।।

एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥१२॥

वात्सल्यं विनयेन च अनुकंपया सुदान दक्षया ।
मार्गगुणशंसनया उपगूहनं रक्षणेन च ॥ ११ ॥

एतैः लक्षणैः च लक्ष्यते आर्जवैः भावैः ।
जीवः आराधयन् जिनसम्यक्त्वं अमोहेन ॥ १२ ॥

अर्थः—जिनदेवकी श्रद्धा सम्यक्त्वको मोह अर्थात् मिथ्यात्व रहित आराधना करता हुआ जीव इन लक्षणोंसे अर्थात् चिह्नोंसे पहिचाना जाता है–प्रथम तो धर्मात्मा पुरुषोंसे जिसके वात्सल्यभाव हो जैसे तत्कालकी प्रसूतिवान गायके बच्चेसे प्रीति होती है वैसी धर्मात्मासे प्रीति हो, एक तो यह चिह्न है। सम्यक्त्वादि गुणोंसे अधिक हो उसका विनय सत्कारादिक जिसके अधिक हो, ऐसा विनय, एक यह चिह्न है। दुखी प्राणी देखकर करुणा भाव स्वरूप अनुकंपा जिसके हो, एक यह चिह्न है, अनुकंपा कैसी हो ? भले प्रकार दानसे योग्य हो। निर्ग्रन्थस्वरूप मोक्षमार्गकी प्रशंसा सहित हो, एक यह चिह्न है, जो मार्गकी प्रशंसा न करता हो तो जानो कि इसके मार्गकी दृढ़ श्रद्धा नहीं है। धर्मात्मा पुरुषोंके कर्मके उदयसे (उदयवश) दोष उत्पन्न हो उसको विख्यात न करे इसप्रकार उपगूहन भाव हो, एक यह चिह्न है। धर्मात्माको मार्गसे चिगता जानकर उसकी स्थिरता करे ऐसा रक्षण नामका चिह्न है इसको स्थितिकरण भी कहते हैं। इन सब चिह्नोंको, सत्यार्थ करनेवाला एक आर्जवभाव है क्योंकि निष्कपट परिणामसे ये सब चिह्न प्रगट होते हैं, सत्यार्थ होते हैं, इतने लक्षणोंसे सम्यग्दृष्टिको जान सकते हैं।

भावार्थः—सम्यक्त्वभाव मिथ्यात्व कर्मके अभावसे जीवोंका निजभाव प्रगट होता है सो वह भाव तो सूक्ष्म है, छद्मस्थके ज्ञानगोचर नहीं है और उसके बाह्य चिह्न सम्यग्दृष्टि के प्रगट होते हैं, उनसे सम्यक्त्व हुआ जाना जाता है। जो वात्सल्य आदि भाव कहे वे आपके तो अपने अनुभवगोचर होते हैं और अन्यके उसकी वचन कायकी

—आ लक्षणोथी तेम आर्जवभावथी लक्षाय छे।
वणमोह जिनसम्यक्त्वने आराधनारो जीव जे ॥ १२ ॥

क्रियासे जाने जाते हैं, उनकी परीक्षा जैसे अपने क्रियाविशेषसे होती है वैसे अन्यकी भी क्रियाविशेषसे परीक्षा होती है, इसप्रकार व्यवहार है, यदि ऐसा न हो तो सम्यक्त्व व्यवहार मार्गका लोप हो इसलिये व्यवहारी प्राणीको व्यवहारका ही आश्रय कहा है, परमार्थको सर्वज्ञ जानता है ॥ ११-१२ ॥

आगे कहते हैं कि जो ऐसे कारण सहित हो तो सम्यक्त्व छोड़ता है :—

उच्छाहभावणासंपसंससेवा कुदंसणे सद्धा ।
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं ॥१३॥

उत्साहभावना शंप्रशंसासेवा कुदर्शने श्रद्धा ।
अज्ञानमोहमार्गे कुर्वन् जहाति जिनसम्यक्त्वम् ॥१३॥

अर्थः—कुदर्शन अर्थात् नैयायिक, वैशेषिक, सांख्यमत, मीमांसकमत, वेदान्तमत, बौद्धमत, चार्वाकमत, शून्यवादके मत इनके भेष तथा इनके भाषित पदार्थ और श्वेताम्वरादिक जैनाभास इनमें श्रद्धा, उत्साह, भावना, प्रशंसा और इनकी उपासना व सेवा जो पुरुष करता है वह जिनमतकी श्रद्धारूप सम्यक्त्वको छोड़ता है, वह कुदर्शन अज्ञान और मिथ्यात्वका मार्ग है ।

भावार्थः—अनादिकालसे मिथ्यात्वकर्मके उदयसे (उदयवश) यह जीव संसारमें भ्रमण करता है सो कोई भाग्यके उदयसे जिनमार्गकी श्रद्धा हुई हो और मिथ्यामतके प्रसंगसे मिथ्यामतमें कुछ कारणसे उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा, श्रद्धा उत्पन्न हो तो सम्यक्त्वका अभाव हो जाय क्योंकि जिनमतके सिवाय अन्य मतोंमें छद्मस्थ अज्ञानियों द्वारा प्ररूपित मिथ्या पदार्थ तथा मिथ्या प्रवृत्तिरूप मार्ग है, उसकी श्रद्धा आवे तब जिनमतकी श्रद्धा जाती रहे इसलिये **मिथ्यादृष्टियोंका संसर्ग ही नहीं करना**, इसप्रकार भावार्थ जानना ॥१३॥

आगे कहते हैं कि जो ये ही उत्साह भावनादिक कहे वे सुदर्शनमें हों तो जिनमतकी श्रद्धारूप सम्यक्त्वको नहीं छोड़ता है—

अज्ञानमोहपथे कुमतमां भावना, उत्साह ने ।
श्रद्धा, स्तवन, सेवा करे जे, ते तजे सम्यक्त्वने ॥१३॥

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा ।
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण ॥१४॥

उत्साहभावना शंप्रशंससेवाः सुदर्शने श्रद्धां ।
न जहाति जिनसम्यक्त्वं कुर्वन् ज्ञानमार्गेण ॥१४॥

अर्थः—सुदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप सम्यक्मार्ग उसमें उत्साहभावना अर्थात् ग्रहण करनेका उत्साह करके बारम्बार चिन्तवनरूप भाव और प्रशंसा अर्थात् मन वचन कायासे भला जानकर स्तुति करना, सेवा अर्थात् उपासना, पूजनादिक करना और श्रद्धा करना, इसप्रकार ज्ञानमार्गसे यथार्थ जानकर करता पुरुष है वह जिनमतकी श्रद्धारूप सम्यक्त्वको नहीं छोड़ता है ।

भावार्थः—जिनमतमें उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा, श्रद्धा जिसके हो वह सम्यक्त्वसे च्युत नहीं होता है ॥१४॥

आगे अज्ञान मिथ्यात्व कुचारित्र त्यागका उपदेश करते हैं :—

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जह णाणे विसुद्धसम्मत्ते ।
अह मोहं सारंभं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥१५॥

अज्ञानं मिथ्यात्वं वर्ज्जय ज्ञाने विशुद्धसम्यक्त्वे ।
अथ मोहं सारंभं परिहर धर्मे अहिंसायाम् ॥१४॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि हे भव्य ! तू ज्ञानके होने पर तो अज्ञानका त्याग कर, विशुद्ध सम्यक्त्वके होने पर मिथ्यात्वका त्याग कर और अहिंसा लक्षण धर्मके होने पर आरंभसहित मोहको छोड़ ।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्राप्ति होने पर फिर मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रमें मत प्रवर्तो, इसप्रकार उपदेश है ॥१५॥

सद्दर्शने उत्साह, श्रद्धा, भावना, सेवा अने ।
स्तुति ज्ञानमार्गथी जे करे, छोडे न जिनसम्यक्त्वने ॥१४॥

अज्ञान ने मिथ्यात्व तज, लहीज्ञान, समकित शुद्धने ।
वळी मोह तज सारंभ तुं, लहीने अहिंसाधर्मने ॥१५॥

आगे फिर उपदेश करते हैं:—

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥१६॥

प्रव्रज्यायां संगत्यागे प्रवर्त्तस्व सुतपसि सुसंयमेभावे।
भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे वीतरागत्वे ॥१६॥

अर्थ:—हे भव्य! तू संग अर्थात् परिग्रहका त्याग जिसमें हो ऐसी दीक्षा ग्रहण कर और भले प्रकार संयमस्वरूपभाव होने पर सम्यक् प्रकार तपमें प्रवर्तन कर जिससे तेरे मोहरहित वीतरागपना होने पर निर्मल धर्म शुक्लध्यान हो।

भावार्थ:—निर्ग्रंथ हो दीक्षा लेकर संयमभावसे भले प्रकार तपमें प्रवर्तन करे, तब संसारका मोह दूर होकर वीतरागपना हो, फिर निर्मल धर्मध्यान शुक्लध्यान होते हैं, इसप्रकार ध्यानसे केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष प्राप्त होता है इसलिये इसप्रकार उपदेश है ॥१६॥

आगे कहते हैं कि यह जीव अज्ञान और मिथ्यात्वके दोषसे मिथ्यामार्गमें प्रवर्तन करता है।

मिच्छादसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं।
वज्झंति मूढजीवा [1]मिच्छत्ताबुद्धिउदएण ॥१७॥

मिथ्यादर्शनमार्गे मलिने अज्ञानमोहदोषैः।
बध्यन्ते मूढजीवाः मिथ्यात्वाबुद्ध्युदयेन ॥१७॥

---

१ पाठान्तर—मिच्छत्ता बुद्धिदोसेण।

नि:संग लही दीक्षा, प्रवर्त सुसंयमे, सत्तप विषे।
निर्मोह वीतरागत्व होतां ध्यान निर्मल होय छे ॥१६॥

जे वर्तता अज्ञानमोहमले मलिन मिथ्यामते।
ते मूढजीव मिथ्यात्व ने मतिदोषथी बंधाय छे ॥१७॥

अर्थः—मूढ़ जीव अज्ञान और मोह अर्थात् मिथ्यात्वके दोषोंसे मलिन जो मिथ्यादर्शन अर्थात् कुमतके मार्गमें मिथ्यात्व और अबुद्धि अर्थात् अज्ञानके उदयमें प्रवृत्ति करते हैं।

भावार्थः—ये मूढ़जीव मिथ्यात्व और अज्ञानके उदयसे मिथ्यामार्गमें प्रवर्तते हैं इसलिये मिथ्यात्व अज्ञानका नाश करना यह उपदेश है ॥ १७ ॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन ज्ञान श्रद्धानसे चारित्रके दोष दूर होते हैं:—

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥ १८ ॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान्।
सम्यक्त्वेन च श्रद्दधाति च परिहरति चारित्रजान् दोषान् ॥ १८ ॥

अर्थः—यह आत्मा सम्यग्दर्शनसे तो सत्तामात्र वस्तुको देखता है, सम्यग्ज्ञानसे द्रव्य और पर्यायोंको जानता है, सम्यक्त्वसे द्रव्य पर्याय स्वरूप सत्तामयी वस्तुका श्रद्धान करता है और इसप्रकार देखना जानना व श्रद्धान होता है तब चारित्र अर्थात् आचरणमें उत्पन्न हुए दोषोंको छोड़ता है।

भावार्थः— वस्तुका स्वरूप द्रव्य पर्यायात्मक सत्ता स्वरूप है सो जैसा है वैसा देखे जाने श्रद्धान करे तब आचरण शुद्ध करे सो सर्वज्ञके आगमसे वस्तुका निश्चय करके आचरण करना। वस्तु है वह द्रव्य पर्याय स्वरूप है। द्रव्यका सत्ता लक्षण है तथा गुणपर्यायवान् को द्रव्य कहते हैं। पर्याय दो प्रकारकी है, सहवर्ती और क्रमवर्ती। सहवर्तीको गुण कहते हैं और क्रमवर्ती को पर्याय कहते हैं। द्रव्य सामान्यरूपसे एक है तो भी विशेषरूपसे छह हैं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

जीवके दर्शन—ज्ञानमयी चेतना तो गुण है और अचक्षु आदि दर्शन, मति आदिक ज्ञान तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि व नर, नारकादि विभाव पर्याय है, स्वभावपर्याय अगुरुलघु गुणके द्वारा हानि—वृद्धिका परिणमन है। पुद्गल द्रव्यके स्पर्श,

---

देखे दरशथी, ज्ञानथी जाणे दरव-पर्यायने।
सम्यक्त्वथी श्रद्धा करे चारित्रदोषो परिहरे ॥ १८ ॥

रस, गंध, वर्णरूप मूर्तिकपना तो गुण है और स्पर्श, रस, गन्ध वर्णका भेदरूप परिणमन तथा अणुसे स्कन्धरूप होना तथा शब्द, बन्ध आदिरूप होना इत्यादि पर्याय है। धर्म. अधर्म द्रव्यके गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्वपना तो गुण है और इस गुणके जीव-पुद्गलके गति-स्थितिके भेदोंसे भेद होते हैं वे पर्याय हैं तथा अगुरुलघु गुणके द्वारा हानि–वृद्धिका परिणमन होता है जो स्वभाव पर्याय है।

आकाशका अवगाहना गुण है और जीव-पुद्गल आदिके निमित्तसे प्रदेश भेद कल्पना किये जाते हैं वे पर्याय हैं तथा हानि–वृद्धिका परिणमन वह स्वभाव पर्याय है। कालद्रव्यका वर्त्तना तो गुण है और जीव और पुद्गलके निमित्तसे समय आदि कल्पना सो पर्याय है इसको व्यवहार काल भी कहते हैं तथा हानि—वृद्धिका परिणमन वह स्वभाव पर्याय है इत्यादि। इनका स्वरूप जिन आगमसे जानकर देखना, जानना, श्रद्धान करना, इससे चारित्र शुद्ध होता है। बिना ज्ञान, श्रद्धानके आचरण शुद्ध नहीं होता है, इसप्रकार जानना ॥१८॥

आगे कहते हैं कि ये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीन भाव मोहरहित जीवके होते हैं, इनका आचरण करता हुआ शीघ्र मोक्ष पाता है:—

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।
णियगुणमाराहंतो अचिरेण य कम्म परिहरइ ॥१९॥

एते त्रयोऽपि भावाः भवंति जीवस्य मोहरहितस्य।
निजगुणमाराधयन् अचिरेण च कर्म परिहरति ॥१९॥

अर्थः—ये पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीन भाव हैं, ये निश्चयसे मोह अर्थात् मिथ्यात्व रहित जीवके ही होते हैं, तब यह जीव अपना निजगुण जो शुद्ध दर्शन ज्ञानमयी चेतनाकी आराधना करता हुआ थोड़े ही कालमें कर्मका नाश करता है।

भावार्थः—निजगुणके ध्यानसे शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष पाता है ॥१९॥

रे! होय छे भावो त्रणे आ, मोहविरहित जीवने;
निज आत्मगुण आराधतो ते कर्मने अचिरे तजे ॥१९॥

आगे इस सम्यक्त्वचरण चारित्रके कथनका संकोच करते हैं:—

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमत्ता[1] णं।
सम्मत्तमणुचरंता करेंति दुक्खक्खयं धीरा ॥२०॥

संख्येयामसंख्येयगुणां संसारिमेरुमात्रा णं।
सम्यक्त्वमनुचरंतः कुर्वन्ति दुःखक्षयं धीराः ॥२०॥

अर्थः—सम्यक्त्वका आचरण करते हुए धीर पुरुष संख्यातगुणी तथा असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा करते हैं और कर्मोंके उदयसे हुए संसारके दुःखका नाश करते हैं। कर्म कैसे हैं? संसारी जीवोंके मेरु अर्थात् मर्यादा मात्र हैं और सिद्ध होनेके बाद कर्म नहीं हैं।

भावार्थः—इस सम्यक्त्वका आचरण होनेपर प्रथम कालमें तो गुणश्रेणी निर्जरा होती है, वह असंख्यातके गुणाकाररूप है। पीछे जबतक संयमका आचरण नहीं होता है तबतक गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती है। वहाँ संख्यातके गुणाकाररूप होती है इसलिये संख्यातगुण और असंख्यातगुण इसप्रकार दोनों वचन कहे। कर्म तो संसार अवस्था है, जबतक है उसमें दुःखका कारण मोहकर्म है, उसमें मिथ्यात्व कर्म प्रधान है। सम्यक्त्वके होनेपर मिथ्यात्वका तो अभाव ही हुआ और चारित्रमोह दुःखका कारण है सो यह भी जबतक है तबतक उसकी निर्जरा करता है, इसप्रकार अनुक्रमसे दुःखका क्षय होता है। संयमाचरणके होनेपर सब दुःखोंका क्षय होवेगा ही। सम्यक्त्वका माहात्म्य इसप्रकार है कि सम्यक्त्वाचरण होनेपर संयमाचरण भी शीघ्र ही होता है, इसलिये सम्यक्त्वको मोक्षमार्गमें प्रधान जानकर इसहीका वर्णन पहिले किया है ॥२०॥

आगे संयमाचरण चारित्रको कहते हैं:—

१—'संसारिमेरुमत्ता' 'सासारि मेरुमित्ता' इसका सटीक संस्कृत प्रतिमें सर्षपमेरुमात्रां इसप्रकार है।

संसारसीमित निर्जरा अणसंख्य–संख्यगुणी करे।
सम्यक्त्व आचरनार धीरा दुःखना क्षयने करे ॥२०॥

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं [1]सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं ॥२१॥

द्विविधं संयमचरणं सागारं तथा भवेत् निरागारं।
सागारं सग्रन्थे परिग्रहाद्रहिते खलु निरागारम् ॥२१॥

अर्थः—संयमचरण चारित्र दो प्रकारका है, सागार और निरागार। सागार तो परिग्रह सहित श्रावकके होता है और निरागार परिग्रहसे रहित मुनिके होता है यह निश्चय है ॥२१॥

आगे सागार संयमाचरणको कहते हैं:—

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२२॥

दर्शनं व्रतं सामायिकं प्रोषधं सचित्तं रात्रिभुक्तिश्च।
ब्रह्म आरंभः परिग्रहः अनुमतिः उद्दिष्ट देशविरतश्च ॥२२॥

अर्थः—दर्शन, व्रत, सामायिक और प्रोषध आदिका नाम एकदेश है और नाम ऐसे कहे हैं, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग, इसप्रकार ग्यारह प्रकार देशविरत है।

भावार्थः—ये सागार संयमाचरणके ग्यारह स्थान हैं, इनको प्रतिमा भी कहते हैं ॥२२॥

आगे इन स्थानोंमें संयमका आचरण किस प्रकारसे है वह कहते हैं:—

---

१ पाठान्तरः—सग्गंथं।

सागार अण-आगार एम द्विभेद संयमचरण छे;
सागार छे सग्रंथ, अण-आगार परिग्रहरहित छे ॥२१॥

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित, निशिभुक्तिने,
वणी ब्रह्म ने आरम्भ आदिक देशविरतिस्थान छे ॥२२॥

पंचेव णुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं ॥२३॥

पंचैव अणुव्रतानि गुणव्रतानि भवंति तथा त्रीणि।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि संयमचरणं च सागारम् ॥२३॥

अर्थः—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इसप्रकार बारह प्रकारका संयमचरण चारित्र है जो सागार है, ग्रन्थसहित श्रावकके होता है इसलिये सागार कहा है।

प्रश्नः—ये बारह प्रकार तो व्रतके कहे और पहिले गाथामें ग्यारह नाम कहे, उनमें प्रथम दर्शन नाम कहा उसमें ये व्रत कैसे होते हैं? इसका समाधानः—अणुव्रत ऐसा नाम किंचित् व्रतका है वह पाँच अणुव्रतोंमेंसे किंचित् यहाँ भी होते हैं इसलिये दर्शन प्रतिमाका धारक भी अणुव्रती ही है, इसका नाम दर्शन ही कहा। यहाँ इसप्रकार जानना कि इसके केवल सम्यक्त्व ही होता है और अव्रती है, अणुव्रत नहीं है इसके अणुव्रत अतिचार सहित होते हैं इसलिये व्रती नाम नहीं कहा। दूसरी प्रतिमामें अणुव्रत अतिचार रहित पालता है इसलिये व्रत नाम कहा है, यहां सम्यक्त्वके अतिचार टालता है, सम्यक्त्व ही प्रधान है इसलिये दर्शनप्रतिमा नाम है। अन्य ग्रन्थोंमें इसका स्वरूप इसप्रकार कहा है कि जो आठ मूलगुणका पालन करे, सात व्यसनको त्यागे, जिसके सम्यक्त्व अतिचार रहित शुद्ध हो वह दर्शन प्रतिमा धारक है। पांच उदम्बरफल और मद्य, मांस, मधु इन आठोंका त्याग करना वह आठ मूलगुण हैं।

अथवा किसी ग्रन्थमें इसप्रकार कहा है कि पांच अणुव्रत पाले और मद्य, मांस, मधुका त्याग करे वह आठ मूलगुण हैं परन्तु इसमें विरोध नहीं है, विवक्षाका भेद है। पांच उदम्बरफल और तीन मकारका त्याग कहनेसे जिन वस्तुओंमें साक्षात् त्रस जीव दिखते हों उन सब ही वस्तुओंको भक्षण नहीं करे। देवादिकके निमित्त तथा औषधादि निमित्त इत्यादि कारणोंसे दिखते हुए त्रसजीवोंका घात न करे, ऐसा आशय है जो

अणुव्रत कह्यां छे पांच ने त्रण गुणव्रतो निर्दिष्ट छे।
शिक्षाव्रतो छे चार;—ए संयमचरण सागार छे ॥ २३ ॥

इसमें तो अहिंसाणुव्रत आया। सात व्यसनोंके त्यागमें जूठ, चोरी और परस्त्रीका त्याग आया, अन्य व्यसनोंके त्यागमें अन्याय, परधन, परस्त्रीका ग्रहण नहीं है; इसमें अतिलोभके त्यागसे परिग्रहका घटाना आया, इसप्रकार पांच अणुव्रत आते हैं। इनके [व्रतादि प्रतिमाके] अतिचार नहीं टलते हैं इसलिये अणुव्रती नाम प्राप्त नहीं करता [फिर भी] इसप्रकारसे दर्शन प्रतिमाका धारक भी अणुव्रती है इसलिये देशविरत सागारसंयमचरण चारित्रमें इसको भी गिना है ॥२३॥

आगे पांच अणुव्रतोंका स्वरूप कहते हैं:—

थूले तसकायवहे थूले मोषे अदत्तथूले[१] य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं ॥२४॥

स्थूले त्रसकायवधे स्थूलायां मृषायां अदत्तस्थूले च।
परिहारः परमहिलायां परिग्रहारंभपरिमाणम् ॥२४॥

अर्थः—थूल त्रसकायका घात, थूलमृषा अर्थात् असत्य, थूल अदत्ता अर्थात् परका बिना दिया धन, परमहिला अर्थात् परस्त्री इनका तो परिहार अर्थात् त्याग और परिग्रह तथा आरंभका परिमाण इसप्रकार पांच अणुव्रत हैं।

भावार्थः—यहाँ थूल कहनेका ऐसा अर्थ जानना कि—जिसमें अपना मरण हो, परका मरण हो, अपना घर बिगड़े, परका घर बिगड़े, राजाके दण्ड योग्य हो, पंचोंके दण्ड योग्य हो इसप्रकार मोटे अन्यायरूप पापकार्य जानने। इसप्रकार स्थूल पाप राजादिकके भयसे न करे वह व्रत नहीं है, इनको तीव्र कषायके निमित्तसे तीव्रकर्मबंधके निमित्त जानकर स्वयमेव न करनेके भावरूप त्याग हो वह व्रत है। इसके ग्यारह स्थानक कहे, इनमें ऊपर ऊपर त्याग बढ़ता जाता है सो इसकी उत्कृष्टता तक ऐसा है कि जिन कार्योंमें त्रस जीवोंको बाधा हो इसप्रकारके सब ही कार्य छूट जाते हैं इसलिये

१—'अदत्तथूले' के स्थानमें सं० छायामें 'तितिक्ख थूले', 'परमहिला' के स्थानमें 'परमपिम्मे' ऐसा पाठ है।

त्यां स्थूल त्रसहिंसा-असत्य-अदत्तना, परनारीना।
परिहारने, आरम्भपरिग्रहमानने अणुव्रत कह्यां ॥२४॥

सामान्य ऐसा नाम कहा है कि त्रसहिंसाका त्यागी देशव्रती होता है। इसका विशेष कथन अन्य ग्रन्थोंसे जानना ॥ २४ ॥

आगे तीन गुणव्रतोंको कहते हैं:—

दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं बिदियं ।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥२५॥

दिग्विदिग्मानं प्रथमं अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयम् ।
भोगोपभोगपरिमाणं इमान्येव गुणव्रतानि त्रीणि ॥ २५ ॥

अर्थः—दिशा विदिशामें गमनका परिमाण वह प्रथम गुणव्रत है, अनर्थदण्डका वर्जना द्वितीय गुणव्रत है, और भोगोपभोगका परिमाण तीसरा गुणव्रत है, इसप्रकार ये तीन गुणव्रत हैं।

भावार्थः—यहाँ गुण शब्द तो उपकारका वाचक है, ये अणुव्रतोंका उपकार करते हैं। दिशा विदिशा अर्थात् पूर्व दिशादिकमें गमन करनेकी मर्यादा करे। अनर्थदण्ड अर्थात् जिन कार्योंमें अपना प्रयोजन न सधे इसप्रकार पापकार्योंको न करे। यहाँ कोई पूछे–प्रयोजनके बिना तो कोई भी जीव कार्य नहीं करता है, कुछ प्रयोजन विचार करके ही करता है फिर अनर्थदण्ड क्या? इसका समाधान—सम्यग्दृष्टि श्रावक होता है वह प्रयोजन अपने पदके योग्य विचारता है, पदके सिवाय सब अनर्थ है। पापी पुरुषोंके तो सब ही पाप प्रयोजन हैं, उनकी क्या कथा। भोग कहनेसे भोजनादिक और उपभोग कहनेसे स्त्री, वस्त्र, आभूषण, वाहनादिकोंका परिमाण करे इसप्रकार जानना ॥ २५ ॥

आगे चार शिक्षाव्रतोंको कहते हैं:—

सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥२६॥

दिशविदिशगति–परिमाण होय, अनर्थदंड परित्यजे ।
भोगोपभोग तणुं करे परिमाण,–गुणव्रत त्रण्य छे ॥ २५ ॥

सामायिकं, व्रत प्रोषधं, अतिथि तणी पूजा अने ।
अंते करे सल्लेखना—शिक्षाव्रतो ए चार छे ॥ २६ ॥

सामाइकं च प्रथमं द्वितीयं च तथैव प्रोषधः भणितः ।
तृतीयं च अतिथिपूजा चतुर्थं सल्लेखना अन्ते ।। २६ ।।

अर्थः—सामायिक तो पहिला शिक्षाव्रत है, वैसे ही दूसरा प्रोषध व्रत है, तीसरा अतिथिका पूजन है, चौथा अन्तसमय सल्लेखना व्रत है।

भावार्थः—यहाँ शिक्षा शब्दसे तो ऐसा अर्थ सूचित होता है कि आगामी मुनिव्रतकी शिक्षा इनमें है, जब मुनि होगा तब इसप्रकार रहना होगा। सामायिक कहनेसे तो रागद्वेषका त्याग कर, सब गृहारंभसंबंधी क्रियासे निवृत्ति कर, एकांत स्थानमें वैठकर प्रभात, मध्याह्न अपराह्न कुछ कालकी मर्यादा करके अपने स्वरूपका चिंतवन तथा पंचपरमेष्ठीकी भक्तिका पाठ पढ़ना, उनकी वंदना करना इत्यादि विधान करना सामायिक है। इसप्रकार ही प्रोषध अर्थात् अष्टमी चौदसके पर्वोमें प्रतिज्ञा लेकर धर्म कार्योंमें प्रवर्तना प्रोषध है। अतिथि अर्थात् मुनियोंकी पूजा करना, उनको आहारदान देना अतिथिपूजन है। अंत समयमें काय और कषायको कृश करना समाधिमरण करना अन्त सल्लेखना है, इसप्रकार चार शिक्षाव्रत हैं।

यहाँ प्रश्न—तत्त्वार्थसूत्रमें तीन गुणव्रतोंमें देशव्रत कहा और भोगोपभोग-परिमाणको शिक्षाव्रतोंमें कहा तथा सल्लेखनाको भिन्न कहा वह कैसे? इसका समाधानः—यह विवक्षाका भेद है, यहाँ देशव्रत दिग्व्रतमें गर्भित है और सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें कहा है, कुछ विरोध नहीं है ।। २६ ।।

आगे कहते हैं कि संयमचरण चारित्रमें श्रावक धर्मको कहा, अब यतिधर्मको कहते हैं—

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥ २७ ॥

एवं श्रावकधर्म संयमचरणं उपदेशितं सकलम् ।
शुद्धं संयमचरणं यतिधर्म निष्फलं वक्ष्ये ।। २७ ।।

श्रावकधर्मरूप देशसंयमचरण भाख्युं ए रीते ।
यतिधर्म-आत्मक पूर्णसंयमचरण शुद्ध कहुं हवे ।। २७ ।।

अर्थः—एवं अर्थात् इसप्रकारसे श्रावकधर्मस्वरूप संयमचरण तो कहा, यह कैसा है? सकल अर्थात् कला सहित है, (यहाँ) एकदेशको कला कहते हैं। अब यतिधर्मके धर्मस्वरूप संयमचरणको कहूँगा ऐसे आचार्यने प्रतिज्ञा की है। यतिधर्म कैसा है? शुद्ध है, निर्दोष है जिसमें पापाचरणका लेश नहीं है, निकल अर्थात् कलासे निःक्रांत है, सम्पूर्ण है, श्रावकधर्मकी तरह एकदेश नहीं है ॥२७॥

आगे यतिधर्मकी सामग्री कहते है:—

पंचेंदियसंवरणं पंच वया पंचविंसकिरियासु।
पंच समिदि तय गुत्ती संजमचरणं णिरायारं ॥२८॥

पंचेंद्रियसंवरणं पंच व्रताः पंचविंशतिक्रियासु।
पंच समितयः तिस्रः गुप्तयः संयमचरणं निरागारम् ॥२८॥

अर्थः—पाच इन्द्रियोंका सवर, पांच व्रत ये पच्चीस क्रियाके सद्भाव होने पर होते है, पांच समिति और तीन गुप्ति ऐसे निरागार संयमचरण चारित्र होता है ॥२८॥

आगे पांच इन्द्रियोंके संवरणका स्वरूप कहते हैं:—

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य।
ण करेदि रायदोसे पंचेंदियसंवरो भणिओ ॥२९॥

अमनोज्ञे च मनोज्ञे सजीवद्रव्ये अजीवद्रव्ये च।
न करोति रागद्वेषौ पंचेंद्रियसंवरः भणितः ॥२९॥

अर्थः—अमनोज्ञ तथा मनोज्ञ ऐसे पदार्थ जिनको लोग अपने माने ऐसे सजीवद्रव्य स्त्री पुत्रादिक और अजीवद्रव्य धन धान्य आदि सब पुद्गल द्रव्य आदिमें रागद्वेष न करे वह पांच इन्द्रियोंका संवर कहा है।

पंचेन्द्रिसंवर, पांच व्रत पच्चीशक्रियासंबद्ध जे।
वळी पांच समिति, त्रिगुप्ति—अण-आगार संयमचरण छे ॥२८॥
सुमनोज्ञ ने अमनोज्ञ जीव-अजीवद्रव्योने विषे।
करवा न रागविरोध ते पंचेन्द्रिसंवर उक्त छे ॥२९॥

भावार्थः—इन्द्रियगोचर जीव अजीव द्रव्य हैं, ये इन्द्रियोंके ग्रहणमें आते हैं, इनमें यह प्राणी किसीको इष्ट मानकर राग करता है, किसी को अनिष्ट मानकर द्वेष करता है, इसप्रकार राग द्वेष मुनि नहीं करते हैं उनके संयमचरण चारित्र होता है ।।२९।।

आगे पांच व्रतोंका स्वरूप कहते हैं:—

हिंसाविरह अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य ।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ।।३०।।

हिंसाविरतिरहिंसा असत्यविरतिः अदत्तविरतिश्च ।
तुर्यं अब्रह्मविरतिः पंचमं संगे बिरतिः च ।।३०।।

अर्थः—प्रथम तो हिंसासे विरति अहिंसा है, दूसरा असत्यविरति है, तीसरा अदत्तविरति है, चौथा अब्रह्मविरति है और पांचवाँ परिग्रहविरति है ।

भावार्थः—इन पांच पापोंका सर्वथा त्याग जिनमें होता है वे पांच महाव्रत कहलाते हैं ।

आगे इनको महाव्रत क्यों कहते हैं वह बताते हैं:—

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं ।
जं च महल्लाणि तदो महव्वया इत्तहे याइं ।।३१।।

साधयंति यन्महांतः आचरितं यत् महत्पूर्वैः ।
यच्च महन्ति ततः महाव्रतानि एतस्माद्धेतोः तानि ।।३१।।

पाठान्तर—'महव्वया इत्तहे याइं' के स्थान पर 'महव्वयाइं तहेयाइं'।

हिंसाविराम, असत्य तेम अदत्तथी विरमण अने ।
अब्रह्मविरमण, संगविरमण—छे महाव्रत पांच ए ।।३०।।

मोटा पुरुष साधे, पूरव मोटा जनोए आचर्या ।
स्वयमेव वळी मोटां ज छे, तेथी महाव्रत ते ठर्यां ।।३१।।

अर्थः—महल्ला अर्थात् महन्त पुरुष जिनको साधते हैं आचरण करते हैं और पहिले भी जिनका महन्त पुरुषोंने आचरण किया है तथा ये व्रत आप ही महान् हैं क्योंकि इनमें पापका लेश भी नहीं है इसप्रकार ये पांच महाव्रत हैं।

भावार्थः—जिनका बड़े पुरुष आचरण करें और आप निर्दोष हो वे ही बड़े कहाते हैं, इसप्रकार इन पांच व्रतोंको महाव्रत संज्ञा है ॥ ३१ ॥

आगे इन पांच व्रतोंकी पच्चीस भावना कहते हैं उनमेंसे प्रथम ही अहिंसाव्रतकी पाँच भावना कहते हैं:—

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोयभोयणाए अहिंसए भावणा होंति ॥ ३२ ॥

वचोगुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः सुदाननिक्षेपः ।
अवलोक्यभोजनेन अहिंसाया भावना भवंति ॥ ३२ ॥

अर्थः—वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ऐसे दो तो गुप्तियाँ, ईर्यासमिति, भलेप्रकार कमंडलु आदिका ग्रहण निक्षेप यह आदाननिक्षेपणा समिति और अच्छी तरह देखकर विधिपूर्वक शुद्ध भोजन करना यह एषणा समिति इसप्रकार ये पांच अहिंसा महाव्रतकी भावना हैं।

भावार्थः—भावना नाम बारबार उसहीके अभ्यास करनेका है सो यहाँ प्रवृत्ति निवृत्तिमें हिंसा लगती है, उसका निरन्तर यत्न रखे तब अहिंसाव्रतका पालन हो, इसलिये यहाँ योगोंकी निवृत्ति करनी तो भलेप्रकार गुप्तिरूप करनी और प्रवृत्ति करनी तो समितिरूप करनी, ऐसे निरन्तर अभ्याससे अहिंसा महाव्रत दृढ़ रहता है, इसी आशयसे इनको भावना कहते हैं ॥ ३२ ॥

आगे सत्य महाव्रतकी भावना कहते हैं:—

मन-वचनगुप्ति, गमनसमिति, सुदाननिक्षेपण अने।
अवलोकीने भोजन—अहिंसाभावना ए पांच छे ॥ ३२ ॥

कोहभयहासलोहा मोहा विवरीयभावणा चेव ।
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥३३॥

क्रोधभयहास्यलोभमोहा विपरीतभावनाः च एव ।
द्वितीयस्य भावना इमा पंचैव च तथा भवंति ॥३३॥

अर्थः—क्रोध, भय, हास्य, लोभ और मोह इनसे विपरीत अर्थात् उल्टा इनका अभाव ये द्वितीय व्रत सत्य महाव्रतकी भावना है ।

भावार्थः—असत्य वचनकी प्रवृत्ति क्रोधसे, भयसे, हास्यसे लोभसे और परद्रव्यके मोहरूप मिथ्यात्वसे होती है, इनका त्याग हो जाने पर सत्य महाव्रत दृढ़ रहता है ।

तत्त्वार्थसूत्रमें पांचवी भावना अनुवीचीभाषण कहा है सो इसका अर्थ यह है कि–जिनसूत्रके अनुसार वचन बोले और यहाँ मोहका अभाव कहा वह मिथ्यात्वके निमित्तसे सूत्रविरुद्ध बोलता है, मिथ्यात्वका अभाव होने पर सूत्रविरुद्ध नहीं बोलता है, अनुवीचीभाषणका भी यही अर्थ हुआ इसमें अर्थभेद नहीं है ॥३३॥

आगे अचौर्य महाव्रतकी भावना कहते हैं:—

सुण्णायारणिवासो [1]विमोचियावास जं परोधं च ।
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो ॥३४॥

शून्यागारनिवासः विमोचितावासः यत् परोधं च ।
एषणाशुद्धिसहितं साधर्मिसमविसंवादः ॥३४॥

---

१ पाठान्तरः—विमोचितावास ।

जे क्रोध, भय ने हास्य तेम ज लोभ-मोह-कुभाव छे ।
तेना विपर्ययभाव ते छे भावना वीजा व्रते ॥३३॥

सूना अगर तो त्यक्त स्थाने वास, पर-उपरोध ना ।
आहार एषणशुद्धियुत, साधर्मी सहविखवाद ना ॥३४॥

अर्थः—शून्यागार अर्थात् गिरि, गुफा, तरु, कोटरादिमें निवास करना, विमोचितावास अर्थात् जिसको लोगोंने किसी कारणसे छोड दिया हो इसप्रकारके गृह ग्रामादिकमें निवास करना, परोपरोध अर्थात् जहाँ दूसरेकी रुकावट न हो, वस्तिकादिकको अपनाकर दूसरेको रोकना. इसप्रकार नहीं करना. एषणाशुद्धि अर्थात् आहार शुद्ध लेना और साधर्मियोंसे विसंवाद नहीं करना। ये पांच भावना तृतीय महाव्रतकी हैं।

भावार्थः—मुनियोंको वस्तिकामें रहना और आहार लेना ये दो प्रवृत्तियाँ अवश्य होती हैं। लोकमें इनहींके निमित्त अदत्तका आदान होता है। मुनियोंको ऐसे स्थान पर रहना चाहिये जहाँ अदत्तका दोष न लगे और आहार भी इस प्रकार लें जिसमें अदत्तका दोष न लगे तथा दोनोंकी प्रवृत्तिमें साधर्मी आदिकसे विसंवाद न उत्पन्न हो। इसप्रकार ये पांच भावना कही हैं, इनके होनेसे अचौर्य महाव्रत दृढ़ रहता है ॥३४॥

आगे ब्रह्मचर्य महाव्रतकी भावना कहते हैं:—

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं ।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥३५॥

महिलालोकनपूर्वरतिस्मरणसंसक्तवसतिविकथाभिः ।
पौष्टिकरसैः विरतः भावनाः पंचापि तुर्ये ॥३५॥

अर्थः—स्त्रियोंका अवलोकन अर्थात् रागभावसहित देखना, पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना, स्त्रियोंसे संसक्त वस्तिकामें रहना, स्त्रियोंकी कथा करना, पौष्टिक रसोंका सेवन करना, इन पांचोंसे विकार उत्पन्न होता है इसलिये इनसे विरक्त रहना, ये पाँच ब्रह्मचर्य महाव्रतकी भावना हैं।

भावार्थः—कामविकारके निमित्तोंसे ब्रह्मचर्यव्रत भंग होता है इसलिये स्त्रियोंको रागभावसे देखना इत्यादि निमित्त कहे, इनसे विरक्त रहना, प्रसंग नहीं करना इससे ब्रह्मचर्य महाव्रत दृढ़ रहता है ॥३५॥

महिलानिरीक्षण-पूर्वरतिस्मृति-निकटवास, त्रियाकथा ।
पौष्टिक रसोथी विरति—ने व्रत तुर्यनी छे भावना ॥३५॥

आगे पाँच अपरिग्रह महाव्रतकी भावना कहते हैं:—

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु ।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥३६॥

अपरिग्रहे समनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरसरूपगंधेषु ।
रागद्वेषादीनां परिहारो भावनाः भवन्ति ॥३६॥

अर्थः—शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध ये पांच इन्द्रियोंके विषय समनोज्ञ अर्थात् मनको अच्छे लगनेवाले और अमनोज्ञ अर्थात् मनको बुरे लगनेवाले हों तो इन दोनोंमें ही राग द्वेष आदि न करना परिग्रहत्यागव्रतकी ये पाँच भावना हैं ।

भावार्थः—पाँच इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द ये हैं, इनमें इष्ट–अनिष्ट बुद्धिरूप राग–द्वेष नहीं करे तब अपरिग्रहव्रत दृढ़ रहता है इसीलिये ये पांच भावना अपरिग्रहमहाव्रतकी कही गई हैं ॥३६॥

आगे पांच समितियोंको कहते हैं:—

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।
[1]संजमसोहिणिमित्तं खंति जिणा पंच समिदीओ ॥३७॥

ईर्या भाषा एषणा या सा आदानं चैव निक्षेपः ।
संयमशोधिनिमित्तं ख्यान्ति जिनाः पंच समितीः ॥३७॥

अर्थः—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना ये पांच समितियाँ संयमकी शुद्धताके लिए कारण हैं, इसप्रकार जिनदेव कहते हैं ।

---

१ पाठान्तरः—संजमसोहिणिमित्ते ।

मनहर-अमनहर स्पर्श-रस-रूप-गंध तेम ज शब्दमां ।
करवा न रागविरोध, व्रत पंचम तणी ए भावना ॥३६॥

ईर्या, सुभाषा, एषणा, आदान ने निक्षेप—ए ।
संयम तणी शुद्धि निमित्ते समिति पांच जिनो कहे ॥३७॥

भावार्थः—मुनि पंचमहाव्रतरूप संयमका साधन करते हैं उस संयमकी शुद्धताके लिए पांच समितिरूप प्रवर्तते हैं इसीसे इसका नाम सार्थक है—"सं" अर्थात् सम्यक्प्रकार 'इति' अर्थात् प्रवृत्ति जिसमें हो सो समिति है"। चलते समय जूड़ा प्रमाण (चार हाथ) पृथ्वी देखता हुआ चलता है, बोले तब हितमितरूप वचन बोलता है आहार लेवे तो छियालीस दोष, बत्तीस अंतराय टालकर, चौदह मल दोष रहित शुद्ध आहार लेता है, धर्मोपकरणोंको उठाकर ग्रहण करे सो यत्नपूर्वक लेते हैं, ऐसे ही कुछ क्षेपण करे तब यत्नपूर्वक क्षेपण करते हैं, इसप्रकार निष्प्रमाद वर्त्ते तब संयमका शुद्ध पालन होता है, इसीलिये पंचसमितिरूप प्रवृत्ति कही है। इसप्रकार संयमचरण चारित्रकी प्रवृत्तिका वर्णन किया ॥ ३७॥

अब आचार्य निश्चय चारित्रको मनमें धारणकर ज्ञानका स्वरूप कहते हैं:—

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं।
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि ॥ ३८॥

भव्यजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितं।
ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं आत्मानं तं विजानीहि ॥ ३८॥

अर्थः—जिनमार्गमें जिनेश्वर देवने भव्यजीवोंके संबोधनेके लिए जैसा ज्ञान और ज्ञानका स्वरूप कहा है उस ज्ञानस्वरूप आत्मा है उसको हे भव्यजीव! तू जान।

भावार्थः—ज्ञानको और ज्ञानके स्वरूपको अन्य मतवाले अनेक प्रकारसे कहते हैं, वैसा ज्ञान और वैसा स्वरूप ज्ञानका नहीं है। जो सर्वज्ञ वीतराग देव भाषित ज्ञान और ज्ञानका स्वरूप है वही निर्बाध सत्यार्थ है और ज्ञान है वही आत्मा है तथा आत्माका स्वरूप है, उसको जानकर उसमें स्थिरता भाव करे, परद्रव्योंसे रागद्वेष नहीं करे वही निश्चय चारित्र है इसलिये पूर्वोक्त महाव्रतादिकी प्रवृत्ति करके इस ज्ञानस्वरूप आत्मामें लीन होना इसप्रकार उपदेश है ॥ ३८॥

रे! भव्यजनबोधार्थ जिनमार्गे कह्युं जिन जे रीते।
ते रीत जाणो ज्ञान ने ज्ञानात्म आत्माने तमे ॥ ३८॥

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार ज्ञानसे ऐसे जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है:—

जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी।
रायादिदोसरहिओ जिणसासणे [1]मोक्खमग्गोत्ति ॥३९॥

जीवाजीवविभक्ति यः जानाति स भवेत् सज्ज्ञानः।
रागादिदोषरहितः जिनशासने मोक्षमार्ग इति ॥३९॥

अर्थः—जो पुरुष जीव और अजीवका भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है और रागादि दोषोंसे रहित होता है इसप्रकार जिनशासनमें मोक्षमार्ग है।

भावार्थः—जो जीव-अजीव पदार्थका स्वरूप भेदरूप जानकर स्व-परका भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है और परद्रव्योंसे रागद्वेष छोड़नेसे ज्ञानमें स्थिरता होने पर निश्चय सम्यक्चारित्र होता है, वही जिनमतमें मोक्षमार्गका स्वरूप कहा है। अन्य मतवालोंने अनेक प्रकारसे कल्पना करके कहा है वह मोक्षमार्ग नहीं है ॥३९॥

आगे इसप्रकार मोक्षमार्गको जानकर श्रद्धा सहित इसमें प्रवृत्ति करता है वह शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त करता है इसप्रकार कहते हैं:—

दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए।
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥४०॥

दर्शनज्ञानचरित्रं त्रीण्यपि जानीहि परमश्रद्धया।
यत् ज्ञात्वा योगिनः अचिरेण लभंते निर्वाणम् ॥४०॥

अर्थः—हे भव्य! तू दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंको परमश्रद्धासे जान, जिसको जानकर योगी मुनि थोड़े ही कालमें निर्वाणको प्राप्त करता है।

---

१ पाठान्तरः—मोक्खमग्गुत्ति।

जे जाणतो जीव-अजीवना सुविभागने, सद्ज्ञानी ते।
रागादिविरहित थाय छे-जिनशासने शिवमार्ग जे ॥३९॥

दृग, ज्ञान ने चारित्र-त्रण जाणो परम श्रद्धा वडे।
जे जाणीने योगीजनो निर्वाणने अचिरे वरे ॥४०॥

भावार्थः—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र त्रयात्मक मोक्षमार्ग है इसको श्रद्धापूर्वक जाननेका उपदेश है क्योंकि इसको जाननेसे मुनियोंको मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥४०॥

आगे कहते हैं कि इसप्रकार निश्चयचारित्ररूप ज्ञानका स्वरूप कहा, जो इसको पाते हैं वे शिवरूप मन्दिरमें रहनेवाले होते हैं:—

[1]पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविशुद्धभावसंजुत्ता।
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूड़ामणी सिद्धा ॥४१॥

[2]प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ताः।
भवंति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥४१॥

अर्थः—जो पुरुष इस जिनभाषित ज्ञानरूप जलको प्राप्त करके अपने निर्मल भले प्रकार विशुद्धभाव संयुक्त होते हैं वे पुरुष तीन भुवनके चूडामणि और शिवालय अर्थात् मोक्षरूपी मन्दिरमें रहनेवाले सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।

भावार्थः—जैसे जलसे स्नान करके शुद्ध होकर उत्तम पुरुष महलमें निवास करते हैं वैसे ही यह ज्ञान जलके समान है और आत्माके रागादिक मैल लगनेसे मलिनता होती है इसलिये इस ज्ञानरूप जलसे रागादिक मलको धोकर जो अपनी आत्माको शुद्ध करते हैं वे मुक्तिरूप महलमें रहकर आनन्द भोगते हैं, उनको तीन भुवनके शिरोमणि सिद्ध कहते हैं ॥ ४१ ॥

आगे कहते हैं कि जो ज्ञानगुणसे रहित हैं वे इष्ट वस्तुको नहीं पाते हैं इसलिये गुण दोषको जाननेके लिये ज्ञानको भले प्रकारसे जानना:—

---

१ पाठान्तरः—पीऊण।

२ पाठान्तरः—पीत्वा।

जे ज्ञानजल पीने लहे सुविशुद्ध निर्मल परिणति।
शिवधामवासी सिद्ध थाय-त्रिलोकना चूडामणि ॥४१॥

णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं ।
इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि ॥४२॥

ज्ञानगुणैः विहीना न लभते ते स्विष्टं लाभं ।
इति ज्ञात्वा गुणदोषौ तत् सद्ज्ञानं विजानीहि ॥४२॥

अर्थः—ज्ञानगुणसे हीन पुरुष अपनी इच्छित वस्तुके लाभको नहीं प्राप्त करते इसप्रकार जानकर हे भव्य ! तू पूर्वोक्त सम्यग्ज्ञानको गुण दोषके जाननेके लिये जान ।

भावार्थः—ज्ञानके विना गुण दोषका ज्ञान नही होता है तब अपनी इष्ट तथा अनिष्ट वस्तुको नहीं जानता है तब इष्ट वस्तुका लाभ नहीं होता है **इसलिये सम्यग्ज्ञान ही से गुण दोष जाने जाते हैं** । क्योंकि सम्यग्ज्ञानके बिना हेय उपादेय वस्तुओंका जानना नहीं होता है और हेय उपादेयको जाने विना सम्यक्चारित्र नही होता है इसलिये ज्ञान ही को चारित्रसे प्रधान कहा है ॥४२॥

आगे कहते हैं कि जो सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र धारण करता है वह थोड़े ही कालमें अनुपम सुखको पाता है:—

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥४३॥

चारित्रसमारूढ आत्मनि[1] परं न ईहते ज्ञानी ।
प्राप्नोति अचिरेण सुखं अनुपमं जानीहि निश्चयतः ॥४३॥

१—सं० प्रतिमें 'आत्मनि' के स्थानमें 'आत्मनः' श्रुतसागरी सं० टीका मुद्रित प्रतिमें टीकामें अर्थ भी 'आत्मनः' का ही किया है, दे० पृ० ५४ ।

जे ज्ञानगुणथी रहित, ते पामे न लाभ सुइष्टने ।
गुणदोष जाणी ए रीतं, सद्ज्ञानने जाणो तमे ॥४२॥

ज्ञानी चरित्रारूढ थई निज आत्ममां पर नव चहे ।
अचिरे लहे शिवसौख्य अनुपम एम जाणो निश्चये ॥४३॥

अर्थः - जो पुरुष ज्ञानी है और चारित्र सहित है वह अपनी आत्मामें परद्रव्यकी इच्छा नहीं करता है, परद्रव्यमें राग द्वेष मोह नहीं करता है। वह ज्ञानी जिसकी उपमा नहीं है इसप्रकार अविनाशी मुक्तिके सुखको पाता है। हे भव्य ! तू निश्चयसे इसप्रकार जान। यहाँ ज्ञानी होकर हेय उपादेयको जानकर, संयमी बनकर परद्रव्यको अपनेमें नहीं मिलाता है वह परम सुख पाता है इसप्रकार बताया है ॥४३॥

आगे इष्ट चारित्रके कथनका संकोच करते हैं:—

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयराएण।
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ॥४४॥

एवं संक्षेपेण च भणितं ज्ञानेन वीतरागेण।
सम्यक्त्वसंयमाश्रयद्वयोरपि उद्देशितं चरणम् ॥४४॥

अर्थः—एवं अर्थात् ऐसे पूर्वोक्त प्रकार संक्षेपसे श्री वीतरागदेवने ज्ञानके द्वारा कहे इसप्रकार सम्यक्त्व और संयम इन दोनोंके आश्रय चारित्र सम्यक्त्वचरणस्वरूप और संयमचरणस्वरूप दो प्रकारसे उपदेश किया है, आचार्यने चारित्रके कथनको संक्षेपरूपसे कहकर संकोच किया है ॥४४॥

आगे इस चारित्रपाहुडको भानेका उपदेश और इसका फल कहते हैं:—

भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं अइरेणऽपुणब्भवा होई ॥४५॥

भावयत भावशुद्धं स्फुटं रचितं चरणप्राभृतं चैव।
लघु चतुर्गतीः त्यक्त्वा अचिरेण अपुनर्भवाः भवत ॥४५॥

अर्थः—यहाँ आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवो ! यह चरण अर्थात् चारित्र पाहुड हमने स्फुट प्रगट करके बनाया है उसको तुम अपने शुद्धभावसे भाओ। अपने

वीतरागदेवे ज्ञानथी सम्यक्त्व-संयम-आश्रये।
जे चरण भाख्युं, ते कह्युं संक्षेपथी अहीं आ रीते ॥४४॥
भावो विमल भावे चरणप्राभृत सुविरचित स्पष्ट जे।
छोडी चतुर्गति शीघ्र पामो मोक्ष शाश्वतने तमे ॥४५॥

भावोंमें बारंबार अभ्यास करो, इससे शीघ्र ही चार गतियोंको छोड़कर अपुनर्भव मोक्ष तुम्हें होगा, फिर संसारमें जन्म नही पाओगे ।

भावार्थः—इस चारित्रपाहुडको वांचना, पढ़ना, धारण करना, वारम्वार भाना, अभ्यास करना यह उपदेश है, इससे चारित्रका स्वरूप जानकर धारण करनेकी रुचि हो, अंगीकार करे तब चार गतिरूप संसारके दुःखसे रहित होकर निर्वाणको प्राप्त हो, फिर संसारमें जन्म धारण नहीं करे इसलिये जो कल्याणको चाहते हों वे इस प्रकार करो ॥४५॥

छप्पय

चारित दोय प्रकार देव जिनवरने भाख्या ।
समकित संयम चरण ज्ञानपूरव तिस राख्या ॥

जे नर सरधावान याहि धारैं विधि सेती ।
निश्चय अर व्यवहार रीति आगममें जेती ॥

जब जगधंधा सव मेटिकैं निजस्वरूपमें थिर रहै ।
तब अष्टकर्मकूं नाशिकैं अविनाशी शिवकूं लहै ॥१॥

ऐसे सम्यक्त्वचरण चारित्र और संयमचरण चारित्र दो प्रकारके चारित्रका स्वरूप इस प्राभृतमें कहा ।

* दोहा *

जिनभाषित चारित्रकूं जे पालैं मुनिराज ।
तिनिके चरण नमूं सदा पाऊं तिनि गुणसाज ॥२॥

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यस्वामि विरचित चारित्रप्राभृतकी पं० जयचन्द्रजी छाबड़ाकृत देशभाषामय वचनिका का हिन्दी भाषानुवाद समाप्त ॥३॥

अथ बोधपाहुड

—४—

* दोहा *

देव जिनेश्वर सर्वगुरु, बंदूं मन-वच-काय।
जा प्रसाद भवि बोध ले, पालैं जीव निकाय॥१॥

इसप्रकार मंगलाचरणके द्वारा श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत गाथाबन्ध बोधपाहुड की देशभाषामय वचनिकाका हिन्दी भाषानुवाद लिखते हैं, पहिले आचार्य ग्रन्थ करनेको मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं:—

बहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे।
वंदित्ता आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे॥१॥

सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
वोच्छामि समासेण [1]छक्कायसुहंकरं सुणह॥२॥

बहुशास्त्रार्थज्ञापकान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान्।
वन्दित्वा आचार्यान् कषायमलवर्जितान् शुद्धान्॥१।

सकलजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितम्।
वक्ष्यामि समासेन षट्कायसुखंकरं शृणु॥२॥ युग्मम्॥

---

१ मुद्रित सटीक संस्कृत प्रतिमें "छक्कायहियंकरं" ऐसा पाठ है।

शास्त्रार्थ बहु जाणे, सुद्दगसंयमविमल तप आचरे।
वर्जितकपाय, विशुद्ध छे, ते सूरिगणने वंदीने॥१॥
पट्कायसुखकर कथन करं संक्षेपथी, सुणजो तमे।
जे सर्वजनबोधार्थ जिनमार्गे कह्युं छे जिनवरे॥२॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि—मैं आचार्योंको नमस्कार कर, छहकायके जीवोंको सुखके करनेवाले जिनमार्गमें जिनदेवने जैसे कहा है वैसे, जिसमें समस्त लोकके हितका ही प्रयोजन है ऐसा ग्रन्थ संक्षेपसे कहूँगा, उसको हे भव्य जीवों! तुम सुनो। जिन आचार्योंकी वंदना की वे आचार्य कैसे हैं? बहुत शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाले हैं, जिनका तपश्चरण सम्यक्त्व और संयमसे शुद्ध है, कषायरूप मलसे रहित हैं इसीलिये शुद्ध हैं।

भावार्थः—यहाँ आचार्योंकी वंदना की, उनके विशेषणोंसे जाना जाता है कि—गणधरादिकसे लेकर अपने गुरुपर्यंत सबकी वन्दना है और ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा की उसके विशेषणोंसे जाना जाता है कि—जो बोधपाहुड ग्रन्थ करेंगे वह लोगोंको धर्ममार्गमें सावधान कर कुमार्ग छुड़ाकर अहिंसाधर्मका उपदेश करेगा ॥२॥

आगे इस 'बोधपाहुड'में ग्यारह स्थल बांधे हैं उनके नाम कहते हैंः—

आयदणं चेदिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं।
भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमादत्थं ॥३॥

अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहंतं।
पावज्जगुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो ॥४॥

आयतनं चैत्यगृहं जिनप्रतिमा दर्शनं च जिनबिंबम्।
भणितं सुवीतरागं जिनमुद्रा ज्ञानमात्मार्थम्[1] ॥३॥

अर्हता सुदृष्टं यः देवः तीर्थमिह च अर्हन्।
प्रव्रज्या गुणविशुद्धा इति ज्ञातव्याः यथाक्रमशः ॥४॥

---

१. "आत्मस्थं" संस्कृतमें पाठान्तर है।

जे आयतन ने चैत्यगृह, प्रतिमा तथा दर्शन अने।
वीतराग जिननुं बिंब, जिनमुद्रा, स्वहेतुक ज्ञान जे ॥३॥

अर्हंतदेशित देव, तेम ज तीर्थ, वळी अर्हंत ने।
गुणशुद्ध प्रव्रज्या यथाक्रमशः अहीं ज्ञातव्य छे ॥४॥

अर्थः—१–आयतन, २–चैत्यगृह, ३–जिनप्रतिमा, ४–दर्शन, ५–जिनबिंब। कैसा है जिनबिंब ? भलेप्रकार वीतराग है, ६–जिनमुद्रा रागसहित नहीं होती है, ७–ज्ञान पद कैसा ? आत्मा ही है अर्थ अर्थात् प्रयोजन जिसमें, इसप्रकार सात तो ये निश्चय, वीतरागदेवने कहे वैसे यथा अनुक्रमसे जानने और ८–देव, ९–तीर्थ १०–अरहंत, तथा गुणसे विशुद्ध, ११–प्रव्रज्या ये चार जो अरहंत भगवानने कहे वैसे इस ग्रंथमें जानना, इसप्रकार ये ग्यारह स्थल हुए ॥ ३–४ ॥

भावार्थः—यहाँ आशय इसप्रकार जानना चाहिये कि—धर्ममार्गमें कालदोषसे अनेक मत हो गये हैं तथा जैनमतमें भी भेद हो गये हैं, उनमें आयतन आदिमें विपर्यय (विपरीतपना) हुआ है, उनका परमार्थभूत सच्चा स्वरूप तो लोग जानते नहीं हैं और धर्मके लोभी होकर जैसी बाह्य प्रवृत्ति देखते हैं उसमें ही प्रवर्तने लग जाते हैं, उनको संबोधनेके लिए यह '**बोधपाहुड**' बनाया है। उसमें आयतन आदि ग्यारह स्थानोंका परमार्थभूत सच्चा स्वरूप जैसा सर्वज्ञदेवने कहा है वैसे कहेंगे, अनुक्रमसे जैसे नाम कहे हैं वैसे ही अनुक्रमसे इनका व्याख्यान करेंगे सो जानने योग्य है ॥३–४॥

(१) आगे प्रथम ही जो **आयतन** कहा उसका निरूपण करते हैं:—

मणवयणकायदव्वा आयत्ता[1] जस्स इन्दिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥५॥

मनोवचनकायद्रव्याणि आयत्ताः यस्य ऐन्द्रियाः विषयाः।
आयतनं जिनमार्गे निर्दिष्टं संयतं रूपम् ॥५॥

अर्थः—जिनमार्गमें संयमसहित मुनिरूप है उसे '**आयतन**' कहा है। कैसा है मुनिरूप—जिसके मन–वचन–काय द्रव्यरूप हैं वे, तथा पांच इन्द्रियोंके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ये विषय हैं वे। 'आयत्ता' अर्थात् अधीन हैं–वशीभूत हैं। उनके (–मन–वचन–काय और पांच इन्द्रियोंके विषय) संयमी मुनि आधीन नहीं है। वे मुनिके वशीभूत हैं ऐसा संयमी है वह '**आयतन**' है ॥५॥

---

१. सं० प्रतिमें 'आसत्ता' पाठ है जिसकी संस्कृत 'आसक्ताः' है।

आयत्त छे मन-वचन-काया इन्द्रिविषयो जेहने।
ते संयमीनुं रूप भाख्युं आयतन जिनशासने ॥५॥

आगे फिर कहते हैं:—

मयरायदोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं ॥६॥

मदः रागः द्वेषः मोहः क्रोध लोभः च यस्य आयत्ताः।
पंचमहाव्रतधारी आयतनं महर्षयो भणिताः ॥६॥

अर्थः—जिस मुनिके मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ और चकारसे माया आदि ये सब 'आयत्ता' अर्थात् निग्रहको प्राप्त हो गये और पाँच महाव्रत जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रहका त्याग उनके धारी हो ऐसा महामुनि ऋषीश्वर 'आयतन' कहा है।

भावार्थः—पहिली गाथामें तो बाह्यका स्वरूप कहा था। यहाँ बाह्य–आभ्यंतर दोनों प्रकारसे संयमी हो वह 'आयतन' है इसप्रकार जानना चाहिये ॥६॥

आगे फिर कहते हैं:—

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥७॥

सिद्धं यस्य सदर्थं विशुद्धध्यानस्य ज्ञानयुक्तस्य।
सिद्धायतनं सिद्धं मुनिवरवृषभस्य मुनितार्थम् ॥७॥

अर्थः—जिस मुनिके सदर्थ अर्थात् समीचीन अर्थ जो 'शुद्ध आत्मा' सो सिद्ध हो गया हो वह सिद्धायतन है। कैसा है मुनि? जिसके विशुद्ध ध्यान है, धर्मध्यानको साध कर शुक्लध्यानको प्राप्त होगया है; ज्ञानसहित है, केवलज्ञानको प्राप्त होगया है। घातिकर्मरूप मल से रहित है इसीलिये मुनियोंमें 'वृषभ' अर्थात् प्रधान है, जिसने समस्त पदार्थ जान लिये हैं। इसप्रकार मुनिप्रधानको 'सिद्धायतन' कहते हैं।

आयत्त जस मद-क्रोध-लोभ विमोह-राग-विरोध छे।
ऋषिवर्य पंचमहाव्रती ते आयतन निर्दिष्ट छे ॥६॥

सुविशुद्धध्यानी, ज्ञानयुत, जेने सुसिद्ध सदर्थ छे।
मुनिवरवृषभ ते मलरहित सिद्धायतन विदितार्थ छे ॥७॥

भावार्थ.—इसप्रकार तीन गाथामें '**आयतन**' का स्वरूप कहा पहिली गाथामें तो संयमी सामान्यका बाह्यरूप प्रधानतासे कहा। दूसरीमें अंतरंग-बाह्य दोनोंकी शुद्धतारूप ऋद्धिधारी मुनि ऋषीश्वर कहा और इस तीसरी गाथामें केवलज्ञानीको जो मुनियोंमें प्रधान है '**सिद्धायतन**' कहा है। यहाँ इसप्रकार जानना जो 'आयतन' अर्थात् जिसमें बसे, निवास करे उसको आयतन कहा है इसलिये धर्मपद्धतिमें जो धर्मात्मा पुरुषके आश्रय करने योग्य हो वह '**धर्मायतन**' है। इसप्रकार मुनि ही धर्मके आयतन हैं, अन्य कोई भेषधारी, पाखंडी, (-ढौंगी) विषय-कषायोंमें आसक्त, परिग्रह-धारी धर्मके आयतन नहीं हैं तथा जैनमतमें भी जो सूत्रविरुद्ध प्रवर्तते हैं वे भी आयतन नहीं हैं, वे सब 'अनायतन' हैं। बौद्धमतमें पांच इन्द्रिय, उनके पांच विषय, एक मन, एक धर्मायतन शरीर ऐसे बारह आयतन कहे हैं वे भी कल्पित हैं, इसलिये जैसा यहाँ आयतन कहा वैसा ही जानना, धर्मात्माको उसीका आश्रय करना, अन्यकी स्तुति, प्रशंसा, विनयादिक न करना, यह बोधपाहुड ग्रन्थ करनेका आशय है। जिसमें इसप्रकारके निर्ग्रंथ मुनि रहते हैं इसप्रकारके क्षेत्रको भी 'आयतन' कहते हैं, जो व्यवहार है ॥७॥

(२) आगे चैत्यगृहका निरूपण करते हैं:—

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च ।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥८॥

बुद्धं यत् बोधयन् आत्मानं चैत्यानि अन्यत् च ।
पंचमहाव्रतशुद्धं ज्ञानमयं जानीहि चैत्यगृहम् ॥८॥

अर्थ:—जो मुनि 'बुद्ध' अर्थात् ज्ञानमयी आत्माको जानता हो, अन्य जीवोंको 'चैत्य' अर्थात् चेतनास्वरूप जानता हो, आप ज्ञानमयी हो और पाँच महाव्रतोंसे शुद्ध हो, निर्मल हो, उस मुनिको हे भव्य ! तू 'चैत्यगृह' जान ।

भावार्थ:—जिसमें अपनेको और दूसरेको जाननेवाला ज्ञानी निष्पाप-निर्मल इसप्रकार 'चैत्य' अर्थात् चेतनास्वरूप आत्मा रहता है वह 'चैत्यगृह' है। इसप्रकारका

स्वात्मा-परात्मा-अन्यने जे जाणतां ज्ञान ज रहे।
छे चैत्यगृह, ते ज्ञानमूर्ति, शुद्ध पंचमहाव्रते ॥८॥

चैत्यगृह संयमी मुनि है, अन्य पाषाण आदिके मंदिरको 'चैत्यगृह' कहना व्यवहार है ॥८॥

आगे फिर कहते हैं:—

चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स।
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ॥९॥

चैत्यं बंधं मोक्षं दुःखं सुखं च आत्मकं तस्य।
चैत्यगृहं जिनमार्गे षड्कायहितंकरं भणितम् ॥ ९ ॥

अर्थः—जिसके बंध और मोक्ष, सुख और दुःख हो उस आत्माको चैत्य कहते हैं—अर्थात् ये चिह्न जिसके स्वरूपमें हो उसे 'चैत्य' कहते हैं क्योंकि जो चेतनास्वरूप हो उसीके बंध, मोक्ष, सुख, दुःख संभव हैं। इसप्रकार चैत्यका जो गृह हो वह 'चैत्यगृह' है। जिनमार्गमें इसप्रकार चैत्यगृह छहकायका हित करनेवाला होता है वह इसप्रकारका 'मुनि' है। पांच स्थावर और त्रसमें विकलत्रय और असैनी पंचेन्द्रिय तक केवल रक्षा ही करने योग्य हैं इसलिये उनकी रक्षा करनेका उपदेश करता है तथा आप उनका घात नहीं करता है यही उनका हित है और सैनी पंचेन्द्रिय जीव हैं उनकी रक्षा भी करता है, रक्षाका उपदेश भी करता है तथा उनको संसारसे निवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्त करनेका उपदेश करते हैं। इसप्रकार मुनिराजको 'चैत्यगृह' कहते हैं।

भावार्थः—लौकिक जन चैत्यगृहका स्वरूप अन्यथा अनेक प्रकार मानते हैं उनको सावधान किया है कि—जिनसूत्रमें छहकायका हित करनेवाला ज्ञानमयी संयमी मुनि है वह 'चैत्यगृह' है; अन्यको चैत्यगृह कहना मानना व्यवहार है। इसप्रकार चैत्यगृहका स्वरूप कहा ॥९॥

(३) आगे जिनप्रतिमाका निरूपण करते हैं:—

चेतन स्वयं, सुख-दुःख-बंधन-मोक्ष जेने अल्प छे।
षट्कायहितकर तेह भाख्युं चैत्यगृह जिनशासने ॥ ९ ॥

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥१०॥

स्वपरा जंगमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम् ।
निर्ग्रन्थवीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ॥१०॥

अर्थः—जिनका चारित्र दर्शन–ज्ञानसे शुद्ध–निर्मल है उनकी स्व–परा अर्थात् अपनी और परकी चलती हुई देह है वह जिनमार्गमें 'जंगम प्रतिमा' है, अथवा स्वपरा अर्थात् आत्मामें 'पर' यानी भिन्न है ऐसी देह है। वह कैसी है? जिसका निर्ग्रंथ स्वरूप है, कुछ भी परिग्रहका लेश भी नही है ऐसी दिगम्बरमुद्रा है। जिसका वीतराग स्वरूप है, किसी वस्तुमे राग–द्वेष–मोह नहीं है, जिनमार्गमें ऐसी 'प्रतिमा' कही है। जिनके दर्शन ज्ञानमे निर्मल चारित्र पाया जाता है, इसप्रकार मुनियोंकी गुरु–शिष्य अपेक्षा अपनी तथा परकी चलती हुई देह निर्ग्रन्थ वीतरागमुद्रा स्वरूप है, वह जिनमार्ग में 'प्रतिमा' है, अन्य कल्पित है और धातु–पाषाण आदिसे बनाये हुए दिगम्बरमुद्रा स्वरूपको 'प्रतिमा' कहते हैं जो व्यवहार है। वह भी बाह्य आकृति तो वैसी ही हो वह व्यवहारमें मान्य है ॥१०॥

आगे फिर कहते हैं:—

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
सा होई वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥११॥

यः चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
सा भवति वंदनीया निर्ग्रन्था संयता प्रतिमा ॥११॥

अर्थः—जो शुद्ध आचरणका आचरण करते हैं तथा सम्यग्ज्ञानसे यथार्थ वस्तुको जानते हैं और सम्यग्दर्शनसे अपने स्वरूपको देखते हैं इसप्रकार शुद्धसम्यक्त्व जिनके पाया जाता है ऐसी निर्ग्रन्थ संयमस्वरूप प्रतिमा है वह वंदन–करने योग्य है ॥

दृग ज्ञान-निर्मलचरणधरनी भिन्न जंगम काय जे।
निर्ग्रंथ ने वीतराग, ते प्रतिमा कही जिनशासने ॥१०॥

जाणे-जुए निर्मल सुदृग सह, चरण निर्मल आचरे।
ते वंदनीय निर्ग्रंथ-संयतरूप प्रतिमा जाणजे ॥११॥

भावार्थः—जाननेवाला, देखनेवाला, शुद्धसम्यक्त्व, शुद्धचारित्र स्वरूप निर्ग्रंथ संयमसहित इसप्रकार मुनिका स्वरूप है वही 'प्रतिमा' है, वही वंदन करने योग्य है; अन्य कल्पित वंदन करने योग्य नही है और वैसे ही रूपसदृश धातुपाषाणकी प्रतिमा हो वह व्यवहारसे वंदनेयोग्य है ॥ ११ ॥

आगे फिर कहते हैंः—

दंसणअणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य ।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं ॥१२॥

णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया [1]जंगमेण रूवेण ।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥१३॥

दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तवीर्याः अनंतसुखाः च ।
शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ताः कर्माष्टकबंधः ॥ १२ ॥

निरुपमा अचला अक्षोभाः निर्मापिता जंगमेन रूपेण ।
सिद्धस्थाने स्थिताः व्युत्सर्गप्रतिमा ध्रुवाः सिद्धाः ॥ १३ ॥

अर्थः—जो अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य और अनंतसुख सहित है शाश्वत अविनाशी सुखस्वरूप है; अदेह है—कर्म नोकर्मरूप पुद्‌गलमयी देह जिनके नहीं है, अष्टकर्मके बंधनसे रहित है; उपमा रहित है–जिसकी उपमा दी जाय ऐसी लोकमें वस्तु नही है; अचल है—प्रदेशोंका चलना जिनके नहीं है; अक्षोभ है–जिनके उपयोगमें कुछ क्षोभ नहीं है, निश्चल है;, जंगमरूपसे निर्मित है–कर्मसे निर्मुक्त होनेके बाद एक समयमात्र गमनरूप होते हैं, इसलिये जंगमरूपसे निर्मापित है; सिद्धस्थान जो लोकका

---

१. सं० प्रतिमें 'निर्मापिताः' 'अजगमेन रूपेण' ऐसी छाया है।

निःसीम दर्शन-ज्ञान ने सुख-वीर्य वर्ते जेमने ।
शाश्वतसुखी, अशरीर ने कर्माष्टबंधविमुक्त जे ॥ १२ ॥

अक्षोभ-निरुपम-अचल-ध्रुव, उत्पन्न जंगम रूपथी ।
ते सिद्ध सिद्धिस्थानस्थित, व्युत्सर्गप्रतिमा जाणवी ॥ १३ ॥

अग्रभाग उसमें स्थित हैं; इसीलिये व्युत्सर्ग अर्थात् कायरहित है—जैसा पूर्व शरीरमें आकार था वैसा ही प्रदेशोंका आकार—चरम शरीरसे कुछ कम है; ध्रुव है—संसारसे मुक्त हो (उसी समय) एकसमयमात्र गमन कर लोकके अग्रभागमें जाकर स्थित हो जाते हैं, फिर चलाचल नहीं होते हैं ऐसी प्रतिमा 'सिद्धभगवान्' है।

भावार्थः—पहिले दो गाथाओंमें तो जंगम प्रतिमा संयमी मुनियोंकी देहसहित कही। इन दो गाथाओंमें 'थिरप्रतिमा' सिद्धोंकी कही, इसप्रकार जंगम थावर प्रतिमाका स्वरूप कहा। अन्य कई अन्यथा बहुत प्रकारसे कल्पना करते हैं वह प्रतिमा वंदन करने योग्य नही है॥

यहाँ प्रश्न—यह तो परमार्थस्वरूप कहा और बाह्य व्यवहारमें पाषाणादिककी प्रतिमाकी वंदना करते हैं वह कैसे? उसका समाधान—जो बाह्य व्यवहारमें मतांतरके भेदसे अनेक रीति प्रतिमाकी प्रवृत्ति है यहाँ परमार्थको प्रधानकर कहा है और व्यवहार है वहाँ जैसा प्रतिमाका परमार्थरूप हो उसीको सूचित करता हो वह निर्बाध है। जैसा परमार्थरूप आकार कहा वैसा ही आकाररूप व्यवहार हो वह व्यवहार भी प्रशस्त है; व्यवहारी जीवोंके यह भी वंदन करने योग्य है। स्याद्वाद न्यायसे सिद्ध किये गये परमार्थ और व्यवहारमें विरोध नहीं है॥१२-१३॥

इसप्रकार जिनप्रतिमाका स्वरूप कहा।

(८) आगे दर्शनका स्वरूप कहते हैं:—

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजम सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं॥१४॥

दर्शयति मोक्षमार्गं सम्यक्त्वं संयमं सुधर्मं च।
निर्ग्रंथं ज्ञानमयं जिनमार्गे दर्शनं भणितम्॥१४॥

अर्थः—जो मोक्षमार्गको दिखाता है वह **'दर्शन'** है, मोक्षमार्ग कैसा है?—सम्यक्त्व अर्थात् तत्वार्थश्रद्धानलक्षण सम्यक्त्वस्वरूप है, **संयम** अर्थात् चारित्र—पंच

दर्शावतुं संयम-सुमार्ग-सद्धर्मरूप, निर्ग्रंथ ने।
ज्ञानात्म मुक्तिमार्ग. ते दर्शन कह्युं जिनशासने॥१४॥

महाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्ति ऐसे तेरह प्रकार चारित्ररूप है, **सुधर्म** अर्थात् उत्तम-क्षमादिक दशलक्षण धर्मरूप है, **निर्ग्रन्थरूप** है—बाह्य—अभ्यंतर परिग्रह रहित है, **ज्ञानमयी** है—जीव अजीवादि पदार्थोंको जाननेवाला है। यहां 'निर्ग्रंथ' और 'ज्ञानमयी' ये दो विशेषण दर्शनके भी होते हैं क्योंकि दर्शन है सो बाह्य तो इसकी मूर्ति निर्ग्रंथ है और अंतरंग ज्ञानमयी है। **इसप्रकार मुनिके रूपको जिनमार्गमें 'दर्शन'** कहा है तथा **इस प्रकारके रूपके श्रद्धानरूप सम्यक्त्वस्वरूपको 'दर्शन' कहते हैं।**

भावार्थः—परमार्थरूप 'अन्तरंग दर्शन' तो सम्यक्त्व है और 'बाह्य' उसकी मूर्ति, ज्ञानसहित ग्रहण किया निर्ग्रंथ रूप इसप्रकार मुनिका रूप है सो 'दर्शन' है, क्योंकि मतकी मूर्तिको दर्शन कहना लोकमें प्रसिद्ध है।

आगे फिर कहते हैं:—

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि।
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥ १५ ॥

यथा पुष्पं गंधमयं भवति स्फुटं क्षीरं तत् घृतमयं चापि।
तथा दर्शनं हि सम्यक् ज्ञानमयं भवति रूपस्थम् ॥ १५ ॥

अर्थः—जैसे फूल गंधमयी है, दूध घृतमयी है वैसे ही दर्शन अर्थात् मतमें सम्यक्त्व है। कैसा है दर्शन? अंतरंग तो ज्ञानमयी है और बाह्य रूपस्थ है—मुनिका रूप है तथा उत्कृष्ट श्रावक, अर्जिकाका रूप है।

भावार्थः—'दर्शन' नाम मतका प्रसिद्ध है। यहाँ जिनदर्शनमें मुनि, श्रावक और आर्यिकाका जैसा बाह्य भेष कहा सो 'दर्शन' जानना और इसकी श्रद्धा सो 'अंतरंग दर्शन' जानना। ये दोनों ही ज्ञानमयी हैं, यथार्थ तत्वार्थका जाननेरूप सम्यक्त्व जिसमें पाया जाता है, इसीलिये फूलमें गंधका और दूधमें घृतका दृष्टांत युक्त है, इसप्रकार दर्शनका रूप कहा। अन्यमतमें तथा कालदोषसे जिनमतमें जैनाभास भेषी अनेकप्रकार अन्यथा कहते हैं जो कल्याणरूप नहीं है, संसारका कारण है॥ १५॥

ज्यम फूल होय सुगंधमय ने दूध घृतमय होय छे।
रूपस्थ दर्शन होय सम्यग्ज्ञानमय एवी रीते ॥ १५ ॥

५—आगे जिनबिंबका निरूपण करते हैं:—

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च ।
जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

जिनबिंब ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरागं च ।
यत् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षयकारणे शुद्धे ॥१६॥

अर्थः—जिनबिंब कैसा है ? ज्ञानमयी है, संयमसे शुद्ध है, अतिशयकर वीतराग है, कर्मके क्षयका कारण और शुद्ध है इस प्रकारकी दीक्षा और शिक्षा देता है ।

भावार्थः—जो 'जिन' अर्थात् अरहन्त सर्वज्ञका प्रतिबिंब कहलाता है । उसकी जगह उसके जैसा ही माननेयोग्य हो इसप्रकार आचार्य हैं वे दीक्षा अर्थात् व्रतका ग्रहण और शिक्षा अर्थात् विधान बताना, ये दोनों भव्यजीवोंको देते हैं । इसलिये १—प्रथम तो वह आचार्य ज्ञानमयी हो, जिनसूत्रका उनको ज्ञान हो, ज्ञान बिना यथार्थ दीक्षा-शिक्षा कैसे हो ? और २–आप संयमसे शुद्ध हो, यदि इसप्रकार न हो तो अन्यको भी संयमसे शुद्ध नहीं करा सकते । ३—अतिशय=विशेषतया वीतराग न हो तो कषायसहित हो तब दीक्षा, शिक्षा यथार्थ नहीं दे सकते हैं, अतः इसप्रकार आचार्यको जिनके प्रतिबिंब जानना ॥१६॥

आगे फिर कहते हैं:—

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं ।
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥१७

तस्य च कुरुत प्रणामं सर्वां पूजां च विनयं वात्सल्यम् ।
यस्य च दर्शनं ज्ञानं अस्ति ध्रुवं चेतनाभावः ॥१७॥

जिनबिंब छे, जे ज्ञानमय, वीतराग, संयमशुद्ध छे ।
दीक्षा तथा शिक्षा करमक्षयहेतु आपे शुद्ध जे ॥१६॥
तेनी करो पूजा विनय-वात्सल्य-प्रणमन तेहने ।
जेने सुनिश्चित ज्ञान, दर्शन, चेतनापरिणाम छे ॥१७॥

अर्थः—इसप्रकार पूर्वोक्त जिनबिंबको प्रणाम करो और सर्वप्रकार पूजा करो, विनय करो, वात्सल्य करो, क्योंकि—उसके ध्रुव अर्थात् निश्चयसे दर्शन-ज्ञान पाया जाता है और चेतनाभाव है ।

भावार्थः—दर्शन-ज्ञानमयी चेतनाभावसहित जिनबिंब आचार्य है, उनको प्रणामादिक करना । यहाँ परमार्थ प्रधान कहा है, जड़ प्रतिबिंबकी गौणता है ॥१७॥

आगे फिर कहते हैं:—

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
अरहन्तमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥१८॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षाशिक्षाणां च ॥१८॥

अर्थः—जो तप, व्रत और गुण अर्थात् उत्तरगुणोंसे शुद्ध हों, सम्यग्ज्ञानसे पदार्थोंको यथार्थ जानते हों, सम्यग्दर्शनसे पदार्थोंको देखते हों इसीलिये जिनके शुद्ध सम्यक्त्व है इसप्रकार जिनबिंब आचार्य है । यह दीक्षा-शिक्षाकी देनेवाली अरहंतकी मुद्रा है ॥

भावार्थः—इसप्रकार जिनबिंब है वह जिनमुद्रा ही है इसप्रकार जिनबिंब का स्वरूप कहा है ॥१८॥

(९) आगे **जिनमुद्रा**का स्वरूप कहते हैं:—

दढसंजममुद्दाए इन्दियमुद्दा कसायदिढमुद्दा ।
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया ॥१९॥

दृढसंयममुद्रया इन्द्रियमुद्रा कषायदृढमुद्रा ।
मुद्रा इह ज्ञानेन जिनमुद्रा ईदृशी भणिता ॥१९॥

तपव्रतगुणोथी शुद्ध, निर्मल सुदृग सह जाणे-जुए ।
दीक्षा-सुशिक्षादायिनी अर्हंतमुद्रा तेह छे ॥१८॥

इन्द्रिय-कषायनिरोधमय मुद्रा सुदृढसंयममयी ।
—आ उक्त मुद्रा ज्ञानथी निष्पन्न, जिनमुद्रा कही ॥१९॥

अर्थः—दृढ़ अर्थात् वज्रवत् चलाने पर भी न चले ऐसा संयम–इन्द्रिय मनका वश करना, षट्जीव निकायकी रक्षा करना, इसप्रकार संयमरूप मुद्रासे तो पांच इन्द्रियोंको विषयोंमें न प्रवर्तांना उनका संकोच करना यह तो इन्द्रियमुद्रा है, और इसप्रकार संयम द्वारा ही जिसमें कषायोंकी प्रवृत्ति नहीं है ऐसी कषायदृढ़मुद्रा है, तथा ज्ञानका स्वरूपमें लगाना इसप्रकार ज्ञानद्वारा सब बाह्यमुद्रा शुद्ध होती है। इसप्रकार जिनशासनमें ऐसी '**जिनमुद्रा**' होती है ॥

भावार्थः—१–जो संयमसहित हो, २–जिसके इन्द्रियाँ वशमें हों, ३–कषायोंकी प्रवृत्ति न होती हो और ४–ज्ञानको स्वरूपमें लगाता हो ऐसा मुनि हो सो ही '**जिनमुद्रा**' है ॥१९॥

(७) आगे ज्ञानका निरूपण करते हैंः—

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥२०॥

संयमसंयुक्तस्य च [1]सुध्यानयोग्यस्य मोक्षमार्गस्य ।
ज्ञानेन लभते लक्षं तस्मात् ज्ञानं च ज्ञातव्यम् ॥२०॥

अर्थः—संयमसे संयुक्त और ध्यानके योग्य इसप्रकार जो मोक्षमार्ग उसका लक्ष्य अर्थात् लक्षणे योग्य—जाननेयोग्य निशाना जो अपना निजस्वरूप वह ज्ञानद्वारा पाया जाता है, इसलिये इसप्रकारके लक्ष्यको जाननेके लिए ज्ञानको जानना ।

भावार्थः—संयम अंगीकारकर ध्यान करे और आत्माका स्वरूप न जाने तो मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं है, इसीलिये ज्ञानका स्वरूप जानना चाहिये, उसके जाननेसे सर्व सिद्धि है ॥२०॥

आगे इसीको दृष्टांतद्वारा दृढ़ करते हैंः—

---

१. 'सुध्यानयोगस्य' का श्रेष्ठ ध्यान सहित सं० टीका प्रतिमें ऐसा भी अर्थ है ।

संयमसहित सद्ध्यानयोग्य विमुक्तिपथना लक्ष्यने।
पामी शके छे ज्ञानथी जीव, तेथी ते ज्ञातव्य छे ॥२०॥

जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो ।
तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥२१॥

तथा नापि लभते स्फुटं लक्षं रहितः कांडस्य [1]वेधकविहीनः ।
तथा नापि लक्षयति लक्षं अज्ञानी मोक्षमार्गस्य ॥२१॥

अर्थः—जैसे वेधनेवाला (वेध्रक) जो बाण उससे रहित ऐसा जो पुरुष है वह कांड अर्थात् धनुषके अभ्याससे रहित हो तो लक्ष्य अर्थात् निशानेको नहीं पाता है, वैसेही ज्ञानसे रहित अज्ञानी है वह दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग उसका लक्ष्य अर्थात् स्वलक्षणसे जानने योग्य परमात्माके स्वरूप उसको नहीं प्राप्त कर सकते ।

भावार्थः—धनुषधारी धनुषके अभ्याससे रहित और 'वेधक' जो वाण उससे रहित हो तो निशानेको नहीं प्राप्त कर सकते, वैसेही ज्ञानरहित अज्ञानी मोक्षमार्गका निशाना जो परमात्माका स्वरूप है उनको न पहिचाने तब मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं होती है, इसलिये ज्ञानको जानना चाहिये । परमात्मारूप निशाना ज्ञानरूपवाण द्वारा वेधना योग्य है ॥२१॥

आगे कहते हैं कि इसप्रकार ज्ञान–विनय–संयुक्त पुरुष होवे वही मोक्षको प्राप्त करता है:—

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो ।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥

ज्ञानं पुरुषस्य भवति लभते सुपुरुषोऽपि विनयसंयुक्तः ।
ज्ञानेन लभते लक्ष्यं लक्षयन् मोक्षमार्गस्य ॥२२॥

---

१. 'वेधक–' 'वेध्यक' पाठान्तर है ।

शर-अज्ञ वेध्य-अजाण जेम करे न प्राप्त निशानने ।
अज्ञानी तेम करे न लक्षित मोक्षपथना लक्ष्यने ॥२१

रे ! ज्ञान नरने थाय छे; ते सुजन तेम विनीतने ।
ते ज्ञानथी करी लक्ष, पामे मोक्षपथना लक्ष्यने ॥२२॥

अर्थः—ज्ञान पुरुषके होता है और पुरुष ही विनयसंयुक्त हो सो ज्ञानको प्राप्त करता है जब ज्ञानको प्राप्त करता है तब उस ज्ञान द्वारा ही मोक्षमार्गका लक्ष्य जो 'परमात्माका स्वरूप' उसको लक्षता—देखता—ध्यान करता हुआ उस लक्ष्यको प्राप्त करता है ।

भावार्थः—ज्ञान पुरुषके होता है और पुरुष ही विनयवान होवे सो ज्ञानको प्राप्त करता है, उस ज्ञान द्वारा ही शुद्ध आत्माका स्वरूप जाना जाता है, इसलिये विशेष ज्ञानियोंके विनयद्वारा ज्ञानकी प्राप्ति करनी—क्योंकि निज शुद्ध स्वरूपको जानकर मोक्ष प्राप्त किया जाता है । यहाँ जो विनयरहित हो, यथार्थ सूत्र पदसे चिगा हो, भ्रष्ट हो गया हो उसका निषेध जानना ।।२२।।

आगे इसीको दृढ़ करते हैं:—

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं ।
परमत्थबद्धलक्खो णवि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ।।२३।।

मतिधनुर्यस्य स्थिरं श्रुतं गुणः बाणाः सुसंति रत्नत्रयं ।
परमार्थबद्धलक्ष्यः नापि स्खलति मोक्षमार्गस्य ।।२३।।

अर्थः—जिस मुनिके मतिज्ञानरूप धनुष स्थिर हो, श्रुतज्ञानरूप गुण अर्थात् प्रत्यंचा हो, रत्नत्रयरूप उत्तम बाण हो और परमार्थस्वरूप निजशुद्धात्मस्वरूपका संबंधरूप लक्ष्य हो, वह मुनि मोक्षमार्गको नहीं चूकता है ।

भावार्थः—धनुषकी सब सामग्री यथावत् मिले तब निशाना नहीं चूकता है वैसेही मुनिके मोक्षमार्गकी यथावत् सामग्री मिले तब मोक्षमार्गसे भ्रष्ट नहीं होता है । उसके साधनसे मोक्षको प्राप्त होता है । यह ज्ञानका माहात्म्य है, इसलिये जिनागमके अनुसार सत्यार्थ ज्ञानियोंका विनय करके ज्ञानका साधन करना ।।२३।।

इसप्रकार ज्ञानका निरूपण किया ।

(८) आगे देवका स्वरूप कहते हैं:—

मति चाप थिर, श्रुत दोरी, जेने रत्नत्रय शुभ बाण छे ।
परमार्थ जेनुं लक्ष्य छे, ते मोक्षमार्गे नव चूके ।।२३।।

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च ।
सो देइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥२४॥

सः देवः यः अर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च ।
सः ददाति यस्य अस्ति तु अथः धर्मः च प्रव्रज्या ॥२४॥

अर्थः—'देव' उसको कहते हैं जो **अथ** अर्थात् धन, **धर्म, काम** अर्थात् इच्छाका विषय—ऐसा भोग और **मोक्ष**का कारण ज्ञान इन चारोंको देवे । यहाँ न्याय ऐसा है कि जो वस्तु जिसके पास हो सो देवे और जिसके पास जो वस्तु न हो सो कैसे देवे ? इस न्यायसे अर्थ, धर्म, स्वर्गादिके भोग और मोक्षसुखका कारण प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा जिसके हो उसका 'देव' जानना ॥२४॥

आगे धर्मादिका स्वरूप कहते हैं जिनके जाननेसे देवादिका स्वरूप जाना जाता हैः—

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता ।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥२५॥

धर्मः दयाविशुद्धः प्रव्रज्या सर्वसंगपरित्यक्ता ।
देवः व्यपगतमोहः उदयकरः भव्यजीवानाम् ॥२५॥

अर्थः—जो दयासे विशुद्ध हैं वह धर्म है, जो सर्व परिग्रहसे रहित है वह प्रव्रज्या है, जिसका मोह नष्ट हो गया है वह देव है—वह भव्य जीवोंके उदयको करनेवाला है ।

भावार्थः—लोकमें यह प्रसिद्ध है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषके प्रयोजन हैं । उनके लिये पुरुष किसीकी वंदना करता है, पूजा करता है और यह न्याय है कि जिसके पास जो वस्तु हो वह दूसरेको देवे, न हो तो कहाँसे लावे ?

ते देव, जे सुरीते धरम ने अर्थ, काम, सुज्ञान दे ।
ते वस्तु दे छे ते ज, जेने धर्म-दीक्षा-अर्थ छे ॥२४॥

ते धर्म जेह दयाविमल, दीक्षा परिग्रहमुक्त जे ।
ते देव जे निर्मोह छे ने उदय भव्य तणो करे ॥२५॥

इसलिये ये चार पुरुषार्थ जिनदेवके पाये जाते हैं। धर्म तो उनके दयारूप पाया जाता है, उसको साधकर तीर्थंकर हो गये, तब धनकी और संसारके भोगकी प्राप्ति हो गई, लोकपूज्य होगए, और तीर्थंकरके परमपदमें दीक्षा लेकर, सब मोहसे रहित होकर, परमार्थस्वरूप आत्मिकधर्मको साधकर, मोक्षसुखको प्राप्त कर लिया ऐसे तीर्थंकर जिन हैं, वे ही 'देव' हैं। अज्ञानी लोग जिनको देव मानते हैं उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नहीं है, क्योंकि कई हिंसक हैं, कई विषयासक्त हैं, मोही हैं उनके धर्म कैसा ? अर्थ और कामकी जिनके वांछा पाई जाती है उनके अर्थ, काम कैसा ? जन्म, मरण सहित हैं उनके मोक्ष कैसे ? ऐसा देव सच्चा जिनदेव ही है वही भव्यजीवोंके मनोरथ पूर्ण करते हैं, अन्य सब कल्पित देव हैं ॥२५॥

इसप्रकार देवका स्वरूप कहा।

(९) आगे तीर्थका स्वरूप कहते हैं:—

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेंदियसंजदे णिरावेक्खे ।
ण्हाएउ मुणी तित्थे, दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥२६॥

व्रतसम्यक्त्वविशुद्धे पंचेंद्रियसंयते निरपेक्षे ।
स्नातु मुनिः तीर्थे दीक्षाशिक्षासुस्नानेन ॥२६॥

अर्थः—व्रत सम्यक्त्वसे विशुद्ध और पांच इन्द्रियोंसे संयत अर्थात् संवरसहित तथा निरपेक्ष अर्थात् ख्याति, लाभ, पूजादिक इस लोकके फलकी तथा परलोकमें स्वर्गादिकके भोगोंकी अपेक्षासे रहित ऐसे आत्मस्वरूप तीर्थमें दीक्षा–शिक्षारूप स्थानसे पवित्र होओ ।

भावार्थः—तत्वार्थश्रद्धानलक्षण–सहित, पांच महाव्रतसे शुद्ध और पांच इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त, इस लोक–परलोकमें विषयभोगोंकी वांछासे रहित ऐसे निर्मल आत्माके स्वभावरूप तीर्थमें स्नान करनेसे पवित्र होते हैं ऐसी प्रेरणा करते हैं ॥२६॥

व्रत-सुदृगनिर्मल, इन्द्रियसंयमयुक्त ने निरपेक्ष जे ।
ते तीर्थमां दीक्षा-सुशिक्षारूप स्नान करो, मुने ! ॥२६॥

आगे फिर कहते हैं:—

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि सतिभावेण ॥२७॥

यत् निर्मलं सुधर्म, सम्यक्त्वं संयमं तपः ज्ञानम्।
तत् तीर्थं जिनमार्गे भवति यदि शान्तभावेन ॥२७॥

अर्थः—जिनमार्गमें वह तीर्थ है जो निर्मल उत्तमक्षमादिक धर्म तथा तत्वार्थ-श्रद्धानलक्षण शंकादिमलरहित निर्मल सम्यक्त्व तथा इन्द्रिय मनको वशमें करना, षट्कायके जीवोंकी रक्षा करना इसप्रकार जो निर्मल संयम, तथा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश ऐसे बाह्य छह प्रकारके तप और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ऐसे छह प्रकारके अंतरङ्ग तप इसप्रकार बारह प्रकारके निर्मल तप और जीव-अजीव आदि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान ये '**तीर्थ**' हैं, ये भी यदि शांतभावसहित हो, कषायभाव न हो तब निर्मल **तीर्थ** हैं, क्योंकि यदि ये क्रोधादिभावसहित हों तो मलिनता हो और निर्मलता न रहे।

भावार्थः—जिनमार्गमें तो इसप्रकार 'तीर्थ' कहा है। लोग सागर-नदियोंको तीर्थ मानकर स्नान करके पवित्र होना चाहते हैं वह शरीरका बाह्यमल इनसे कुछ उतरता है परन्तु शरीरके भीतरका धातु-उपधातुरूप अन्तर्मल इनसे उतरता नहीं है तथा ज्ञानावरण आदि कर्मरूप मल और अज्ञान राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्मरूप मल आत्माके अन्तर्मल हैं वह तो इनसे कुछ भी उतरते नहीं हैं, उल्टा हिंसादिकसे पापकर्मरूप मल लगता है, इसलिये सागर नदी आदिको तीर्थ मानना भ्रम है। जिससे तिरे सो 'तीर्थ' है इसप्रकार जिनमार्गमें कहा है, उसे ही संसारसमुद्रसे तारनेवाला जानना ॥२७॥

इसप्रकार तीर्थका स्वरूप कहा।

(१०) आगे अरहंतका स्वरूप कहते हैं:—

निर्मल सुदर्शन-तपचरण-सद्धर्म-संयम-ज्ञानने।
जे शान्तभावे युक्त तो, तीरथ कह्युं जिनशासने ॥२७॥

णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया।
चउणागदि संपदिमे[1] भावा भावंति अरहंतं ॥२८॥

नाम्नि संस्थापनायां हि च संद्रव्ये भावे च सगुणपर्यायाः[2] ।
च्यवनमागतिः संपत् इमे भावा भावयंति अर्हन्तम् ॥२८॥

अर्थः—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चार भाव अर्थात् पदार्थ हैं ये अरहंतको बतलाते हैं और सगुणपर्यायाः अर्थात् अरहंतके गुण पर्यायों सहित तथा चउणा अर्थात् च्यवन और आगति व सम्पदा ऐसे ये भाव अरहंत को बतलाते हैं ।

भावार्थ—अरहंत शब्दसे यद्यपि सामान्य अपेक्षा केवलज्ञानी हों वे सब ही अरहंत हैं तो भी यहाँ तीर्थंकर पदकी प्रधानतासे कथन करते हैं इसलिये नामादिकसे बतलाना कहा । लोकव्यवहारमें नाम आदिकी प्रवृत्ति इसप्रकार है जो जिस वस्तुका नाम हो वैसा गुण न हो उसको **नामनिक्षेप** कहते हैं । जिस वस्तुका जैसा आकार हो उस आकारकी काष्ठ—पाषाणादिककी मूर्ति बनाकर उसका संकल्प करे उसको **स्थापना** कहते हैं । जिस वस्तुकी पहिली अवस्था हो उसहीको आगेकी अवस्था प्रधान करके कहे उसको **द्रव्य** कहते हैं । वर्तमानमें जो अवस्था हो उसको **भाव** कहते हैं । ऐसे चार निक्षेपकी प्रवृत्ति है । उसका कथन शास्त्रमें भी लोगोंको समझानेके लिये किया है । जो निक्षेपविधान द्वारा नाम, स्थापना द्रव्यको भाव न समझे: नामको नाम समझे, स्थापनाको स्थापना समझे, द्रव्यको, द्रव्य समझे, भावको भाव समझे, अन्यको अन्य समझे, अन्यथा तो 'व्यभिचार' नामका दोष आता है । उसे दूर करनेके लिये लोगोंको यथार्थ समझाने को शास्त्रमें कथन है । किन्तु यहाँ वैसा निक्षेपका कथन नहीं समझना । यहाँ तो निश्चयकी प्रधानतासे कथन है सो जैसा अरहंतका नाम है वैसा ही गुण सहित नाम जानना, स्थापना जैसी उसकी देह सहित मूर्ति है वही स्थापना जानना, जैसा उसका द्रव्य है वैसा द्रव्य जानना और जैसा उसका भाव है वैसा ही भाव जानना ॥२८॥

---

१. सं० प्रतिमें 'संपदिम' पाठ है ।

२. 'सगुणपज्जाया' इस पदकी छायामें 'स्वगुणं पर्यायः' स० प्रतिमें है ।

अभिधान-स्थापन-द्रव्य भावे, स्वीय गुणपर्यायथी ।
अर्हंत जाणी शकाय छे आगति-च्यवन-संपत्तिथी ॥२८॥

इसप्रकार ही कथन आगे करते हैं। प्रथम ही नामको प्रधान करके कहते हैं:—

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण।
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥२९॥

दर्शनं[1] अनंतं ज्ञानं मोक्षः नष्टाष्टकर्मबंधेन।
निरुपमगुणमारूढः अर्हन् ईदृशो भवति ॥२९॥

अर्थः—जिसके–दर्शन और ज्ञान ये तो अनन्त हैं, घातिकर्मके नाशसे सब ज्ञेय पदार्थोंको देखना व जानना है, अष्ट कर्मोंका बंध नष्ट होनेसे मोक्ष है। यहाँ सत्वकी और उदयकी विवक्षा न लेना, केवलीके आठों ही कर्मका बंध नहीं है। यद्यपि साता वेदनीयका आस्रव मात्र बंध सिद्धांतमें कहा है तथापि स्थिति अनुभागरूप बंध नहीं है, इसलिये अबंधतुल्य ही है। इसप्रकार आठों ही कर्मबंधके अभावकी अपेक्षा भावमोक्ष कहलाता है और उपमारहित गुणोंसे आरूढ़ हैं—सहित हैं। इसप्रकार गुण छद्मस्थमें कहीं भी नहीं हैं, इसलिये जिसमें उपमारहित गुण हैं इसप्रकार अरहंत होता है।

भावार्थ—केवल नाममात्र ही अरहंत हो उसको अरहंत नहीं कहते हैं। इसप्रकारके गुणोंसे सहित हो उसको नाम अरहंत कहते हैं।

आगे फिर कहते हैं:—

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥३०॥

जराव्याधिजन्ममरणं चतुर्गतिगमनं पुण्यपावं च।
हत्वा दोषकर्माणि भूतः ज्ञानमयश्चार्हन् ॥३०॥

---

[1] सटीक सं० प्रतिमें 'दर्शने अनंत ज्ञाने' ऐसा सप्तमी अंत पाठ है।

निःसीम दर्शन-ज्ञान छे, वसुबंधलयथी मोक्ष छे।
निरुपम गुणे आरूढ छे,—अर्हंत आवा होय छे ॥२९॥

जे पुण्य-पाप जरा-जनम-व्याधि-मरण, गतिभ्रमण ने।
वळी दोषकर्म हणी थया ज्ञानात्म, ते अर्हंत छे ॥३०॥

अर्थः—जरा–बुढ़ापा, व्याधि–रोग, जन्म–मरण, चारों गतियोंमें गमन, पुण्य पाप और दोषोंको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका नाश करके, केवलज्ञानमयी अरहंत हुआ हो वह 'अरहंत' है ।

भावार्थः—पहिली गाथामें तो गुणोंके सद्भावसे अरहंत नाम कहा और इस गाथामें दोषोंके अभावसे अरहंत नाम कहा । राग, द्वेष, मद, मोह, अरति, चिंता, भय, निद्रा, विषाद, खेद और विस्मय ये ग्यारह दोष तो घातिकर्मके उदयसे होते हैं और क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, रोग और स्वेद ये सात दोष अघातिकर्मके उदयसे होते हैं । इस गाथामें जरा, रोग, जन्म, मरण और चार गतियोंमें गमनका अभाव कहनेसे तो अघातिकर्मसे हुए दोषोंका अभाव जानना, क्योंकि अघातिकर्ममें इन दोषोंको उत्पन्न करनेवाली पापप्रकृतियोंके उदयका अरहंतको अभाव है और रागद्वेषादिक दोषोंका घातिकर्मके अभावसे अभाव है । यहाँ कोई पूछे–अर्हन्तको मरणका और पुण्यका अभाव कहा; मोक्षगमन होना यह 'मरण' अरहंतके है और पुण्यप्रकृतियोंका उदय पाया जाता है, उनका अभाव कैसे ? उसका समाधान—यहाँ मरण होकर फिर संसारमें जन्म हो इसप्रकारके 'मरण' की अपेक्षा यह कथन है, इसप्रकार मरण अरहंतके नहीं है, उसीप्रकार जो पुण्यप्रकृतिका उदय पापप्रकृति सापेक्ष करे इसप्रकार पुण्यके उदयका अभाव जानना अथवा बंध–अपेक्षा पुण्यका भी बंध नहीं है । सातावेदनीय बँधे वह स्थिति–अनुभाग विना अबंधतुल्य ही है । प्रश्न—केवलीके असाता वेदनीयका उदय भी सिद्धांतमें कहा है, उसकी प्रवृत्ति कैसे है ? उत्तरः—इसप्रकार जो असाताका अत्यन्तमंद-बिलकुल मंद अनुभाग उदय है और साताका अति तीव्र अनुभाग उदय है, उसके वशसे असाता कुछ बाह्य कार्य करनेमें समर्थ नहीं है, सूक्ष्म उदय देकर खिर जाता है तथा संक्रमणरूप होकर सातारूप हो जाता है इसप्रकार जानना । इसप्रकार अनंत चतुष्टयसहित सर्वदोषरहित सर्वज्ञ वीतराग हो उसको नामसे 'अरहंत' कहते हैं ॥३०॥

आगे स्थापना द्वारा अरहंतका वर्णन करते हैं :—

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं ।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥३१॥

छे स्थापना अर्हंतनी कर्तव्य पांच प्रकारथी ।
'गुण', मार्गणा, पर्याप्ति तेम ज प्राण ने जीवस्थानथी ॥ ३१ ॥

गुणस्थानमार्गणाभिः च पर्याप्तिप्राणजीवस्थानैः ।
स्थापना पंचविधैः प्रणेतव्या अर्हत्पुरुषस्य ॥३१॥

अर्थः—गुणस्थान, मार्गणास्थान, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान इन पाँच प्रकारसे अरहंत पुरुषकी स्थापना प्राप्त करना अथवा उसको प्रणाम करना चाहिए ।

भावार्थः—स्थापनानिक्षेपमें काष्ठपाषाणादिकमें संकल्प करना कहा है सो यहाँ प्रधान नहीं है । यहाँ निश्चयकी प्रधानतासे कथन है । यहाँ गुणस्थादिकसे अरहंतका स्थापन कहा है ॥३१॥

आगे विशेष कहते हैं:—

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो ।
चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा ३२॥

त्रयोदशे गुणस्थाने सयोगकेवलिकः भवति अर्हन् ।
चतुर्स्त्रिशत् अतिशयगुणा भवंति स्फुटं तस्याष्टप्रातिहार्या ॥३२॥

अर्थः—गुणस्थान चौदह कहे हैं, उनमें सयोगकेवली नाम तेरहवाँ गुणस्थान है । उसमें योगोंकी प्रवृत्तिसहित केवलज्ञानसहित सयोगकेवली अरहंत होता है । उनके चोंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य होते हैं, ऐसे तो गुणस्थानद्वारा 'स्थापना अरहंत' कहलाते हैं ।

भावार्थः—यहाँ चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य कहनेसे तो समवसरणमें विराजमान तथा विहार करते हुए अरहंत है और 'सयोग' कहनेमें विहारकी प्रवृत्ति और वचनकी प्रवृत्ति सिद्ध होती है । 'केवली' कहनेसे केवलज्ञानद्वारा सब तत्त्वोंका जानना सिद्ध होना है । चौंतीस अतिशय इसप्रकार हैं—जन्मसे प्रकट होने वाले दसः—१—मलमूत्रका अभाव, २—पसेवका अभाव, ३—धवल रुधिर होना, ४—समचतुरस्रसंस्थान

अर्हन् सयोगीकेवलीजिन तेरमे गुणस्थान छे ।
चोत्रीश अतिशययुक्त ने वसु प्रातिहार्यसमेत छे ॥३२॥

५–वज्रवृषभनाराच संहनन, ६–सुन्दर रूप, ७–सुगंध शरीर, ८–शुभ लक्षण होना, ९–अनन्त बल, १०–मधुर वचन इसप्रकार दस होते हैं।

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर दस होते हैं:—१–उपसर्गका अभाव, २–अदयाका अभाव, ३–शरीर की छाया न पड़ना, ४–चतुर्मुख दिखना, ५–सब विद्याओंका स्वामित्व, ६–नेत्रोंके पलक न गिरना, ७–शतयोजन सुभिक्षता, ८–आकाशगमन, ९–कवलाहार नहीं होना, १०–नखकेशोंका नहीं बढ़ना, ऐसे दस होते हैं।

चौदह देवकृत होते हैं:—१–सकलार्द्धमागधी भाषा, २–सब जीवोंमें मैत्री-भाव, ३–सब ऋतुके फल फूल फलना, ४–दर्पण समान भूमि, ५–कंटकरहित भूमि, ६–मंद सुगंध पवन, ७–सबके आनंद होना, ८–गंधोदकवृष्टि, ९–पैरोंके नीचे कमल-रचना, १०–सर्वधान्य निष्पत्ति, ११–दसों दिशाओंका निर्मल होना, १२–देवोंके द्वारा आह्वानन शब्द, १३–धर्मचक्रका आगे चलना, १४–अष्ट मंगलद्रव्योंका आगे चलना।

अष्ट मंगल द्रव्योंके नाम १–छत्र, २–ध्वजा, ३–दर्पण, ४–कलश, ५–चामर, ६–भृङ्गार (झारी), ७–ताल (ठवणा) और स्वस्तिक (साँथिया) अर्थात् सुप्रतीच्छक ऐसे आठ होते हैं। चौंतीस अतिशयके नाम कहे।

आठ प्रातिहार्य होते हैं उनके नाम ये हैं–१–अशोकवृक्ष, २–पुष्पवृष्टि, ३–दिव्यध्वनि, ४–चामर, ५–सिंहासन, ६–भामण्डल, ७–दुन्दुभिवादित्र और ८–छत्र ऐसे आठ होते हैं। इसप्रकार गुणस्थानद्वारा अरहंतका स्थापन कहा ॥३२॥

अब मार्गणा द्वारा कहते हैं:—

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेसा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥३३॥

गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च।
संयमे दर्शने लेश्यायां भव्यत्वे सम्यक्त्वे संज्ञिनि आहारे ॥३३॥

गति-इन्द्रि-काये, योग-वेद-कषाय-संयम-ज्ञानमां।
दृग-भव्य-लेश्या-संज्ञी-समकित-आ'रमां ए स्थापवा ॥३३॥

अर्थः—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार इसप्रकार चौदह मार्गणा होती हैं। अरहंत सयोगकेवलीको तेरहवां गुणस्थान है, इसमें 'मार्गणा' लगाते हैं। गति चारमें मनुष्यगति है, इन्द्रियजाति पाँचमें पंचेन्द्रिय जाति है, काय छहमें त्रसकाय है, योग पंद्रहमें योग–मनोयोग तो सत्य और अनुभय इसप्रकार दो और ये ही वचनयोग दो तथा काययोग औदारिक इसप्रकार पाँच योग हैं, जब समुद्‌घात करे तब औदारिकमिश्र और कार्माण ये दो मिलकर सात योग हैं: वेद–तीनोंका ही अभाव है; कषाय–पच्चीस सबहीका अभाव है; ज्ञान आठमें केवलज्ञान है; संयम सातमें एक यथाख्यात है; दर्शन चारमें एक केवलदर्शन है; लेश्या छहमें एक शुक्ल जो योगनिमित्त है; भव्य दोमें एक भव्य है; सम्यक्त्व छहमें क्षायिक सम्यक्त्व है; संज्ञी दोमें संज्ञी है वह द्रव्यसे है भावसे क्षयोपशमरूप भावमनका अभाव है; आहारक अनाहारक दोमें 'आहारक' है वह भी नोकर्मवर्गणा अपेक्षा है किन्तु कवलाहार नहीं है और समुद्‌घात करे तो 'अनाहारक' भी है, इसप्रकार दोनों हैं। इसप्रकार मार्गणा अपेक्षा अरहंतका स्थापन जानना ॥३३॥

आगे पर्याप्ति द्वारा कहते हैं:—

आहारो य सरीरो इंदियमणआणपाणभासा य।
पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो ॥३४॥

आहारः च शरीरं इन्द्रियमनआनप्राणभाषाः च।
पर्याप्तिगुणसमृद्धः उत्तमदेवः भवति अर्हन् ॥३४॥

अर्थः—आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन, आनप्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास और भाषा इसप्रकार छह पर्याप्ति हैं इस पर्याप्ति गुण द्वारा समृद्ध अर्थात् युक्त उत्तम देव अरहंत हैं।

भावार्थः—पर्याप्तिका स्वरूप इसप्रकार है—जो जीव एक अन्य पर्यायको छोड़कर अन्य पर्यायमें जावे तब विग्रह गतिमें तीन समय उत्कृष्ट बीचमें रहे, पीछे

आहार, काया, इन्द्रि, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन तणी।
अर्हंत उत्तम देव छे समृद्ध षट् पर्याप्तिथी ॥३४॥

सैनी पंचेन्द्रियमें उत्पन्न हो। वहाँ तीन जातिकी वर्गणाका ग्रहण करे, आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, इसप्रकार ग्रहण करके 'आहार' जातिकी वर्गणासे तो आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्‌वास इसप्रकार चार पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्त कालमें पूर्ण करे तत्पश्चात् भाषाजाति मनोजातिकी वर्गणासे अन्तर्मुहूर्तमें ही भाषा, मनःपर्याप्ति पूर्ण करे इसप्रकार छहों पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण करता है तत्पश्चात् आयुपर्यन्त पर्याप्त ही कहलाता है और नोकर्मवर्गणाका ग्रहण करता ही रहता है। यहाँ आहार नाम कवलाहारका नहीं जानना। इसप्रकार तेरहवें गुणस्थानमें भी अरहंतके पर्याप्त पूर्ण ही है इसप्रकार पर्याप्तिद्वारा अरहंतकी स्थापना है ॥३४॥

आगे प्राणद्वारा कहते हैं:—

पंच वि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा॥३५॥

पंचापि इंद्रियप्राणाः मनोवचनकायैः त्रयो बलप्राणाः।
आनप्राणप्राणाः आयुष्कप्राणेन भवंति दशप्राणाः॥३५॥

अर्थः—पांच इन्द्रियप्राण, मन-वचन-काय तीन बलप्राण, एक श्वासोच्छ्‌वास प्राण और एक आयुप्राण ये दस प्राण हैं।

भावार्थः—इसप्रकार दस प्राण कहे उनमें तेरहवें गुणस्थानमें भावइन्द्रिय और भावमनका क्षयोपशमभावरूप प्रवृत्ति नहीं है इस अपेक्षा तो कायबल,-वचनबल, श्वासोच्छ्‌वास, आयु ये चार प्राण हैं और द्रव्य अपेक्षा दसों ही हैं। इसप्रकार प्राणद्वारा अरहंतका स्थापन है ॥३५॥

आगे जीवस्थानद्वारा कहते हैं:—

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरहो॥३६॥

इन्द्रियप्राणो पांच, त्रण बलप्राण मन-वच-कायना।
बे आयु-श्वासोच्छ्‌वासप्राणो,-प्राण ए दस होय त्यां ॥३५॥

मानवभवे पंचेन्द्रि तेथी चौदमे जीवस्थान छे।
पूर्वोक्त गुणगणयुक्त, 'गुण'-आरूढ श्री अर्हंत छे ॥३६॥

मनुजभवे पंचेन्द्रियः जीवस्थानेषु भवति चतुर्दशे ।
एतद्गुणगणयुक्तः गुणमारूढो भवति अर्हन् ।।३६।।

अर्थः—मनुष्यभवमें पंचेन्द्रिय नामके चौदहवें जीवस्थान अर्थात् जीवसमास उसमें इतने गुणोंके समूहसे युक्त तेरहवें गुणस्थानको प्राप्त अरहंत होते हैं ।

भावार्थः—जीवसमास चौदह कहे हैं–एकेन्द्रिय सूक्ष्म बादर २, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चोइन्द्रिय ऐसे विकलत्रय-३, पंचेन्द्रिय असैनी सेनी २, ऐसे सात हुए, ये पर्याप्त अपर्याप्तके भेदसे चौदह हुए । इनमें चौदहवाँ 'सैनी पंचेन्द्रिय जीवस्थान' अरहंतके हैं । गाथामें सैनीका नाम न लिया और मनुष्यका नाम लिया सो मनुष्य सैनी ही होते हैं, असैनी नहीं होते हैं इसलिये मनुष्य कहनेमें 'सैनी' ही जानना चाहिये ।।३६।।

इसप्रकार जीवस्थानद्वारा 'स्थापना अरहंत' का वर्णन किया ।

आगे द्रव्यकी प्रधानतासे अरहंतका निरूपण करते हैं :—

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं ।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगुंछा य दोसो य ।।३७।।

दस पाणा पज्जती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया ।
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ।। ३८।।

एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।
ओरालियं च काय णायव्वं अरहपुरिसस्स ।।३९।।

व्रणव्याधि-दुःख-जरा. अहार-निहारवर्जित, विमल छे ।
अजुगुप्सिता, व्रणनासिकामल–श्लेष्म–स्वेद, अदोष छे ।।३७।।

दस प्राण, पट् पर्याप्ति. अष्ट–सहस्र लक्षण युक्त छे ।
सर्वांग गोक्षीर-शंखतुल्य सुधवल मांस–रुधिर छे ।।३८।।

—आवा गुणे सर्वांग अतिशयवंत. परिमलम्हेकनो ।
औदारिकी काया अहा ! अर्हत्पुरुषनी जाणवी ।।३९।।

जराव्याधिदु:खरहितः आहारनीहारवर्जितः विमलः ।
सिंहाणः खेलः स्वेदः नास्ति दुर्गन्धः च दोषः च ॥३७॥

दश प्राणाः पर्याप्तयः अष्टसहस्राणि च लक्षणानि भणितानि ।
गोक्षीरशंखधवलं मांसं रुधिरं च सर्वांगे ॥ ३८ ॥

ईदृशगुणैः सर्वः अतिशयवान् सुपरिमलामोदः ।
औदारिकश्च कायः अर्हत्पुरुषस्य ज्ञातव्यः ॥ ३९ ॥

अर्थः—अरहंत पुरुषके औदारिक काय इसप्रकार होता है-जो जरा, व्याधि और रोग इन संबंधी दुःख उसमें नहीं है, आहार-नीहार से रहित है, विमल अर्थात् मलमूत्र रहित है; सिंहाण अर्थात् श्लेष्म, खेल अर्थात् थूक, पसेव और दुर्गंध अर्थात् जुगुप्सा, ग्लानि और दुर्गंधादि दोष उसमें नहीं है ॥३७॥

दस तो उसमें प्राण हैं वे द्रव्यप्राण हैं, पूर्ण पर्याप्ति है, एक हजार आठ लक्षण हैं और गोक्षीर अर्थात् कपूर अथवा चंदन तथा शंख जैसा उसमें सर्वांग धवल रुधिर और मांस है ॥३८॥

इसप्रकार गुणोंसे संयुक्त सर्व ही देह अतिशयसहित निर्मल है, आमोद अर्थात् सुगंध जिसमें इसप्रकार औदारिक देह अरहंत पुरुषके है ॥३९॥

भावार्थः—यहाँ द्रव्यनिक्षेप नहीं समझना । आत्मासे जुदा ही देहकी प्रधानता में 'द्रव्य अरहंतका' वर्णन है ॥३७-३८-३९॥

इसप्रकार द्रव्य अरहंतका वर्णन किया ।

आगे भावकी प्रधानतासे वर्णन करते हैं—

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविशुद्धो ।
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥४०॥

मदरागदोषरहितः कषायमलवर्जितः च सुविशुद्धः ।
चित्तपरिणामरहितः केवलभावे ज्ञातव्यः ॥ ४० ॥

मदरागद्वेषविहीन, त्यक्तकषायमल सुविशुद्ध छे ।
मनपरिणमनपरिमुक्त, केवलभावस्थित अर्हंत छे ॥ ४० ॥

अर्थः—केवलभाव अर्थात् केवलज्ञानरूप ही एक भाव होते हुए अरहंत होते हैं ऐसा जानना। मद अर्थात् मानकषायसे हुआ गर्व, राग, द्वेष अर्थात् कषायोंके तीव्र उदयसे होनेवाले प्रीति और अप्रीतिरूप परिणाम इनसे रहित हैं, पच्चीस कषायरूप मल उसका द्रव्यकर्म तथा उनके उदयसे हुआ भावमल उससे रहित हैं, इसीलिये अत्यन्त विशुद्ध हैं–निर्मल हैं, चित्तपरिणाम अर्थात् मनके परिणमनरूप विकल्पसे रहित हैं, ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमरूप मनका विकल्प नहीं है, इसप्रकार केवल एक ज्ञानरूप वीतरागस्वरूप 'भाव अरहंत' जानना ॥४०॥

आगे भाव ही का विशेष कहते हैं:—

सम्मद्दंसणि पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मत्तगुणविशुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो ॥४१॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान्।
सम्यक्त्वगुणविशुद्धः भावः अर्हतः ज्ञातव्यः ॥४१॥

अर्थः—'भावअरहंत' सम्यग्दर्शनसे तो अपनेको तथा सबको सत्तामात्र देखते हैं इसप्रकार जिनको केवलदर्शन है, ज्ञानसे सब द्रव्य-पर्यायोंको जानते हैं इसप्रकार जिनको केवलज्ञान है, जिनको सम्यक्त्व गुणसे विशुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है, इसप्रकार अरहंतका भाव जानना।

भावार्थः—अरहंतपना घातियाकर्मके नाशसे होता है। मोहकर्मके नाशसे सम्यक्त्व और कषायके अभावसे परमवीतरागता सर्वप्रकार निर्मलता होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मके नाशसे अनंतदर्शन–अनंतज्ञान प्रकट होता है, इनसे सब द्रव्य–पर्यायोंको एक समयमें प्रत्यक्ष देखते हैं और जानते हैं। द्रव्य छह हैं–उनमें जीवद्रव्यकी संख्या अनंतानंत है, पुद्गल द्रव्य उससे अनंतानंत गुणे हैं, आकाश द्रव्य एक है वह अनंतानंत प्रदेशी है इसके मध्यमें सब जीव पुद्गल असंख्यात प्रदेशमें स्थित हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य ये दोनों असंख्यात प्रदेशी हैं, इनसे आकाशके लोक अलोकका विभाग है, उसी लोकमें ही कालद्रव्यके असंख्यात कालाणु स्थित हैं। इन

देखे दरशथी ज्ञानथी जाणे दरव-पर्यायने।
सम्यक्त्वगुणसुविशुद्ध छे,–अर्हंतनो आ भाव छे ॥४१॥

सब द्रव्योंके परिणामरूप पर्याय हैं वे एक-एक द्रव्यके अनंतानंत हैं, उनको कालद्रव्यका परिणाम निमित्त है, उसके निमित्तसे क्रमरूप होता समयादिक 'व्यवहारकाल' कहलाता है। इसकी गणनासे अतीत, अनागत, वर्तमान द्रव्योंकी पर्यायें अनंतानंत हैं, इन सब द्रव्यपर्यायोंको अरहंतका दर्शन–ज्ञान एकसमयमें देखता और जानता है, इसीलिये अरहंतको सर्वदर्शी–सर्वज्ञ कहते हैं।

भावार्थः—इसप्रकार अरहंतका निरूपण चौदह गाथाओंमें किया। प्रथम गाथामें नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, गुण, पर्याय सहित च्यवन, आगति, संपत्ति ये भाव अरहंतको बतलाते हैं। इसका व्याख्यान नामादि कथनमें सर्व ही आ गया, उसका संक्षेप भावार्थ लिखते हैं :—

गर्भ कल्याणकः—प्रथम गर्भकल्याणक होता है, गर्भमें आनेके छह महीने पहिले इन्द्रका भेजा हुआ कुबेर जिस राजाकी राणीके गर्भमें तीर्थंकर आयेंगे उसके नगरकी शोभा करता है, रत्नमयी सुवर्णमयी मन्दिर बनाता है, नगरके कोट, खाई, दरवाजे, सुन्दर वन, उपवनकी रचना करता है, सुन्दर भेषवाले नरनारी नगरमें बसाता है, नित्य राजमन्दिर पर रत्नोंकी वर्षा होती रहती है, तीर्थंकरका जीव जब माताके गर्भमें आता है तब माताको सोलह स्वप्न आते हैं, रुचकवरद्वीपमें रहनेवाली देवांगनायें माताकी नित्य सेवा करती हैं, ऐसे नौ महीने पूरे होने पर प्रभुका तीन ज्ञान और दस अतिशय सहित जन्म होता है, तब तीनंलोकमें आनंदमय क्षोभ होता है, देवोंके बिना बजाए बाजे बजते हैं, इन्द्रका आसन कंपायमान होता है, तब इन्द्र प्रभुका जन्म हुआ जानकर स्वर्गसे ऐरावत हाथी पर चढ़कर आता है, सर्व चार प्रकारके देव–देवी एकत्र होकर आते हैं, शची (इन्द्राणी) माताके पास जाकर गुप्तरूपसे प्रभुको ले आती है, इन्द्र हर्षित होकर हजार नेत्रोंसे देखता है।

फिर सौधर्म इन्द्र, बालक शरीरी भगवानको अपनी गोदमें लेकर ऐरावत हाथी पर चढ़कर मेरुपर्वतपर जाता है, ईशान इन्द्र छत्र धारण करता है, सनत्कुमार, महेन्द्र इन्द्र चँवर ढोरते हैं, मेरुके पांडुकवनकी पांडुकशिलापर सिंहासनके ऊपर प्रभुको विराजमान करते हैं, सब देव क्षीरसमुद्रसे एक हजार आठ कलशोंमें जल लाकर देव–देवांगना गीत नृत्य वादित्र बड़े उत्साह सहित प्रभुके मस्तकपर कलश ढारकर जन्मकल्याणकका अभिषेक करते हैं, पीछे शृंगार, वस्त्र, आभूषण पहिनाकर माताके

मंदिरमें लाकर माताको सौंप देते हैं, इन्द्रादिक देव अपने, अपने स्थान पर चले जाते हैं. कुबेर सेवाके लिये रहता है।

तदनन्तर कुमार अवस्था तथा राज्य अवस्था भोगते हैं। उसमें मनोवांछित भोग भोगकर फिर वैराग्यका कारण पाकर संसार–देह–भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं। तब लौकान्तिक देव आकर, वैराग्यको बढ़ाने वाली प्रभुकी स्तुति करते हैं, फिर इन्द्र आकर 'तपकल्याणक' करता है। पालकीमें बैठाकर बड़े उत्सवसे वनमें ले जाता है, वहाँ प्रभु पवित्र शिलापर बैठकर पंचमुष्टिसे लोचकर पंच महाव्रत अंगीकार करते हैं समस्त परिग्रहका त्यागकर दिगम्बररूप धारणकर ध्यान करते हैं, उसीसमय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होजाता है। फिर कुछ समय व्यतीत होनेपर तपके बलसे घाति-कर्मकी प्रकृति ४७ अघाति कर्मप्रकृति १६ इसप्रकार त्रेसठ प्रकृतिका सत्तामेंसे नाशकर केवलज्ञान उत्पन्न कर अनन्तचतुष्टयरूप होकर क्षुधादिक अठारह दोषोंसे रहित अरहंत होते हैं।

फिर इन्द्र आकर समवसरणकी रचना करता है सो आगमोक्त अनेक शोभा-सहित मणिसुवर्णमयी कोट, खाई, वेदी चारों दिशाओंमें चार दरवाजे, मानस्तंभ, नाटयशाला, वन आदि अनेक रचना करता है। उसके बीच सभामण्डपमें बारह सभा, उनमें मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, देव, देवी, तिर्यंच बैठते हैं। प्रभुके अनेक अतिशय प्रकट होते हैं। सभामंडपके बीच तीन पीठ पर गंधकुटीके बीच सिंहासनपर कमलके ऊपर अंतरीक्ष प्रभु विराजते हैं और आठ प्रातिहार्य युक्त होते हैं। वाणी खिरती है; उसको सुनकर गणधर द्वादशांग शास्त्र रचते हैं। ऐसे केवलकल्याणकका उत्सव इन्द्र करता है। फिर प्रभु विहार करते हैं। उसका बड़ा उत्सव देव करते हैं। कुछ समय बाद आयुके दिन थोड़े रहने पर योगनिरोध कर अघातिकर्मका नाशकर मुक्ति पधारते हैं, तत्पश्चात् शरीरका अग्नि संस्कार कर इन्द्र उत्सवसहित 'निर्वाण कल्याणक' महोत्सव करता है। इसप्रकार तीर्थंकर पंच कल्याणककी पूजा प्राप्त कर, अरहंत होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं ऐसा जानना ॥४१॥

आगे (११)–प्रव्रज्याका निरूपण करते हैं, उसको दीक्षा कहते हैं। प्रथम ही दीक्षाके योग्य स्थानविशेषको तथा दीक्षासहित मुनि जहाँ तिष्ठते हैं, उसका स्वरूप कहते हैं:—

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा ।
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥४२॥
[1]सवसासत्तं तित्थं [2]वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं ।
जिणभवणं अह वेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥४३॥
पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा ।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति ॥४४॥

शून्यगृहे तरुमूले उद्याने तथा श्मसानवासे वा ।
गिरिगुहायां गिरिशिखरे वा, भीमवने अथवा वसतौ वा ॥४२॥
स्ववशासक्तं तीर्थं वचश्चैत्यालयत्रिकं च उक्तैः ।
जिनभवनं अथ वेध्यं जिनमार्गे जिनवरा विदन्ति ॥४३॥
पंचमहाव्रतयुक्ताः पंचेन्द्रियसंयताः निरपेक्षाः ।
स्वाध्यायध्यानयुक्ताः मुनिवरवृषभाः नीच्छन्ति ॥४४॥

अर्थः—सूना घर, वृक्षका मूल, कोटर, उद्यान वन, श्मशानभूमि, पर्वतकी गुफा, पर्वतका शिखर, भयानक वन और वस्तिका इनमें दीक्षासहित मुनि ठहरें। ये दीक्षायोग्य स्थान हैं।

स्ववशासक्त अर्थात् स्वाधीन मुनियोंसे आसक्त जो क्षेत्र उन क्षेत्रोंमें मुनि ठहरे। जहाँसे मोक्ष पधारे इसप्रकार तो तीर्थस्थान और वच, चैत्य, आलय इसप्रकार

---

१. सं० प्रतिमें 'सवसा' 'सत्तं' ऐसे दो पद किये हैं जिनकी सं० स्ववशा 'सत्त्वं' लिखा है।

२. 'वचचइदालत्तयं' इसके भी दो ही पद किये हैं 'वचः' चैत्यालयं।

मुनि शून्यगृह, तरुतल वसे, उद्यान वा समशानमां।
गिरिकंदरे, गिरिशिखर पर, विकराल वन वा वसतिमां ॥४२॥

निजवश श्रमणना वास, तीरथ, शास्त्रचैत्यालय अने।
जिनभवन मुनिनां लक्ष्य छे—जिनवर कहे जिनशासने ॥४३॥

पंचेन्द्रियसंयमवंत, पंचमहाव्रती, निरपेक्ष ने।

त्रिक जो पहिले कहा गया है अर्थात् आयतन आदिक परमार्थरूप, संयमी मुनि, अरहंत, सिद्ध स्वरूप उनके नामके अक्षररूप मंत्र तथा उनकी आज्ञारूप वाणीको **'वच'** कहते हैं तथा उनके आकार धातु–पाषाणकी प्रतिमा स्थापनको **"चैत्य"** कहते हैं और वह प्रतिमा तथा अक्षर मंत्र वाणी जिसमें स्थापित किये जाते हैं इसप्रकार आलय–मंदिर, यंत्र या पुस्तकरूप ऐसा वच, चैत्य तथा आलयका त्रिक है अथवा जिनभवन अर्थात् अकृत्रिम चैत्यालय मंदिर इसप्रकार आयतनादिक उनके समान ही उनका व्यवहार उसे जिनमार्गमें जिनवर देव 'वेध्य' अर्थात् दीक्षासहित मुनियोंके ध्यान करने योग्य, चिन्तन करने योग्य कहते हैं।

जो मुनिवृषभ अर्थात् मुनियोंमें प्रधान हैं उनके कहे हुए शून्यगृहादिक तथा तीर्थ, नाम मंत्र, स्थापनरूप मूर्ति, और उनका आलय–मंदिर, पुस्तक और अकृत्रिम जिनमन्दिर उनको 'णिइच्छंति' अर्थात् निश्चयसे इष्ट करते हैं। मूने घर आदिमें रहते हैं और तीर्थ आदिका ध्यान चितन करते हैं तथा दूसरोंको वहाँ दीक्षा देते हैं। यहाँ 'णिइच्छति' का पाठान्तर 'णइच्छंति' इसप्रकार भी है उसका काकोक्ति द्वारा तो इसप्रकार अर्थ होता है कि "जो क्या इष्ट नहीं करते हैं? अर्थात् करते ही हैं।" एक टिप्पणीमें ऐसा अर्थ किया है कि ऐसे शून्यगृहादिक तथा तीर्थादिकको स्ववशासक्त अर्थात् स्वेच्छाचारी भ्रष्टाचारियों द्वारा आसक्त हो (युक्त हो) तो वे मुनिप्रधान इष्ट न करें वहाँ न रहें। कैसे हैं वे मुनिप्रधान? पाँच महाव्रत संयुक्त हैं, पांच इन्द्रियोंको भलेप्रकार जीतनेवाले हैं, निरपेक्ष हैं—किसीप्रकारकी वांछासे मुनि नहीं हुए हैं, स्वाध्याय और ध्यानयुक्त हैं, कई तो शास्त्र पढ़ते हैं, कई धर्म–शुक्लध्यान करते हैं।

भावार्थः—यहाँ दीक्षायोग्य स्थान तथा दीक्षासहित दीक्षा देनेवाले मुनिका तथा उनके चितनयोग्य व्यवहारका स्वरूप कहा है ॥ ४२–४३–४४ ॥

(११) आगे प्रव्रज्याका स्वरूप कहते हैं:—

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकषाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४५॥

गृह–ग्रंथ–मोहविमुक्त छे, परिषहजयी, अकषाय छे।
छे मुक्त पापारंभथी,–दीक्षा कही आवी जिने ॥४५॥

गृहग्रंथमोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहा जितकषाया ।
पापारंभविमुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४५॥

अर्थः—गृह (घर) और ग्रंथ (परिग्रह) इन दोनोंसे मुनि तो मोह ममत्व, इष्ट–अनिष्ट बुद्धिसे रहित ही हैं, जिसमें बाईस परीषहोंका सहना होता है, कषायोंको जीतते हैं और पापरूप आरंभसे रहित हैं इसप्रकार प्रव्रज्या जिनेश्वरदेवने कही है ॥

भावार्थः—जैनदीक्षामें कुछ भी परिग्रह नहीं, सर्व संसारका मोह नहीं, जिसमें बाईस परीषहोंका सहना तथा कषायोंका जीतना पाया जाता है और पापारंभका अभाव होता है। इसप्रकार दीक्षा अन्यमतमें नहीं है ॥४५॥

आगे फिर कहते हैं:—

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं ।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४६॥

धनधान्यवस्त्रदानं हिरण्यशयनासनादि छत्रादि ।
कुदानविरहरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४६॥

अर्थः—धन, धान्य, वस्त्र इनका दान, हिरण्य अर्थात् रूपा, सोना आदिक, शय्या, आसन आदि शब्दसे छत्र, चामरादिक और क्षेत्र आदि कुदानोंसे रहित प्रव्रज्या कही है।

भावार्थः—अन्यमती, बहुतसे इसप्रकार प्रव्रज्या कहते हैं:—गौ, धन, धान्य, वस्त्र, सोना, रूपा (चांदी), शयन, आसन, छत्र, चँवर, और भूमि आदिका दान करना प्रव्रज्या है। इसका इस गाथामें निषेध किया है–प्रव्रज्या तो निर्ग्रंथस्वरूप है, जो धन, धान्य आदि रखकर दान करे उसके काहेकी प्रव्रज्या? यह तो गृहस्थका कर्म है, गृहस्थके भी इन वस्तुओंके दानसे विशेष पुण्य तो होता नहीं है, क्योंकि पाप बहुत है और पुण्य अल्प है वह बहुत पापकार्य तो गृहस्थको करनेमें लाभ नहीं है। जिसमें बहुत लाभ हो वही काम करना योग्य है। दीक्षा तो इन वस्तुओंसे रहित ही है ॥४६॥

धन-धान्य-पट, कंचन-रजत, आसन-शयन, छत्रादिनां ।
सर्वे कुदान विहीन छे–दीक्षा कही आवी जिने ॥ ४६ ॥

आगे फिर कहते हैं:—

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा ।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४७॥

शत्रौ मित्रे च समा प्रशंसानिन्दाऽलब्धिलब्धिसमा ।
तृणे कनके समभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४७॥

अर्थः—जिसमें शत्रु-मित्रमें समभाव है, प्रशंसा–निन्दामें, लाभ–अलाभमें, और तृण–कंचनमें समभाव है। इसप्रकार प्रव्रज्या कही है ॥

भावार्थः—जैनदीक्षामें राग–द्वेषका अभाव है। शत्रु–मित्र, निंदा–प्रशंसा, लाभ–अलाभ और तृण–कंचनमें समभाव है। जैनमुनियोंकी दीक्षा इसप्रकार ही होती है ॥४७॥

आगे फिर कहते हैं:—

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४८॥

उत्तममध्यमगेहे दरिद्रे ईश्वरे निरपेक्षा ।
सर्वत्र गृहीतपिंडा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४८॥

अर्थः—उत्तम गेह अर्थात् शोभा सहित राजभवनादि और मध्यमगेह अर्थात् जिसमें अपेक्षा नहीं है। शोभारहित सामान्य लोगोंका घर इनमें तथा दरिद्र–धनवान् इनमें निरपेक्ष अर्थात् इच्छारहित हैं, सब ही योग्य जगह पर आहार ग्रहण किया जाता है। इसप्रकार प्रव्रज्या कही है ॥

भावार्थः—मुनि दीक्षासहित होते हैं और आहार लेनेको जाते हैं तब इसप्रकार विचार नहीं करते हैं कि बड़े घर जाना अथवा छोटे घर वा दरिद्रीके घर या धनवान

निंदा–प्रशंसा, शत्रु–मित्र, अलब्धि ने लब्धि विषे ।
तृण–कंचने समभाव छे,–दीक्षा कही आवी जिने ॥४७॥
निर्धन–सधन ने उच्च–मध्यम सदन अनपेक्षितपणे ।
सर्वत्र पिंड ग्रहाय छे,–दीक्षा कही आवी जिने ॥४८॥

के घर जाना इसप्रकार वाँछारहित निर्दोष आहारकी योग्यता हो वहाँ सब ही जगहसे योग्य आहार ले लेते हैं, इसप्रकार दीक्षा है ॥४८॥

आगे फिर कहते हैं:—

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा ।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४९॥

निर्ग्रंथा निःसंगा निर्मानाशा अरागा निर्द्वेषा ।
निर्ममा निरहंकारा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४९॥

अर्थः—कैसी है प्रव्रज्या ? निर्ग्रन्थस्वरूप है, परिग्रहसे रहित है, निःसंग अर्थात् जिसमें स्त्री परद्रव्यका संग-मिलाप नहीं है, जिसमें निर्माना अर्थात् मान कषाय भी नहीं है, मदरहित है, जिसमें आशा नहीं है, संसारभोगकी आशारहित है जिसमें अराग अर्थात् रागका अभाव है, संसार-देह-भोगोंसे प्रीति नहीं है, निर्द्वेषा अर्थात् किसीसे द्वेष नहीं है, निर्ममा अर्थात् किसीसे ममत्वभाव नहीं है, निरहंकारा अर्थात् अहंकाररहित है, जो कुछ कर्मका उदय होता है वही होता है इसप्रकार जाननेसे परद्रव्यमें कर्तृत्वका अहंकार नहीं रहता है और अपने स्वरूपका ही उसमें साधन है, इसप्रकार प्रव्रज्या कही है ।

भावार्थ—अन्यमती भेष पहिनकर उसी मात्रको दीक्षा मानते हैं वह दीक्षा नहीं है, जैनदीक्षा इसप्रकार कही है ॥४९॥

आगे फिर कहते हैं:—

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०॥

निर्ग्रंथ ने निःसंग, निर्मानाश, निरहंकार छे ।
निर्मम, अराग, अद्वेष छे.—दीक्षा कही आवी जिने ॥४९॥

निःस्नेह, निर्भय, निर्विकार, अकलुष ने निर्मोह छे ।
आशारहित, निर्लोभ छे.—दीक्षा कही आवी जिने ॥५०॥

निःस्नेहा निर्लोभा निर्मोहा निर्विकारा निःकलुषा ।
निर्भया निराशभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ।।५०।।

अर्थः—प्रव्रज्या ऐसी कही है–निःस्नेहा अर्थात् जिसमें किसीसे स्नेह नहीं, जिसमें परद्रव्यसे रागादिरूप सचिक्कणभाव नहीं है, जिसमें निर्लोभा अर्थात् कुछ परद्रव्यके लेनेकी वांछा नहीं है, जिसमें निर्मोहा अर्थात् किसी परद्रव्यसे मोह नहीं है, भूलकर भी परद्रव्यमें आत्मबुद्धि नहीं होती है, निर्विकारा अर्थात् बाह्य–आभ्यन्तर विकारसे रहित है, जिसमें बाह्य शरीरकी चेष्टा तथा वस्त्राभूषणादिकका तथा अंग–उपांगका विकार नहीं है, जिसमें अंतरंग काम क्रोधादिकका विकार नहीं है। निःकलुषा अर्थात् मलिनभाव रहित है। आत्माको कषाय मलिन करते हैं अतः कषाय जिसमें नहीं है। निर्भया अर्थात् जिसमें किसीप्रकारका भय नहीं है, अपने स्वरूपको अविनाशी जाने उसको किसका भय हो, जिसमें निराशभावा अर्थात् किसीप्रकारके परद्रव्यकी आशाका भाव नहीं है, आशा तो किसी वस्तुकी प्राप्ति न हो उसकी लगी रहती है परन्तु जहाँ परद्रव्यको अपना जाना ही नहीं और अपने स्वपरकी प्राप्ति हो गई तब कुछ प्राप्त करना शेष न रहा फिर किसकी आशा हो? प्रव्रज्या इसप्रकार कही है।।

भावार्थः—जैनदीक्षा ऐसी है। अन्यमतमें स्व–पर द्रव्यका भेदज्ञान नहीं है, उनके इसप्रकार दीक्षा कहाँसे हो ।।५०।।

आगे दीक्षाका बाह्यस्वरूप कहते हैंः—

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता ।
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५१।।

यथाजातरूपसदृशी अवलंबितभुजा निरायुधा शांता ।
परकृतनिलयनिवासा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ।।५१।।

अर्थः—कैसी है प्रव्रज्या? यथाजातरूपसदृशी अर्थात् जैसा जन्म होते ही बालकका नग्नरूप होता है वैसा ही नग्नरूप उसमें है। अवलंबितभुजा अर्थात् जिसमें भुजा लंबायमान की है, जिसमें बाहुल्य अपेक्षा कायोत्सर्ग खड़ा रहना होता है, निरायुधा

जन्म्या प्रमाणे रूप, लंबितभुज, निरायुध, शांत छे।
परकृत निलयमां वास छे,—दीक्षा कही आवी जिने ।।५१।।

अर्थात् आयुधोंसे रहित है, शांता अर्थात् जिसमें अंग–उपांगके विकार रहित शांतमुद्रा होती है। परकृतनिलयनिवासा अर्थात् जिसमें दूसरेका बनाया निलय जो वस्तिका आदि उसमें निवास होता है, जिसमें अपनेको कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन, काय द्वारा दोष न लगा हो ऐसी दूसरेकी बनाई हुई वस्तिका आदिमें रहना होता है ऐसी प्रव्रज्या कही है।

भावार्थः—अन्यमती कई लोग बाह्यमें वस्त्रादिक रखते हैं, कई आयुध रखते हैं, कई सुखके लिये आसन चलाचल रखते हैं, कई उपाश्रय आदि रहनेका निवास बनाकर उसमें रहते हैं और अपनेको दीक्षासहित मानते हैं, उनके भेषमात्र है, जैनदीक्षा तो जैसी कही वैसी ही है ॥५१॥

आगे फिर कहते हैंः—

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसंकारवज्जिया रुक्खा।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५२॥

उपशमक्षमदमयुक्ता शरीरसंस्कार वर्जिता रूक्षा।
मदरागदोषरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥ ५२ ॥

अर्थः—कैसी है प्रव्रज्या? उपशमक्षमदमयुक्ता अर्थात् उपशम तो मोहकर्मके उदयका अभावरूप शांतपरिणाम और क्षमा अर्थात् क्रोधका अभावरूप उत्तमक्षमा तथा दम अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंमें नहीं प्रवर्तना इन भावोंसे युक्त है, शरीरसंस्कारवर्जिता अर्थात् स्नानादि द्वारा शरीरको सजाना इससे रहित है जिसमें रूक्ष अर्थात् तेल आदिका मर्दन शरीरके नहीं है। मद, राग, द्वेष, रहित है इसप्रकार प्रव्रज्या कही है।

भावार्थः—अन्यमतके भेषी क्रोधादिरूप परिणमते हैं, शरीरको सजाकर सुन्दर रखते हैं, इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करते हैं और अपनेको दीक्षासहित मानते हैं, वे तो गृहस्थके समान हैं, अतीत (–यति) कहलाकर उलटे मिथ्यात्वको दृढ़ करते हैं; जैनदीक्षा इसप्रकार है वही सत्यार्थ है, इसको अङ्गीकार करते हैं वे ही सच्चे अतीत (यति) हैं ॥५२॥

उपशम-क्षमा-दमयुक्त, तनसंस्कारवर्जित रूक्ष छे।
मद-राग-द्वेषविहीन छे,–दीक्षा कही आवी जिने ॥५२॥

आगे फिर कहते हैं:—

विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता ।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५३॥

विपरीतमूढभावा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वा ।
सम्यक्त्वगुणविशुद्धा प्रव्रज्या ईदृशो भणिता ॥५३॥

अर्थः—कैसी है प्रव्रज्या—कि जिसके मूढभाव, अज्ञानभाव विपरीत हुआ है अर्थात् दूर होगया है । अन्यमती आत्माका स्वरूप सर्वथा एकांतसे अनेकप्रकार भिन्न-भिन्न कहकर वाद करते हैं, उनके आत्माके स्वरूपमें मूढ़भाव है । जैन मुनियोंके अनेकांतसे सिद्ध किया हुआ यथार्थ ज्ञान है इसलिये मूढ़भाव नहीं है । जिसमें आठकर्म और मिथ्यात्वादि प्रणष्ट होगये हैं, जैनदीक्षामें अतत्त्वार्थश्रद्धानरूप मिथ्यात्वका अभाव है, इसीलिये सम्यक्त्वनामक गुणद्वारा विशुद्ध है, निर्मल है, सम्यक्त्वसहित दीक्षामें दोष नहीं रहता है; इसप्रकार प्रव्रज्या कही है ॥५३॥

आगे फिर कहते हैं:—

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंहणणेसु भणिय णिग्गंथा ।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥५४॥

जिनमार्गे प्रव्रज्या षट्संहननेषु भणिता निर्ग्रंथा ।
भावयंति भव्यपुरुषाः कर्मक्षयकारणे भणिता ॥५४॥

अर्थः—प्रव्रज्या जिनमार्गमें छह संहननवाले जीवके होना कहा है, निर्ग्रंथ-स्वरूप है, सब परिग्रहसे रहित यथाजातस्वरूप है । इसकी भव्यपुरुष ही भावना करते हैं । इसप्रकारकी प्रव्रज्या कर्मके क्षयका कारण कही है ।

भावार्थः—वज्रऋषभनाराच आदि, छह शरीरके संहनन कहे हैं उनमें सबमें ही दीक्षा होना कहा है, जो भव्यपुरुष हैं वे कर्मक्षयका कारण जानकर इसको अंगीकार

ज्यां मूढता-मिथ्यात्व नहि, ज्यां कर्म अष्ट विनष्ट छे ।
सम्यक्त्वगुणथी शुद्ध छे,—दीक्षा कही आवी जिने ॥५३॥
निर्ग्रंथ दीक्षा छे कही षट् संहननमां जिनवरे ।
भवि पुरुष भावे तेहने; ते कर्मक्षयनो हेतु छे ॥५४॥

करो। इसप्रकार नहीं है कि दृढ़ संहनन वज्रऋषभ आदि हैं उनमें ही दीक्षा हो और असंसृपाटिक संहननमें न हो, इसप्रकार निर्ग्रंथरूप दीक्षा तो असंप्राप्तासृपाटिका संहननमें भी होती है ।।५४।।

आगे फिर कहते हैं:—

तिलतुसमत्तणिमित्तसम बाहिरग्गंथसंगहो णत्थि ।
पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरसीहिं ॥५५॥

तिलतुषमात्रनिमित्तसमः बाह्यग्रंथसंग्रहः नास्ति ।
प्रव्रज्या भवति एषा यथा भणिता सर्वदर्शिभिः ।।५५।।

अर्थः—जिस प्रव्रज्यामें तिलके तुषमात्रके संग्रहका कारण इसप्रकार भावरूप इच्छा अर्थात् अंतरंग परिग्रह और उस तिलके तुष मात्र बाह्य परिग्रहका संग्रह नहीं है इस प्रकारकी प्रव्रज्या जिसप्रकार सर्वज्ञ देवने कही है उसीप्रकार है, अन्यप्रकार प्रव्रज्या नहीं है ऐसा नियम जानना चाहिये। श्वेताम्बर आदि कहते हैं कि अपवाद-मार्गमें वस्त्रादिकका संग्रह साधुको कहा है वह सर्वज्ञके सूत्रमें तो नहीं कहा है। उन्होंने कल्पित सूत्र बनाये हैं उनमें कहा है वह कालदोष है।

आगे फिर कहते हैं:—

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च [1]अत्थइ ।
सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥५६॥

उपसर्गपरीषहसहा निर्जनदेशे हि नित्यं तिष्ठति ।
शिलायां काष्ठे भूमितले सर्वाणि आरोहति सर्वत्र ।।५६।।

अर्थः—उपसर्ग अथवा देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत उपद्रव और परीषह अर्थात् दैव-कर्मयोगसे आये हुए बाईस परीषहोंको समभावोंसे सहना

---

१. पाठान्तर—अच्छेइ ।

तलतुषप्रमाण न बाह्य परिग्रह, राग तत्सम छे नहीं ।
—आवी प्रव्रज्या होय छे सर्वज्ञजिनदेवे कही ।।५५।।

उपसर्ग-परिषह मुनि सहे, निर्जन स्थले नित्ये रहे ।
सर्वत्र काष्ठ, शिला अने भूतल उपर स्थिति ते करे ।।५६।।

इसप्रकार प्रव्रज्यासहित मुनि हैं, वे जहाँ अन्य जन नहीं रहते ऐसे निर्जन वनादि प्रदेशोंमें सदा रहते हैं, वहाँ भी शिलातल, काष्ठ, भूमितलमें रहते हैं इन सब ही प्रदेशोंमें बैठते हैं, सोते हैं, 'सर्वत्र' कहनेसे वनमें रहें और किंचित्काल नगरमें रहें तो ऐसे ही स्थान पर रहें।

भावार्थः—जैनदीक्षावाले मुनि उपसर्गपरीषहमें समभाव रखते हैं, और जहाँ सोते हैं, बैठते हैं, वहाँ निर्जन प्रदेशमें शिला, काष्ठ, भूमिमें ही बैठते हैं, सोते हैं, इसप्रकार नहीं है कि अन्यमतके भेषीवत् स्वच्छन्दी प्रमादी रहें, इसप्रकार जानना चाहिये ॥५६॥

आगे अन्य विशेष कहते हैंः—

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५७॥

पशुमहिलाषंढसंगं कुशीलसंगं न करोति विकथाः ।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५७॥

अर्थः—जिस प्रव्रज्यामें पशु—तिर्यंच, महिला (स्त्री), षंढ (नपुंसक) इनका संग तथा कुशील (व्यभिचारी) पुरुषका संग नहीं करते हैं; स्त्री कथा, राजा कथा, भोजन कथा और चोर इत्यादिकी कथा जो विकथा है उसको नहीं करते हैं, तो क्या करते हैं? स्वाध्याय अर्थात् शास्त्र जिनवचनोंका पठन—पाठन और ध्यान अर्थात् धर्म—शुक्ल ध्यान इनसे युक्त रहते हैं। इसप्रकार प्रव्रज्या जिनदेवने कही है।

भावार्थः—जिनदीक्षा लेकर कुसंगति करे, विकथादिक करे और प्रमादी रहे तो दीक्षाका अभाव होजाय इसलिये कुसंगति निषिद्ध है। अन्य भेषकी तरह यह भेष नहीं है। यह मोक्षमार्ग है, अन्य संसारमार्ग है ॥५७॥

आगे फिर विशेष कहते हैंः—

स्त्री-षंढ-पशु-दुःशीलनो नहि संग, नहि विकथा करे।
स्वाध्याय–ध्याने युक्त छे,—दीक्षा कही आवी जिने ॥५७॥

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य ।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५८॥

तपोव्रतगुणैः शुद्धा संयमसम्यक्त्वगुणविशुद्धा च ।
शुद्धा गुणैः शुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता: ॥५८॥

अर्थः—जिनदेवने प्रव्रज्या इसप्रकार कही है कि–तप अर्थात् बाह्य–अभ्यंतर बारह प्रकारके तप तथा व्रत अर्थात् पाँच महाव्रत और गुण अर्थात् इनके भेदरूप उत्तरगुणोंसे शुद्ध हैं । 'संयम' अर्थात् इन्द्रिय मनका निरोध, छहकायके जीवोंकी रक्षा, 'सम्यक्त्व' अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण निश्चय–व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन तथा इनके 'गुण' अर्थात् मूलगुणोंसे शुद्ध, अतिचार रहित निर्मल है और जो प्रव्रज्याके गुण कहे उनसे शुद्ध हैं, भेषमात्र ही नहीं है; इसप्रकार शुद्ध प्रव्रज्या कही जाती है इन गुणोंके विना प्रव्रज्या शुद्ध नहीं है ।

भावार्थः—तप व्रत सम्यक्त्व इन सहित और जिनमें इनके मूलगुण तथा अतीचारोंका शोधना होता है इसप्रकार दीक्षा शुद्ध है । अन्य वादी तथा श्वेताम्बरादि चाहे–जैसे कहते हैं वह दीक्षा शुद्ध नहीं है ॥५८॥

आगे प्रव्रज्याके कथनका संकोच करते हैं:—

एवं [1]आयत्तणगुणपज्जंत्ता बहुविसुद्धसम्मत्ते ।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥५९॥

एवं [2]आयतनगुणपर्याप्ता बहुविशुद्धसम्यक्त्वे ।
निर्ग्रंथे जिनमार्गे संक्षेपेण यथाख्यातम् ॥५९॥

---

१. पाठान्तरः—आयत्तणगुणपव्वज्जंता ।

२. संस्कृत सटीक प्रतिमें 'आयतन' इसकी सं० 'आत्मत्व' इसप्रकार है ।

तपव्रतगुणोथी शुद्ध, संयम–सुदृगगुणसुविशुद्ध छे ।
छे गुणविशुद्ध–सुनिर्मला दीक्षा कही आवी जिने ॥५ ॥

संक्षेपमां आयतनथी दीक्षांत भाव अहीं कह्या ।
ज्यम शुद्धसम्यग्दरशयुत निर्ग्रंथ जिनपथ वर्णव्या ॥५९॥

अर्थः—इसप्रकार पूर्वोक्त प्रकारसे आयतन अर्थात् दीक्षाका स्थान जो निर्ग्रंथ मुनि उसके गुण जितने हैं उनसे पज्जता अर्थात् परिपूर्ण अन्य भी जो बहुतसे गुण दीक्षामें होने चाहिये वे गुण जिसमें हों इसप्रकारकी प्रव्रज्या जिनमार्गमें प्रसिद्ध है। उसीप्रकार संक्षेपसे कही है। कैसा है जिनमार्ग ? जिसमें सम्यक्त्व विशुद्ध है, जिसमें अतीचार रहित सम्यक्त्व पाया जाता है और निर्ग्रंथरूप है अर्थात् जिसमें बाह्य-अतरंग परिग्रह नहीं है।

भावार्थः—इसप्रकार पूर्वोक्त प्रव्रज्या निर्मल सम्यक्त्वसहित निर्ग्रंथरूप जिनमार्गमें कही है। अन्य नैयायिक, वैशेपिक, सांख्य, वेदान्त, मीमांसक, पातंजलि और बौद्ध आदिक मतमें नहीं है। कालदोषसे जैनमतमें भ्रष्ट हो गये और जैन कहलाते हैं इसप्रकारके श्वेताम्बरादिकोंमें भी नहीं है ॥५९॥

इसप्रकार प्रव्रज्याके स्वरूपका वर्णन किया।

आगे बोधपाहुडको संकोचते हुए आचार्य कहते हैं:—

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥६०॥

रूपस्थं शुद्धचर्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितम्।
भव्यजनबोधनार्थं षट्कायहितंकरं उक्तम् ॥ ६० ॥

अर्थः—जिसमें अंतरंग भावरूप अर्थ शुद्ध है और ऐसा ही रूपस्थ अर्थात् बाह्यस्वरूप मोक्षमार्ग जैसा जिनमार्गमें जिनदेवने कहा है वैसा छहकायके जीवोंका हित करनेवाला मार्ग भव्यजीवोंके संबोधनेके लिये कहा है। इसप्रकार आचार्यने अपना अभिप्राय प्रकट किया है।

भावार्थः—इस बोधपाहुडमें आयतन आदिसे लेकर प्रव्रज्यापर्यन्त ग्यारह स्थल कहे। इनका बाह्य-अन्तरंग स्वरूप जैसे जिनदेवने जिनमार्गमें कहा वैसे ही कहा है। कैसा है यह रूप—छहकायके जीवोंका हित करनेवाला है, जिसमें एकेन्द्रिय आदि

रूपस्थ सुविशुद्धार्थ वर्णन जिनपथे ज्यम जिन कर्युं।
त्यम भव्यजनबोधन-अरथ षट्कायहितकर अहीं कह्युं ॥६०॥

असैनी पर्यन्त जीवोंकी रक्षाका अधिकार है. सैनी पंचेन्द्रिय जीवोंकी रक्षा भी कराता है और मोक्षमार्गका उपदेश करके संसारका दुःख मेटकर मोक्षको प्राप्त कराता है, इसप्रकारके मार्ग (–उपाय) भव्यजीवोंके संबोधनेके लिये कहा है। जगतके प्राणी अनादिसे लगाकर मिथ्यामार्गमें प्रवर्तनकर संसारमें भ्रमण करते हैं, इसीलिये दुःख दूर करनेके लिये आयतन आदि ग्यारह स्थान धर्मके ठिकानेका आश्रय लेते हैं अज्ञानी जीव इस स्थान पर अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनसे सुख लेना चाहते हैं, वह यथार्थके विना सुख कहाँ ? इसलिये आचार्य दयालु होकर जैसे सर्वज्ञने कहे वैसे ही आयतन आदिका स्वरूप संक्षेपसे यथार्थ कहा है ? इसको बाँचो, पढ़ो, धारण करो और इसकी श्रद्धा करो। इसके अनुसार तद्रूपप्रवृत्ति करो। इसप्रकार करनेसे वर्तमानमें सुखी रहो और आगामी संसारदुःखसे छूटकर परमानन्दस्वरूप मोक्षको प्राप्त करो। इसप्रकार आचार्यका कहनेका अभिप्राय है।

यहाँ कोई पूछे—इस बोधपाहुडमें व्यवहारधर्मकी प्रवृत्तिके ग्यारह स्थान कहे। इनका विशेषण किया कि–ये छहकायके जीवोंके हित करनेवाले हैं। वह अन्यमती इनको अन्यथा स्थापित कर प्रवृत्ति करते हैं वे हिंसारूप हैं और जीवोंके हित करनेवाले नहीं हैं। ये ग्यारह ही स्थान संयमी मुनि और अरहन्त, सिद्धको ही कहे हैं। ये तो छहकायके जीवोंके हित करनेवाले ही हैं इसलिये पूज्य हैं। यह तो सत्य है, और जहाँ रहते हैं इसप्रकार आकाशके प्रदेशरूप क्षेत्र तथा पर्वतकी गुफा वनादिक तथा अकृत्रिम चैत्यालय ये स्वयमेव बने हुए हैं, उनको भी प्रयोजन और निमित्त विचार उपचारमात्रसे छहकायके जीवोंके हित करनेवाले कहें तो विरोध नहीं है, क्योंकि ये प्रदेश जड़ हैं, ये बुद्धिपूर्वक किसीका बुरा–भला नहीं करते हैं तथा जड़को सुख-दुःख आदि फलका अनुभव नहीं है, इसलिये ये भी व्यवहारसे पूज्य हैं, क्योंकि अरहंतादिक जहाँ रहते हैं वे क्षेत्र–निवास आदिक प्रशस्त हैं, इसलिये उन अरहंतादिके आश्रयसे ये क्षेत्रादिक भी पूज्य हैं। परन्तु प्रश्न–गृहस्थ जिनमंदिर बनावे, वस्तिका, प्रतिमा बनावे और प्रतिष्ठा पूजा करे उसमें तो छहकायके जीवोंकी विराधना होती है यह उपदेश और प्रवृत्तिकी बाहुल्यता कैसे है ?

इसका समाधान इसप्रकार है कि—गृहस्थ अरहन्त, सिद्ध, मुनियोंका उपासक है ये जहाँ साक्षात् हों वहाँ तो उनकी वंदना, पूजन करता ही है। जहाँ ये साक्षात् न हों वहाँ परोक्ष संकल्प कर वंदना पूजन करता है तथा उनके रहनेका क्षेत्र तथा ये

मुक्त हुए उस क्षेत्रमें तथा अकृत्रिम चैत्यालयमें उनका संकल्प कर वन्दना व पूजन करता है। इसमें अनुरागविशेष सूचित होता है, फिर उनकी मुद्रा, प्रतिमा तदाकार बनावे और उसको मंदिर बनाकर प्रतिष्ठा कर स्थापित करे तथा नित्य पूजन करे इसमें अत्यन्त अनुराग सूचित होता है, उस अनुरागसे विशिष्ट पुण्यबन्ध होता है और उस मन्दिरमें छहकायके जीवोंके हितकी रक्षाका उपदेश होता है तथा निरन्तर सुनने-वाले और धारण करनेवालेके अहिंसा धर्मकी श्रद्धा दृढ़ होती है तथा उनकी तदाकार प्रतिमा देखनेवालेके शांत भाव होते हैं, ध्यानकी मुद्राका स्वरूप जाना जाता है और वीतरागधर्मसे अनुराग विशेष होनेसे पुण्यबन्ध होता है इसलिये इनको भी छहकायके जीवोंके हितक करनेवाले उपचारसे कहते हैं।

जिनमंदिर वस्तिका प्रतिमा बनानेमें तथा पूजा प्रतिष्ठा करनेमें आरम्भ होता है उसमें कुछ हिंसा भी होती है। ऐसा आरम्भ तो गृहस्थका कार्य है, इसमें गृहस्थको अल्प पाप कहा, पुण्य बहुत कहा है क्योंकि गृहस्थके पदमें न्यायकार्य करके, न्यायपूर्वक धन उपार्जन करना, रहनेके लिये मकान बनवाना, विवाहादिक करना और यत्नपूर्वक आरंभ कर आहारादिक स्वयं बनाना तथा खाना इत्यादिक कार्योंमें यद्यपि हिंसा होती है तो भी गृहस्थको इनका महापाप नहीं कहा जाता है। गृहस्थके तो महापाप मिथ्यात्वका सेवन करना, अन्याय, चोरी आदिसे धन उपार्जन करना, त्रसजीवोंको मारकर मांस आदि अभक्ष्य खाना और परस्त्री सेवन करना ये महापाप हैं।

गृहस्थाचार छोड़ कर मुनि हो जावे तब गृहस्थके न्यायकार्य भी अन्याय ही हैं। मुनिके भी आहार आदिकी प्रवृत्तिमें कुछ हिंसा होती है उससे मुनिको हिंसक नहीं कहा जाता है वैसे ही गृहस्थके न्यायपूर्वक अपने पदके योग्य सारंभके कार्योंमें अल्प पाप ही कहा जाता है, इसलिये जिनमंदिर, वस्तिका और पूजा प्रतिष्ठाके कार्योंमें आरंभका अल्प पाप है, मोक्षमार्गमें प्रवर्तनेवालोंसे अति अनुराग होता है और उनकी प्रभावना करते हैं, उनको आहारदानादिक देते हैं और उनका वैयावृत्यादि करते हैं। ये सम्यक्त्वके अंग हैं और महान पुण्यके कारण हैं, इसलिये गृहस्थको सदा ही करना योग्य हैं और गृहस्थ होकर ये कार्य न करे तो ज्ञात होता है कि इसके धर्मानुराग विशेष नहीं है।

प्रश्न–गृहस्थीको जिसके बिना चले नहीं इसप्रकारके कार्य तो करना ही पड़े और धर्म पद्धतिमें आरम्भका कार्य करके पाप क्यों मिलावे, सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रौषध आदि करके पुण्य उपजावे। उसको कहते हैं–यदि तुम इसप्रकार कहो तो तुम्हारे परिणाम तो इस जातिके हैं नहीं, केवल बाह्यक्रिया मात्रमें ही पुण्य समझते हो। बाह्यमें बहु आरंभी परिग्रहका मन, सामायिक प्रतिक्रमण आदि निरारंभ कार्योंमें विशेषरूपसे लगता नहीं है यह अनुभवगम्य है, तुम्हारे अपने भावोंका अनुभव नहीं है, केवल बाह्य सामायिकादि निरारंभ कार्यका भेष धारणकर बैठो तो कुछ विशिष्ट पुण्य नहीं है, शरीरादिक बाह्य वस्तु तो जड़ हैं, **केवल जड़की क्रिया का फल तो आत्माको मिलता नहीं है**। अपने भाव जितने अंशमें बाह्यक्रियामें लगे; उतने अंशमें शुभाशुभ फल अपनेको लगता है इसप्रकार विशिष्ट पुण्य तो भावोंके अनुसार है।

आरंभी परिग्रहीके भाव तो पूजा, प्रतिष्ठादिक बड़े आरंभमें ही विशेष अनुराग सहित लगते हैं। जो गृहस्थाचारके बड़े आरंभसे विरक्त होगा सो उसे त्याग कर अपना पद बढ़ावेगा, जब गृहस्थाचारके बड़े आरंभ छोड़ेगा तब उसीतरह धर्मप्रवृत्तिके बड़े आरम्भ भी पदके अनुसार घटावेगा। मुनि होगा तब आरम्भ क्यों करेगा? अतः तब तो सर्वथा आरम्भ नहीं करेगा, इसलिये मिथ्यादृष्टि बाह्यबुद्धि जो बाह्य कार्यमात्र-हीको पुण्य–पाप मोक्षमार्ग समझते हैं उनका उपदेश सुनकर अपनेको अज्ञानी नहीं होना चाहिये। पुण्य–पापके बंधमें शुभाशुभ भाव ही प्रधान है और पुण्य पापरहित मोक्षमार्ग है उसमें सम्यग्दर्शनादिकरूप आत्मपरिणाम प्रधान है। [हेयबुद्धि सहित] धर्मानुराग मोक्षमार्गका सहकारी है और (आंशिक वीतराग भाव सहित) धर्मानुरागके तीव्र मंदके भेद बहुत हैं, इसलिये अपने भावोंको यथार्थ पहिचान कर अपनी पदवी, सामर्थ्य पहिचान–समझकर श्रद्धान–ज्ञान और उसमें प्रवृत्ति करना **अपना भला बुरा अपने भावोंके आधीन है, बाह्य परद्रव्य तो निमित्तमात्र है**, उपादान कारण हो तो निमित्त भी सहकारी हो और उपादान न हो तो निमित्त कुछ भी नहीं करता है, इसप्रकार इस बोधपाहुडका आशय जानना चाहिए।

इसको अच्छी तरह समझकर आयतनादिक जैसे कहे वैसे और इनका व्यवहार भी बाह्य वैसा ही तथा चैत्यगृह, प्रतिमा, जिनबिंब, जिनमुद्रा आदि धातु पाषाणादिक-का भी व्यवहार वैसा ही जानकर श्रद्धान और प्रवृत्ति करनी। अन्यमती अनेक प्रकार

स्वरूप बिगाड़ कर प्रवृत्ति करते हैं उनको बुद्धि कल्पित जानकर उपासना नहीं करनी। इस द्रव्यव्यवहारका प्ररूपण प्रव्रज्याके स्थलमें आदिसे दूसरी गाथामें बिंब[1] चैत्यालयत्रिक और जिनभवन ये भी मुनियोंके ध्यान करने योग्य हैं इसप्रकार कहा है सो गृहस्थ जब इनकी प्रवृत्ति करते हैं तब ये मुनियोंके ध्यान करने योग्य होते हैं, इसलिये जो जिनमन्दिर, प्रतिमा, पूजा, प्रतिष्ठा आदिकके सर्वथा निषेध करनेवाले वह सर्वथा एकान्तीकी तरह मिथ्यादृष्टि हैं, इनकी संगति नहीं करना। [मूलाचार पृ० ४९२ अ० १० गाथा ९६ में कहा है कि "श्रद्धाभ्रष्टोंके संपर्ककी अपेक्षा (गृहमें) प्रवेश करना अच्छा है क्योंकि विवाहमें मिथ्यात्व नहीं होगा परन्तु ऐसे गण तो सर्व दोषोंके आकर है उसमें मिथ्यात्वादि दोष उत्पन्न होते है अतः इनसे अलग रहना ही अच्छा है" ऐसा उपदेश है]

आगे आचार्य इस बोधपाहुडका वर्णन अपनी बुद्धिकल्पित नहीं है; किन्तु पूर्वाचार्योंके अनुसार कहा है इसप्रकार कहते हैः—

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

शब्दविकारो भूतः भाषासूत्रेषु यज्जिनेन कथितम्।
तत् तथा कथितं ज्ञातं शिष्येण च भद्रबाहोः ॥६१॥

अर्थः—शब्दके विकारसे उत्पन्न हुआ इसप्रकार अक्षररूप परिणमे भाषासूत्रों में जिनदेवने कहा, वही श्रवणमें अक्षररूप आया और जैसा जिनदेवने कहा वैसा ही परम्परासे **भद्रबाहुनामक पंचम श्रुतकेवलीने** जाना और **अपने शिष्य [2]विशाखाचार्य आदिको** कहा। वह उन्होंने जाना वही अर्थरूप विशाखाचार्यकी परम्परासे चला आया। वही

---

१ गाथा २ में बिंबकी जगह 'वच' ऐसा पाठ है।

२ विशाखाचार्य–मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के दीक्षाकालमें दिया हुआ नाम है

जिनकथन भाषासूत्रमय शाब्दिक–विकाररूपे थयुं।
ते जाण्युं शिष्ये भद्रबाहु तणा अने एम ज कह्युं ॥६१॥

अर्थ आचार्य कहते हैं, हमने कहा है, वह हमारी बुद्धिसे कल्पित करके नहीं कहा गया है, इसप्रकार अभिप्राय है ॥६१॥

आगे भद्रबाहु स्वामीकी स्तुतिरूप वचन कहते हैं :—

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं ।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ ॥६२॥

द्वादशांगविज्ञानः चतुर्दशपूर्वांग विपुलविस्तरणः ।
श्रुतज्ञानिभद्रबाहुः गमकगुरुः भगवान् जयतु ॥६२॥

अर्थः—भद्रबाहु नाम आचार्य जयवंत होवें, कैसे हैं? जिनको बारह अंगोंका विशेष ज्ञान है, जिनको चौदह पूर्वोंका विपुल विस्तार है इसीलिये श्रुतज्ञानी हैं, पूर्ण भावज्ञानसहित अक्षरात्मक श्रुतज्ञान उनके था, 'गमक गुरु' हैं जो सूत्रके अर्थको प्राप्त कर उसीप्रकार वाक्यार्थ करे उसको 'गमक' कहते हैं, उनके भी गुरुओंमें प्रधान हैं, भगवान हैं–सुरासुरोंसे पूज्य हैं, वे जयवंत होवें। इसप्रकार कहनेमें उनको स्तुतिरूप नमस्कार सूचित है। 'जयति' धातु सर्वोत्कृष्ट अर्थमें है वह सर्वोत्कृष्ट कहनेसे नमस्कार ही आता है।

भावार्थः—भद्रबाहुस्वामी पंचम श्रुतकेवली हुए। उनकी परम्परासे शास्त्रका अर्थ जानकर यह बोधपाहुड ग्रन्थ रचा गया है, इसलिये उनको अंतिम मंगलके लिये आचार्यने स्तुतिरूप नमस्कार किया है। इसप्रकार बोधपाहुड समाप्त किया है ॥ ६२ ॥

* छप्पय *

प्रथम आयतन[1] दुतिय चैत्यगृह[2] तीजी प्रतिमा[3] ।
दर्शन[4] अर जिनबिंब[5] छठो जिनमुद्रा[6] यतिमा ॥
ज्ञान[7] सातमूं देव[8] आठमूं नवमूं तीरथ[9] ।
दसमूं है अरहन्त[10] ग्यारमूं दीक्षा[11] श्रीपथ ॥

जस बोध द्वादश अंगनो, चउदशपूरव-विस्तारनो।
जय हो श्रुतधर भद्रबाहु गमकगुरु भगवाननो ॥६२॥

इम परमारथ मुनिरूप सति अन्यभेष सब निंद्य है ।
व्यवहार धातुपाषाणमय आकृति इनिकी वंद्य है ।।१।।

* दोहा *

भयो वीर जिनबोध यहु, गौतमगणधर धारि ।
बरतायो *पंचमगुरू, नमूं तिनहिं मद छारि ।।२।।

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामि विरचित बोधपाहुडकी
जयपुरनिवासि पं० जयचन्द्रछाबड़ाकृत
देशभाषामयवचनिका समाप्त ।।४।।

⊛

* पंचमगुरु—पांचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ।

अथ भावपाहुड

— ५ —

आगे भावपाहुडकी वचनिका लिखते हैं :-

* दोहा *

परमातमकूं वंदिकरि शुद्धभावकरतार ।
करूं भावपाहुडतणी देशवचनिका सार ॥१॥

इसप्रकार मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करके श्रीकुन्दकुन्दआचार्यकृत भावपाहुड गाथाबंधकी देशभाषामय वचनिका लिखते हैं। प्रथम आचार्य इष्टके नमस्काररूप मंगल करके ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञाका सूत्र कहते हैं:—

णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे ।
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥१॥

नमस्कृत्य जिनवरेन्द्रान् नरसुरभवनेन्द्रवंदितान् सिद्धान् ।
वक्ष्यामि भावप्राभृतमवशेषान् संयतान् शिरसा ॥१॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि मैं भावपाहुड नामक ग्रन्थको कहूँगा। पहिले क्या करके? **जिनवरेन्द्र** अर्थात् तीर्थंकर परमदेव तथा **सिद्ध** अर्थात् अष्टकर्मका नाश-करके सिद्धपदको प्राप्त हुए और **अवशेष संयत** अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इसप्रकार पंचपरमेष्ठीको मस्तकसे वंदना करके कहूँगा। कैसे हैं पंचपरमेष्ठी? नर अर्थात् मनुष्य, सुर अर्थात् स्वर्गवासी देव, भवनेन्द्र अर्थात् पातालवासी देव इनके इन्द्रोंके द्वारा वंदने योग्य हैं।

सुर-असुर-नरपतिवंद्य जिनवर-इन्द्रने, श्री सिद्धने ।
मुनि शेषने शिरसा नमी कहुँ भावप्राभृत-शास्त्रने ॥१॥

भावार्थः—आचार्य 'भावपाहुड' ग्रन्थ बनाते हैं वह भावप्रधान पंचपरमेष्ठी हैं, उनको आदिमें नमस्कार युक्त है, क्योंकि **जिनवरेन्द्र** सो इसप्रकार हैं—**जिन** अर्थात् गुणश्रेणी निर्जरायुक्त इसप्रकारके अविरतसम्यग्दृष्टि आदिकोंमें **वर** अर्थात् श्रेष्ठ ऐसे गणधरादिकोंमें **इन्द्र** तीर्थंकर परमदेव हैं, वह गुणश्रेणीनिर्जरा शुद्धभावसे ही होती है। वे तीर्थंकरभावके फलको प्राप्त हुए, घातिकर्मका नाशकर केवलज्ञानको प्राप्त किया, उसीप्रकार सर्व कर्मोंका नाशकर, परम शुद्धभावको प्राप्तकर सिद्ध हुए, आचार्य, उपाध्याय शुद्धभावके एकदेशको प्राप्तकर पूर्णताको स्वयं साधते हैं तथा अन्यको शुद्धभावकी दीक्षा-शिक्षा देते हैं, इसीप्रकार साधु हैं वे भी शुद्धभावको स्वयं साधते हैं और शुद्धभावकी ही महिमासे तीनलोकके प्राणियों द्वारा पूजनेयोग्य वंदनेयोग्य कहे हैं, इसलिये 'भावप्राभृत' की आदिमें इनको नमस्कार युक्त है। मस्तकद्वारा नमस्कार करनेमें सब अंग आगये, क्योंकि मस्तक सब अंगोंमें उत्तम है। स्वयं नमस्कार किया तब अपने भावपूर्वक ही हुआ तब 'मन—वचन—काय' तीनों ही आगये, इसप्रकार जानना चाहिये ।।१।।

आगे कहते हैं कि लिंग द्रव्य भावके भेदसे दो प्रकारका है, इनमें भावलिंग परमार्थ है:—

भावो हि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा [२]बेन्ति ।।२।।

भावः हि प्रथमलिंगं न द्रव्यलिंगं च जानीहि परमार्थम् ।
भावो कारणभूतः गुणदोषाणां जिना [२]ब्रुवन्ति ।।२।।

अर्थः—भाव प्रथमलिंग है, इसीलिए हे भव्य! तू द्रव्यलिंग है उसको परमार्थ-रूप मत जान, क्योंकि गुण और दोषोंका कारणभूत भाव ही है, इसप्रकार जिन भगवान कहते हैं।

---

१ पाठान्तर :—विन्ति।

२ पाठान्तर :—विदन्ति ।

छे भाव परथम लिंग, द्रवमय लिंग नहि परमार्थ छे।
गुणदोषनुं कारण कह्यो छे भावने श्री जिनवरे ।।२।।

भावार्थः—गुण जो स्वर्ग–मोक्षका होना और दोष अर्थात् नरकादिक संसार-का होना इनका कारण भगवानने भावोंको ही कहा है क्योंकि कारण कार्यके पहिले होता है। यहाँ मुनि–श्रावकके द्रव्यलिंगके पहिले भावलिंग अर्थात् सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव हो तो सच्चा मुनि–श्रावक होता है, इसलिये भावलिंग ही प्रधान है। प्रधान है वही परमार्थ है, इसलिए द्रव्यलिंग को परमार्थ न जानना इसप्रकार उपदेश किया है।

यहाँ कोई पूछे—भावस्वरूप क्या है? इसका समाधान–भावका स्वरूप तो आचार्य आगे कहेंगे तो भी यहाँ भी कुछ कहते हैं–इस लोकमें छहद्रव्य हैं, इनमें जीव पुद्गलका वर्त्तन प्रकट देखनेमें आता है–जीव चेतनास्वरूप है और पुद्गल स्पर्श, रस, गंध और वर्णस्वरूप जड़ है। इनकी अवस्थासे अवस्थान्तररूप होना ऐसे परिणामको 'भाव' कहते है। जीवका स्वभाव–परिणामरूप भाव तो दर्शन–ज्ञान है और पुद्गल कर्मके निमित्तसे ज्ञानमें मोह–राग–द्वेष होना 'विभाव भाव' है। पुद्गलके स्पर्शसे स्पर्शान्तर, रससे रसांतर इत्यादि गुणसे गुणांतर होना 'स्वभावभाव' है और परमाणुसे स्कंध होना तथा स्कंधसे अन्य स्कंध होना और जीवके भावके निमित्तसे कर्मरूप होना ये 'विभावभाव' हैं। इसप्रकार इनके परस्पर निमित्त–नैमित्तिक भाव होते हैं।

पुद्गल तो जड़ है, इसके नैमित्तिकभावसे कुछ सुख दुःख आदि नहीं है और जीव चेतन है, इसके निमित्तसे भाव होते हैं–उनसे सुख दुःख आदि होते हैं अतः जीवको स्वभाव–भावरूप रहनेका और नैमित्तिकभावरूप न प्रवर्त्तनेका उपदेश है। जीवके पुद्गल कर्मके संयोगसे देहादिक द्रव्यका संबंध है, इस बाह्यरूपको 'द्रव्य' कहते हैं और 'भाव' से द्रव्यकी प्रवृत्ति होती है, इसप्रकार द्रव्यकी प्रवृत्ति होती है। इसप्रकार द्रव्य–भावका स्वरूप जान कर स्वभावमें प्रवर्त्ते विभावमें न प्रवर्त्ते उसके परमानन्द सुख होता है; और विभाव रागद्वेषमोहरूप प्रवर्त्ते, उसके संसारसम्बन्धी दुःख होता है।

द्रव्यरूप पुद्गलका विभाव है, इस सम्बन्धी जीवको दुःख सुख नहीं होता अतः भावही प्रधान है, ऐसा न हो तो केवली भगवानको भी सांसारिक सुख-दुःखकी प्राप्ति हो परन्तु ऐसा नहीं है। इसप्रकार जीवके ज्ञान दर्शन तो स्वभाव है और राग

द्वेष मोह ये स्वभाव–विभाव हैं और पुद्गलके स्पर्शादिक और स्कन्धादिक स्वभाव–विभाव हैं। उनमें जीवका हित–अहितभाव प्रधान है, पुद्गलद्रव्यसंबंधी प्रधान नहीं है। बाह्य द्रव्य निमित्तमात्र है, उपादानके बिना निमित्त कुछ करता नहीं है। यह तो सामान्यरूपसे स्वभावका स्वरूप है और इसीका विशेष सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तो जीवका स्वभाव-भाव है, इसमें सम्यग्दर्शन भाव प्रधान है। इसके बिना सब बाह्यक्रिया मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र हैं, ये विभाव हैं और संसारके कारण हैं, इसप्रकार जानना चाहिये ॥२॥

आगे कहते हैं कि बाह्यद्रव्य निमित्तमात्र है 'इसका अभाव' जीवके भावकी विशुद्धताका निमित्त जान बाह्यद्रव्यका त्याग करते हैं:—

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥३॥

भावविशुद्धिनिमित्तं बाह्यग्रंथस्य क्रियते त्यागः।
बाह्यत्यागः विफलः अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥३॥

अर्थः—बाह्य परिग्रहका त्याग भावोंकी विशुद्धिके लिए किया जाता है परन्तु अभ्यन्तर परिग्रह रागादिक हैं, उनसे युक्तके बाह्य परिग्रहका त्याग निष्फल है ॥

भावार्थः—अन्तरंग भाव बिना बाह्य त्यागादिककी प्रवृत्ति निष्फल है, यह प्रसिद्ध है ॥३॥

आगे कहते हैं कि करोड़ों भवोंमें तप करे तो भी भाव बिना सिद्धि नहीं है:—

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥४॥

रे! भावशुद्धिनिमित्त बाहिर-ग्रंथ त्याग कराय छे।
छे विफल बाहिर-त्याग आंतर-ग्रंथथी संयुक्तने ॥३॥

छो कोटिकोटि भवो विषे निर्वस्त्र लंबितकर रही।
पुष्कल करे तप, तोय भावविहीनने सिद्धि नहीं ॥४॥

भावरहितः न सिद्ध्यति यद्यपि तपश्चरति कोटिकोटी ।
जन्मान्तराणि बहुशः लंबितहस्तः गलितवस्त्रः ॥४॥

अर्थः—यदि कई जन्मान्तरों तक कोडाकोडि संख्या काल तक हाथ लम्बे लटकाकर, वस्त्रादिकका त्यागकरके तपश्चरण करे, तो भी भावरहितको सिद्धि नहीं होती है ।

भावार्थः—भावमें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप विभाव रहित सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप स्वभावमें प्रवृत्ति न हो, तो कोड़ाकोड़ि भव तक कायोत्सर्गपूर्वक नग्नमुद्रा धारणकर तपश्चरण करे तो भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती है, इसप्रकार भावोंमें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप भाव प्रधान हैं, और इनमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है क्योंकि इसके बिना ज्ञान–चारित्र मिथ्या कहे हैं, इसप्रकार जानना चाहिये ॥४॥

आगे इस ही अर्थको दृढ़ करते हैं :—

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुञ्चेइ बाहिरे य जई ।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥५॥

परिणामे अशुद्धे ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान च यदि ।
बाह्यग्रन्थत्यागः भावविहीनस्य किं करोति ॥५॥

अर्थः—यदि मुनि बनकर परिणाम अशुद्ध होते हुए बाह्य परिग्रहका छोड़े तो बाह्य परिग्रहका त्याग उस भावरहित मुनिको क्या करे ? अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं करता है ।

भावार्थः—जो बाह्य परिग्रहको छोड़कर मुनि बन जावे और परिणाम परिग्रहरूप अशुद्ध हों, अभ्यन्तर परिग्रह न छोड़े तो बाह्यत्याग कुछ कल्याणरूप फल नहीं कर सकता । सम्यग्दर्शनादिभाव बिना कर्मनिर्जरारूप कार्य नहीं होता है ॥५॥

परिणाम होय अशुद्ध ने जो बाह्य ग्रंथ परित्यजे ।
तो शुं करे ए बाह्यनो परित्याग भावविहीनने ॥५॥

पहिली गाथामें इसमें यह विशेषता है कि यदि मुनिपद भी लेवे और परिणाम उज्ज्वल न रहे, आत्मज्ञानकी भावना न रहे तो कर्म नहीं कटते हैं।

आगे उपदेश करते हैं कि भावको परमार्थ जानकर इसीको अंगीकार करो :—

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंथिय सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥६॥

जानीहि भावं प्रथमं किं ते लिंगेन भावरहितेन।
पथिक शिवपुरीपंथाः जिनोपदिष्टः प्रयत्नेन ॥६॥

अर्थः—हे शिवपुरीके पथिक! प्रथम भावको जान, भावरहित लिंगमें तुझे क्या प्रयोजन है? शिवपुरीका पंथ जिनभगवंतोंने प्रयत्नसाध्य कहा है।

भावार्थः—मोक्षमार्ग जिनेश्वरदेवने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मभावस्वरूप परमार्थसे कहा है, इसलिये इसीको परमार्थ जानकर सर्व उद्यमसे अंगीकार करो. केवल द्रव्यमात्र लिंगसे क्या साध्य है? इसप्रकार उपदेश है ॥६॥

आगे कहते हैं कि द्रव्यलिंग आदि तने वहत धारण किये, परन्तु उससे कुछ भी सिद्धि नहीं हुई :—

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं ॥७॥

भावरहितेन सत्पुरुष! अनादिकालं अनंतसंसारे।
गृहीतोज्झितानि बहुशः बाह्यनिर्ग्रंथरूपाणि ॥७॥

अर्थः—हे सत्पुरुष! अनादिकालसे लगाकर इस अनन्त संसारमें तूने भावरहित निर्ग्रंथरूप बहुतबार ग्रहण किये और छोड़े।

छे भाव परथम, भावविरहित लिंगथी शुं कार्य छे?
हे पथिक! शिवनगरी तणो पथ यत्न प्राप्य कह्यो जिने ॥६॥

सत्पुरुष! काल अनादिथी निःसीम आ संसारमां।
बहु वार भाव विना बहिर्निर्ग्रन्थ रूप ग्रह्यां-तज्यां ॥७॥

भावार्थः—भाव जो निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र उनके बिना बाह्य निर्ग्रंथरूप द्रव्यलिंग संसारमें अनन्तकालसे लगाकर बहुत बार धारण किये और छोड़े तो भी कुछ सिद्धि न हुई। चारों गतियोंमें भ्रमण ही करता रहा ॥७॥

वही कहते हैं:—

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए।
पत्तो सि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ! ॥८॥

भीषणनरकगतौ तिर्यग्गतौ कुदेवमनुष्यगत्योः।
प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं भावय जिनभावना जीव ! ॥८॥

अर्थः—हे जीव ! तूने भीषण (भयंकर) नरकगति तथा तिर्यचगतिमें और कुदेव कुमनुष्यगतिमें तीव्र दुःख पाये हैं, अतः अब तू जिनभावना अर्थात् शुद्ध आत्म-तत्त्वकी भावना भा इससे तेरे संसारका भ्रमण मिटेगा।

भावार्थः—आत्माकी भावना बिना चार गतिके दुःख अनादि कालसे संसारमें प्राप्त किये इसलिये अब हे जीव ! तू जिनेश्वरदेवका शरण ले और शुद्धस्वरूपका बारंबार भावनारूप अभ्यास कर इससे संसारके भ्रमणसे रहित मोक्षको प्राप्त करेगा, यह उपदेश है ॥८॥

आगे चार गतिके दुःखोंको विशेषरूपसे कहते हैं, पहिले नरकगतिके दुःखोंको कहते हैं:—

सत्तसु णरयावासे दारुणभीमाइं असहणीयाइं।
भुताइं सुइरकालं दुःक्खाइं णिरंतरं सहियं ॥९॥

भीषण नरक, तिर्यंच तेम कुदेव-मानवजन्ममां।
तें जीव ! तीव्र दुखो सह्यां; तुं भाव रे ! जिनभावना ॥८॥

भीषण सुतीव्र असह्य दुःखो सप्त नरकावासमां।
बहु दीर्घ कालप्रमाण तें वेद्यां, अछिन्नपणे सह्यां ॥९॥

'सप्तसु नरकावासेषु दारुणभीषणानि असहनीयानि ।
भुक्तानि सुचिरकालं दुःखानि निरंतरं सोढानि' ॥९॥

अर्थः—हे जीव ! तूने सात नरकभूमियोंके नरक आवास बिलोंमें दारुण अर्थात् तीव्र तथा भयानक और असहनीय अर्थात् सहे न जावें इसप्रकारके दुःखोंको बहुत दीर्घ कालतक निरन्तर ही भोगे और सहे ।

भावार्थः—नरककी पृथ्वी सात हैं, उनमें बिल बहुत हैं, उनमें दस हजार वर्षसे लगाकर तथा एक सागरसे लगाकर तेंतीस सागरतक आयु है जहाँ आयुपर्यन्त अति तीव्र दुःख यह जीव अनन्तकालसे सहता आया है ॥९॥

आगे तिर्यंचगतिके दुःखोंको कहते हैंः—

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च ।
पत्तो सि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ॥१०॥

खननोत्तापनज्वालन [3]वेदनविच्छेदनानिरोधं च ।
प्राप्तोऽसि भावरहितः तिर्यग्गतौ चिरं कालं ॥१०॥

अर्थः—हे जीव ! तूने तिर्यंचगतिमें खनन, उत्तापन, ज्वलन, वेदन व्युच्छेदन, निरोधन इत्यादि दुःख सम्यग्दर्शन आदि भावरहित होकर बहुतकालपर्यन्त प्राप्त किये ।

भावार्थः—इस जीवने सम्यग्दर्शनादि भाव बिना तिर्यंच गतिमें चिरकालतक दुःख पाये—पृथ्वीकायमें कुदाल आदि खोदने द्वारा दुःख पाये, जलकायमें अग्निसे तपना ढोलना इत्यादि द्वारा दुःख पाये, अग्निकायमें जलाना, बुझाना आदि द्वारा दुःख पाये पवनकायमें भारेसे हलका चलना, फटना आदि द्वारा दुःख पाये, वनस्पतिकायमें फाड़ना छेदना, राँधना आदि द्वारा दुःख पाये, विकलत्रयमें दूसरेसे रुकना, अल्प आयुसे मरना

---

१ मुद्रित संस्कृत प्रतिमें 'सप्तसु नरकावासे' ऐसा पाठ है ।

२ मुद्रित संस्कृत प्रतिमें 'स्वहित' ऐसा पाठ है । 'सहिय' इसकी छाया में ।

३ मुद्रित संस्कृत प्रतिमें 'वेयण' इसकी संस्कृत 'व्यञ्जन' है ।

रे ! खनन-उत्तापन-प्रजालन-वीजन-छेद-निरोधनां ।
चिरकाल पाम्यो दुःख भावविहीन तुं तिर्यंचमां ॥१०॥

इन्यादि द्वारा दुःख पाये, पंचेन्द्रिय पशु–पक्षी–जलचर आदिमें परस्पर घात तथा मनुष्यादि द्वारा वेदना, भूख, तृषा, रोकना, वध–बंधन इत्यादि द्वारा दुःख पाये। इसप्रकार तिर्यंचगतिमें असंख्यात अनन्तकालपर्यन्त दुःख पाये* ॥ १० ॥

आगे मनुष्यगतिके दुःखोंको कहते हैं :—

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि।
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तो सि अणंतयं कालं ॥ ११ ॥

आगंतुकं मानसिकं सहजं शारीरिकं च चत्वारि।
दुःखानि मनुजजन्मनि प्राप्तोऽसि अनन्तकं कालं ॥ ११ ॥

अर्थः—हे जीव! तूने मनुष्यगतिमें अनन्तकाल तक **आगन्तुक** अर्थात् अकस्मात् वज्रपातादिकका आ-गिरना, **मानसिक** अर्थात् मनमें ही होनेवाले विषयोंकी वांछाका होना और तदनुसार न मिलना, **सहज** अर्थात् माता, पितादि द्वारा सहजसे ही उत्पन्न हुआ तथा राग द्वेषादिकसे वस्तुके इष्ट–अनिष्ट माननेके दुःखका होना, **शारीरिक** अर्थात् व्याधि, रोगादिक तथा परकृत छेदन, भेदन आदिसे हुए दुःख ये चार प्रकारके और चकारसे इनको आदि लेकर अनेक प्रकारके दुःख पाये ॥ ११ ॥

आगे देवगतिके दुःखोंको कहते हैं :—

सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं।
संपत्तो सि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ॥ १२ ॥

सुरनिलयेषु सुराप्सरावियोगकाले च मानसं तीव्रम्।
संप्राप्तोऽसि महायश! दुःखं शुभभावनारहितः ॥ १२ ॥

---

* देहादिमें या बाह्य संयोगोंसे दुःख नहीं है किन्तु अपनी भूलरूप मिथ्यात्वरागादि दोषसे ही दुःख होता है, यहाँ निमित्तद्वारा उपादानका–योग्यताका ज्ञान करानेके लिये यह उपचरित व्यवहारनयसे कथन है।]

तें सहज, कायिक, मानसिक, आगंतु–चार प्रकारनां।
दुःखो लह्यां निःसीम काळ मनुष्य केरा जन्ममां ॥ ११ ॥

सुर–अप्सराना विरहकाळे हे महायश! स्वर्गमां।
शुभभावनाविरहितपणे तें तीव्र मानस दुःख सह्यां ॥ १२ ॥

अर्थः—हे महायश ! तूने सुरनिलयेषु अर्थात् देवलोकमें सुराप्सरा अर्थात् प्यारे देव तथा प्यारी अप्सराके वियोगकालमें उसके वियोग सम्बन्धी दुःख तथा इन्द्रादिक बड़े ऋद्धिधारियोंको देखकर अपनेको हीन माननेके मानसिक तीव्र दुःखोंको शुभभावनासे रहित होकर पाये हैं।

भावार्थः—यहाँ 'महायश' इसप्रकार सम्बोधन किया। उसका आशय यह है कि जो मुनि निर्ग्रंथलिंग धारण करे ओर द्रव्यलिंगी मुनिकी समस्त क्रिया करे, परन्तु आत्माके स्वरूप शुद्धोपयोगके सन्मुख न हो उसको प्रधानतया उपदेश है कि मुनि हुआ वह तो बड़ा कार्य किया, तेरा यश लोकमें प्रसिद्ध हुआ, परन्तु भली भावना अर्थात् शुद्धात्मतत्त्वका अभ्यास उसके बिना तपश्चरणादि करके स्वर्गमें देव भी हुआ तो वहाँ भी विषयोंका लोभी होकर मानसिक दुःखसे ही तप्तायमान हुआ ॥१२॥

आगे शुभभावनासे रहित अशुभ भावनाका निरूपण करते हैंः—

कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य।
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥१३॥

कांदर्पीत्यादीः पंचापि अशुभादिभावनाः च।
भावयित्वा द्रव्यलिंगी प्रहीणदेवः दिवि जातः ॥१३॥

अर्थः—हे जीव ! तू द्रव्यलिंगी मुनि होकर कान्दर्पी आदि पाच अशुभ भावना भाकर प्रहीणदेव अर्थात् नीच देव होकर स्वर्गमें उत्पन्न हुआ।

भावार्थः—कान्दर्पी, किल्विषिकी, संमोही, दानवी और अभियोगिकी ये पाँच अशुभ भावना हैं। निर्ग्रंथ मुनि होकर सम्यक्त्व भावना विना इन अशुभ भावनाओंको भावे तब किल्विष आदि नीच देव होकर मानसिक दुःखको प्राप्त होता है ॥१३॥

आगे द्रव्यलिंगी पार्श्वस्थ आदि होते हैं उनको कहते हैः—

तुं स्वर्गलोके हीन देव थयो, द्रव्यलिंगीपणे।
कांदर्पी-आदिक पांच बूरी भावनाने भावीने ॥१३॥

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥१४॥

पार्श्वस्थभावनाः अनादिकालं अनेकवारान् ।
भावयित्वा दुःखं प्राप्तः कुभावनाभावबीजैः ॥१४॥

अर्थः—हे जीव ! तू पार्श्वस्थ भावनासे अनादिकालसे लेकर अनन्तबार भाकर दुःखको प्राप्त हुआ । किससे दुःख पाया ? कुभावना अर्थात् खोटी भावना उसका भाव वे ही हुए दुःखके बीज, उनसे दुःख पाया ।

भावार्थः—जो मुनि कहलावे और वस्तिका बाँधकर आजीविका करे उसे पार्श्वस्थ वेषधारी कहते हैं । जो कषायी होकर व्रतादिकसे भ्रष्ट रहे, संघका अविनय करे इस प्रकारके वेषधारीको कुशील कहते है । जो वैद्यक ज्योतिषविद्या मंत्रकी आजीविका करे, राजादिकका सेवक होवे इसप्रकारके वेषधारीको संसक्त कहते है । जो जिनसूत्रसे प्रतिकूल, चारित्रसे भ्रष्ट आलसी इसप्रकार वेषधारीको 'अवसन्न' कहते हैं । गुरुका आश्रय छोड़कर एकाकी स्वच्छन्द प्रवर्ते, जिन आज्ञाका लोप करे ऐसे वेषधारीको 'मृगचारी' कहते हैं । इनकी भावना भावे वह दुःख ही को प्राप्त होता है ॥१४॥

ऐसे देव होकर मानसिक दुःख पाये इस प्रकार कहते हैं:—

देवाण गुण विहूई इड्ढी माहप्प बहुविहं दट्ठुं ।
होऊण हीणदेवो पत्तो बहु माणसं दुक्खं ॥१५॥

देवानां गुणान् विभूतीः ऋद्धीः माहात्म्यं बहुविधं दृष्ट्वा ।
भूत्वा हीनदेवः प्राप्तः बहु मानसं दुःखम् ॥१५॥

अर्थः—हे जीव ! तू हीन देव होकर अन्य महर्द्धिक देवोंके गुण, विभूति और ऋद्धिका अनेक प्रकारका माहात्म्य देखकर बहुत मानसिक दुःखको प्राप्त हुआ ।

बहु वार काल अनादिथी पार्श्वस्थ-आदिक भावना ।
तें भावीने दुर्भावनात्मक बीजथी दुःखो लह्यां ॥१४॥

रे ! हीन देव थइ तुं पाम्यो तीव्र मानस दुःखने ।
देवो तणा गुणविभव, ऋद्धि, महात्म्य बहुविध देखीने ॥१५॥

भावार्थः—स्वर्गमें हीन देव होकर बड़े ऋद्धिधारी देवके अणिमादि गुणकी विभूति देखे तथा देवांगना आदिका बहुत परिवार देखे और आज्ञा, ऐश्वर्य आदिका माहात्म्य देखे तब मनमें इसप्रकार विचारे कि मैं पुण्यरहित हूँ, ये बड़े पुण्यवान् हैं, इनके ऐसी विभूतिमाहात्म्य ऋद्धि है, इसप्रकार विचार करनेसे मानसिक दुःख होता है ।।१५।।

आगे कहते हैं कि अशुभ भावनासे नीच देव होकर ऐसे दुःख पाते हैं, ऐसे कहकर इस कथनका संकोच करते हैं :—

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो ।
होऊण कुदेवत्तं पत्तो सि अणेयवाराओ ।।१६।।

चतुर्विधविकथासक्तः मदमत्तः अशुभभावप्रकटार्थः ।
भूत्वा कुदेवत्वं प्राप्तः असि अनेकवारान् ।।१६।।

अर्थः—हे जीव ! तू चार प्रकारकी विकथामें आसक्त होकर, मदसे मत्त और जिसके अशुभ भावनाका ही प्रकट प्रयोजन है इसप्रकार होकर अनेकबार कुदेवपनेको प्राप्त हुआ ।

भावार्थः—स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा और राजकथा इन चार विकथाओंमें आसक्त होकर वहाँ परिणामको लगाया तथा जाति आदि आठ मदोंसे उन्मत्त हुआ ऐसी अशुभ भावना ही का प्रयोजन धारण कर अनेकबार नीच देवपनेको प्राप्त हुआ, वहाँ मानसिक दुःख पाया ।

यहाँ यह विशेष जानने योग्य है कि विकथादिकसे तो नीच देव भी नहीं होता है, परन्तु यहाँ मुनिको उपदेश है वह मुनिपद धारणकर कुछ तपश्चरणादिक भी करे और वेषमें विकथादिकमें रक्त हो तब नीच देव होता है, इसप्रकार जानना चाहिये ।।१६।।

आगे कहते हैं कि ऐसी कुदेवयोनि पाकर वहाँसे चय जो मनुष्य तिर्यंच होवे, वहाँ गर्भमें आवे उसकी इसप्रकार व्यवस्था है :—

मदमत्त ने आसक्त चार प्रकारनी विकथा महीं ।
बहुशः कुदेवपणुं लह्युं तें अशुभ भावे परिणमी ।।१६।।

असुईबीहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि ।
वसिओ सि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ॥१७॥

अशुचिबीभत्सासु य कलिमलबहुलासु गर्भवसतिषु ।
उषितोऽसि चिरं कालं अनेकजननीनां मुनिप्रवर! ॥१७॥

अर्थः—हे मुनिप्रवर! तू कुदेवयोनिसे चयकर अनेक माताओंकी गर्भकी बसतीमें बहुत काल रहा। कैसी है वह बसती? अशुचि अर्थात् अपवित्र है, बीभत्स (घिनावनी) है और उसमें कलिमल बहुत है अर्थात् पापरूप मलिन मलकी अधिकता है।

भावार्थः—यहाँ 'मुनिप्रवर' ऐसा सम्बोधन है सो प्रधानरूपसे मुनियोंको उपदेश है। जो मुनिपद लेकर मुनियोंमें प्रधान कहलावे और शुद्धात्मरूप निश्चय चारित्रके सन्मुख न हो, उसको कहते हैं कि बाह्य द्रव्यलिंग तो बहुतबार धारणकर चार गतियोंमें ही भ्रमण किया, देव भी हुआ तो वहाँसे चयकर इस प्रकारके मलिन गर्भवासमें आया, वहाँ भी बहुतवार रहा ॥१७॥

आगे फिर कहते हैं कि इसप्रकारके गर्भवाससे निकलकर जन्म लेकर अनेक माताओंका दूध पिया :—

पीओ सि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं ।
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥ १८ ॥

पीतोऽसि स्तनक्षीरं अनंतजन्मांतराणि जननीनाम् ।
अन्यासामन्यासां महायश! सागरसलिलात् अधिकतरम् ॥१८॥

अर्थः—हे महायश! उस पूर्वोक्त गर्भवासमें अन्य-अन्य जन्ममें अन्य-अन्य माताके स्तनका दूध तूने समुद्रके जलसे भी अतिशयकर अधिक पिया है।

हे मुनिप्रवर! तुं चिर वस्यो बहु जननीना गर्भोपणे ।
निकृष्टमलभरपूर, अशुचि, बीभत्स गर्भाशय विषे ॥१७॥

जन्मो अनंत विषे अरे! जननी अनेरी अनेरीनुं ।
स्तनदूध तें पीधुं महायश! उदधिजलथी अति घणुं ॥१८॥

भावार्थः—जन्म-जन्ममें अन्य-अन्य माताके स्तनका दूध इतना पिया कि उसको एकत्र करें तो समुद्रके जलसे भी अतिशयकर अधिक हो जावे। यहाँ अतिशयका अर्थ अनन्तगुणा जानना क्योंकि अनन्तकालका एकत्र किया हुआ दूध अनन्तगुणा हो जाता है ॥१८॥

आगे फिर कहते हैं कि जन्म लेकर मरण किया तब माताके रोनेके अश्रुपातका जल भी इतना हुआः—

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं ॥१९॥

तव मरणे दुःखेन अन्यासामन्यासां अनेकजननीनाम्।
रुदितानां नयननीरं सागरसलिलात् अधिकतरम् ॥ १९ ॥

अर्थः—हे मुने! तूने माताके गर्भमें रहकर जन्म लेकर मरण किया, वह तेरे मरणसे अन्य-अन्य जन्ममें अन्य-अन्य माताके रुदनके नयनोंका नीर एकत्र करें तब समुद्रके जलसे भी अतिशयकर अधिकगुणा हो जावे अर्थात् अनन्तगुणा हो जावे।

आगे फिर कहते हैं कि जितने संसारमें जन्म लिए उनमें, केश, नख, नाल कटे उनका पुंज करें तो मेरुसे भी अधिक राशि हो जायः—

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केसणहरणालट्ठी।
पुञ्जइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥२०॥

भवसागरे अनन्ते छिन्नोज्झितानि केशनखरनालास्थीनि।
पुञ्जयति यदि कोऽपि देवः भवति च गिरिसमाधिकः राशिः ॥ २० ॥

अर्थः—हे मुने! इस अनन्त संसार सागरमें तूने जन्म लिये उनमें केश, नख, नाल और अस्थि कटे, टूटे उनका यदि कोई देव पुंज करे तो मेरु पर्वतसे भी अधिक राशि हो जावे, अनन्तगुणा हो जावे ॥२०॥

तुज मरणथी दुःखार्त बहु जननी अनेरी अनेरीनां।
नयनो थकी जल जे वह्यां ते उदधिजलथी अति घणां ॥१९॥

निःसीम भवमां त्यक्त तुज नख-नाल-अस्थि-केशने।
सुर कोई एकत्रित करे तो गिरिअधिक राशि बने ॥२०॥

आगे कहते हैं कि हे आत्मन् ! तू जल थल आदि स्थानोंमें सब जगह रहा है :—

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरितरुवणाइ* सव्वत्थ ।
वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥ २१ ॥

जलस्थलशिखिपवनांबरगिरिसरिद्दरीतरुवनादिषु सर्वत्र ।
उषितोऽसि चिरं कालं त्रिभुवनमध्ये अनात्मवशः ॥ २१ ॥

अर्थः—हे जीव ! तू जलमें, थल अर्थात् भूमिमें, शिखि अर्थात् अग्निमें, पवनमें, अम्बर अर्थात् आकाशमें, गिरि अर्थात् पर्वतमें, सरित् अर्थात् नदीमें, दरी अर्थात् पर्वतकी गुफामें, तरु अर्थात् वृक्षोंमें, वनोंमें और अधिक क्या कहें सब ही स्थानोंमें, तीन लोकमें अनात्मवश अर्थात् पराधीन होकर बहुत काल तक रहा अर्थात् निवास किया ।

भावार्थः—निज शुद्धात्माकी भावना बिना कर्मके आधीन होकर तीन लोकमें सर्व दुःखसहित सर्वत्र निवास किया ॥२१॥

आगे फिर कहते हैं कि हे जीव ! तूने इस लोकमें सर्व पुद्गल भक्षण किये तो भी तृप्त नहीं हुआ :—

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं ।
पत्तो सि तो ण तित्तिं [1]पुणरुत्तं ताइं भुञ्जंतो ॥ २२ ॥

ग्रसिताः पुद्गलाः भुवनोदरवर्तिनः सर्वे ।
प्राप्तोऽसि तन्न तृप्तिं पुनरुक्तान् तान् भुंजानः ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तर 'वणाइं', 'वणाई'।

१ मुद्रित संस्कृत प्रतिमें 'पुणरूवं' पाठ है जिसकी संस्कृतमें 'पुनरूप' छाया है।

जल-थल-अनल-पवने, नदी-गिरि-आभ-वन-वृक्षादिमां।
वण आत्मवशता चिर वस्यो सर्वत्र तुं त्रण भुवनमां ॥२१॥

भक्षण कर्यां तें लोकवर्ती पुद्गलोने सर्वने।
फरी फरी कर्यां भक्षण छतां पाम्यो नहीं तुं तृप्तिने ॥२२॥

अर्थः—हे जीव ! तूने इस लोकके उदरमें वर्तते जो पुद्गल स्कन्ध, उन सबको ग्रसे अर्थात् भक्षण किये और उनहीको पुनरुक्त अर्थात् बारबार भोगता हुआ भी तृप्तिको प्राप्त न हुआ ।

फिर कहते हैं:—

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे ।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥२३॥

त्रिभुवनसलिलं सकलं पीतं तृष्णाया पीडितेन त्वया ।
तदपि न तृष्णाछेदः जातः चिन्तय भवमथनम् ॥२३॥

अर्थः—हे जीव ! तूने इस लोकमें तृष्णासे पीड़ित होकर तीनलोकका समस्त जल पिया, तो भी तृषाका व्युच्छेद न हुआ अर्थात् प्यास न बुझी, इसलिये तू इस संसारका मथन अर्थात् तेरे संसारका नाश हो, इसप्रकार निश्चय रत्नत्रयका चिन्तन कर ।

भावार्थः—संसारमें किसी भी तरह तृप्ति नहीं है, जैसे अपने संसारका अभाव हो वैसे चिन्तन करना, अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रको धारण करना, सेवन करना यह उपदेश है ॥२३॥

आगे फिर कहते हैं:—

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं ।
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर ॥२४॥

गृहीतोज्झितानि मुनिवर कलेवराणि त्वया अनेकानि ।
तेषां नास्ति प्रमाणं अनन्तभवसागरे धीर ! ॥२४॥

पीडित तृषाथी तें पीधां छे सर्व त्रिभुवननीरने ।
तोपण तृषा छेदाई ना; चिंतव अरे ! भवछेदने ॥२३॥

हे धीर ! हे मुनिवर ! ग्रह्यां–छोडयां शरीर अनेक तें ।
तेनुं नथी परिमाण कंई निःसीम भवसागर विषे ॥२४॥

अर्थः—हे मुनिवर! हे धीर! तूने इस अनन्त भवसागरमें कलेवर अर्थात् शरीर अनेक ग्रहण किये और छोड़े, उनका परिमाण नहीं है।

भावार्थः—हे मुनिप्रधान! तू इस शरीरसे कुछ स्नेह करना चाहता हैं तो इस संसारमें इतने शरीर छोड़े और ग्रहण किये कि उनका कुछ परिमाण भी नहीं किया जा सकता है।

आगे कहते हैं कि जो पर्याय स्थिर नहीं है, आयुकर्मके आधीन है वह अनेक प्रकारसे क्षीण हो जाती है:—

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ॥२५॥
हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं॥२६॥
इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तो सि तं मित्त॥२७॥

विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्रग्रहणसंक्लेशैः।
आहारोच्छ्वासानां निरोधनात क्षीयते आयु॥२५॥

हिमज्वलनसलिलगुरुतरपर्वततरुरोहणपतनभङ्गैः।
रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः विविधैः॥२६॥

इति तिर्यग्मनुष्यजन्मनि सुचिरं उत्पद्य बहुवारम्।
अपमृत्युमहादुःखं तीव्रं प्राप्तोऽसि त्वं मित्र?॥२७॥

विष वेदनाथी, रक्तक्षय-भय-शस्त्रथी, संक्लेशथी।
आयुष्यनो क्षय थाय छे आहार-श्वासनिरोधथी॥२५॥

हिम-अग्नि-जलथी, उच्च-पर्वतवृक्षरोहणपतनथी।
अन्याय-रसविज्ञान-योगप्रधारणादि प्रसंगथी॥२६॥

हे मित्र! ए रीत जन्मीने चिर काल नर-तिर्यंचमां।
बहु वार तुं पाम्यो महादुख आकरां अपमृत्युनां॥२७॥

अर्थः—विषभक्षणसे, वेदनाकी पीड़ाके निमित्तसे, रक्त अर्थात् रुधिरके क्षयसे, भयसे, शस्त्रके घातसे, संक्लेश परिणामसे, आहार तथा श्वासके निरोधसे इन कारणोंसे आयुका क्षय होता है।

हिम अर्थात् शीत पालेसे, अग्निसे, जलसे, बड़े पर्वतपर चढ़कर पड़नेसे, बड़े वृक्षपर चढ़कर गिरनेसे, शरीरका भंग होनेसे, रस अर्थात् पारा आदिकी विद्या उसके संयोगसे धारण करके भक्षण करे, इससे और अन्याय कार्य, चोरी, व्यभिचार आदिके निमित्तसे इसप्रकार अनेकप्रकारके कारणोंसे आयुका व्युच्छेद (नाश) होकर कुमरण होता है।

इसलिये कहते हैं कि हे मित्र! इसप्रकार तिर्यंच, मनुष्य जन्ममें बहुतकाल बहुतबार उत्पन्न होकर अपमृत्यु अर्थात् कुमरण सम्बन्धी तीव्र महादुःखको प्राप्त हुआ।

भावार्थः—इस लोकमें प्राणीकी आयु (–जहाँ सोपक्रम आयु बँधी है उसी नियमके अनुसार) तिर्यंच–मनुष्य पर्यायमें अनेक कारणोंसे छिदती है, इससे कुमरण होता है। इससे मरते समय तीव्र दुःख होता है तथा खोटे परिणामोंसे मरण कर फिर दुर्गतिहीमें पड़ता है, इसप्रकार यह जीव संसारमें महादुःख पाता है। इसलिये आचार्य दयालु होकर बारबार दिखाते हैं और संसारसे मुक्त होनेका उपदेश करते हैं, इसप्रकार जानना चाहिये ॥२५–२६–२७॥

आगे निगोदके दुःखको कहते हैं:—

छत्तीस तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि।
अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तो सि निगोयवासम्मि ॥२८॥

षट्त्रिंशत् त्रीणि शतानि षट्षष्टिसहस्रवारमरणानि।
अन्तर्मुहूर्त्तमध्ये प्राप्तोऽसि निकोतवासे ॥२८॥

अर्थः—हे आत्मन्! तू निगोदके वासमें एक अंतमुहूर्त्तमें छयासठ हजार तीनसौ छत्तीस बार मरणको प्राप्त हुआ।

छासठ हजार त्रिशत अधिक छत्रीस तें मरणो कर्यो।
अंतर्मुहूर्त प्रमाण काल विषे निगोदनिवासमां ॥२८॥

भावार्थः—निगोदमें एक श्वासके अठारहवें भाग प्रमाण आयु पाता है। वहाँ एक मुहूर्त्तके सैंतीससौ तिहत्तर श्वासोच्छ्वास गिनते हैं। उनमें छत्तीससौ पिच्यासी श्वासोच्छ्वास और एक श्वासके तीसरे भागके छयासठ हजार तीनसौ छत्तीस बार निगोदमें जन्म मरण होता है। इसका दुःख यह प्राणी सम्यग्दर्शनभाव पाये बिना मिथ्यात्वके उदयके वशीभूत होकर सहता है। भावार्थ—अंतर्मुहूर्त्तमें छयासठ हजार तीनसौ छत्तीस बार जन्म मरण कहा, वह अठयासी श्वास कम मुहूर्त्त इसप्रकार अन्तर्मुहूर्त्तमें जानना चाहिये ॥२८॥

[विशेषार्थ—गाथामें आये हुए 'निगोद वासम्मि' शब्दकी संस्कृत छायामें 'निगोत वासे' है। निगोद शब्द एकेन्द्रिय वनस्पति कायिक जीवोंके साधारण भेदमें रूढ़ है, जबकि निगोन शब्द पांचों इन्द्रियोंके सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होनेवाले लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके लिये प्रयुक्त होता है। अतः यहाँ जो ६६३३६ बार मरणको गिनाया है वह पांचों इन्द्रियोंको सम्मिलित समझना चाहिये ॥२८॥

इस ही अंतर्मुहूर्त्तके जन्म मरणमें क्षुद्रभवका विशेष कहते हैं:—

वियलिंदए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह।
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स ॥ २९ ॥

विकलेंद्रियाणामशीति षष्टि चत्वारिंशतमेव जानीहि।
पंचेन्द्रियाणां चतुर्विंशति क्षुद्रभवान् अन्तर्मुहूर्त्तस्य ॥२९॥

अर्थः—इस अन्तर्मुहूर्त्तके भवोंमें दो इन्द्रियके क्षुद्रभव अस्सी, तेइन्द्रियके साठ, चौइन्द्रियके चालीस और पंचेन्द्रियके चौवीस, इसप्रकार हे आत्मन्! तू क्षुद्रभव जान।

भावार्थः—क्षुद्रभव अन्य शास्त्रोंमें इसप्रकार गिने हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और साधारण निगोदके सूक्ष्म बादरसे दस और सप्रतिष्ठित वनस्पति एक, इसप्रकार ग्यारह स्थानोंके भव तो एक-एकके छह हजार बार उसके छयासठ हजार एकसौ

रे! जाण एंशी साठ चालीश क्षुद्रभव विकलेंद्रिना।
अंतर्मुहूर्ते क्षुद्रभव चोवीश पंचेन्द्रिय तणा ॥२९॥

बत्तीस हुए और इस गाथामें कहे वे भव दो इन्द्रिय आदिके दो सौ चार, ऐसे ६६३३६ एक अन्तर्मुहूर्त्तमें क्षुद्रभव कहे हैं ॥२६॥

आगे कहते हैं कि हे आत्मन्! तूने इस दीर्घसंसारमें पूर्वोक्त प्रकार सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयकी प्राप्ति विना भ्रमण किया, इसलिये अब रत्नत्रय धारण कर :—

रयणत्तये अलद्धे एवं भमिओ सि दीहसंसारे।
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तय समायरह ॥३०॥

रत्नत्रये अलब्धे एवं भ्रमितोऽसि दीर्घसंसारे।
इति जिनवरैर्भणितं तत् रत्नत्रयं समाचर ॥३०॥

अर्थः—हे जीव! तूने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयको नहीं पाया, इसलिये इस दीर्घकालसे—अनादि संसारमें पहिले कहे अनुसार भ्रमण किया इसप्रकार जानकर अब तू उस रत्नत्रयका आचरण कर, इसप्रकार जिनेश्वरदेवने कहा है।

भावार्थः—निश्चय रत्नत्रय पाये बिना यह जीव मिथ्यात्वके उदयसे संसारमें भ्रमण करता है, इसलिये रत्नत्रयके आचरणका उपदेश है ॥३०॥

आगे शिष्य पूछता है कि वह रत्नत्रय कैसा है? उसका समाधान करते हैं कि रत्नत्रय इसप्रकार है:—

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिहं चारित्त मग्गो त्ति ॥३१॥

आत्मा आत्मनि रतः सम्यग्दृष्टिः भवति स्फुटं जीवः।
जानाति तत् संज्ञानं चरतीह चारित्रं मार्ग इति ॥३१॥

वण रत्नत्रयप्राप्ति तुं ए रीत दीर्घ संसारे भम्यो।
—भाख्युं जिनोए आम; तेथी रत्नत्रयने आचरो ॥३०॥

निज आत्ममां रत जीव जे ते प्रगट सम्यग्दृष्टि छे।
तद्‌बोध छे सुज्ञान, त्यां चरवुं चरण छे:—मार्ग ए ॥३१॥

अर्थः—जो आत्मा आत्मामें रत होकर यथार्थरूपका अनुभव कर तद्रूप होकर श्रद्धान करे वह प्रगट सम्यग्दृष्टि होता है, उस आत्माको जानना सम्यग्ज्ञान है, उस आत्मामें आचरण करके रागद्वेषरूप न परिणमना सम्यक् चारित्र है। इसप्रकार यह निश्चय रत्नत्रय है, मोक्षमार्ग है।

भावार्थः—आत्माका श्रद्धान ज्ञान आचरण निश्चय रत्नत्रय है और बाह्यमें इसका व्यवहार–जीव अजीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान, तथा जानना और परद्रव्य परभावका त्याग करना इसप्रकार निश्चय–व्यवहार स्वरूप रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है वहाँ निश्चय तो प्रधान है, इसके बिना व्यवहार संसारस्वरूप ही है। *व्यवहार है वह निश्चयका साधनस्वरूप है, इसके बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं है और निश्चयकी प्राप्ति हो जानेके बाद व्यवहार कुछ नहीं है इसप्रकार जानना चाहिये ॥३१॥

आगे संसारमें इस जीवने जन्म–मरण किये हैं वे कुमरण किये, अब सुमरणका उपदेश करते हैं:—

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओ सि।
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ! ॥३२॥

अन्यस्मिन् कुमरणमरणं अनेकजन्मान्तरेषु मृतः असि।
भावय सुमरणमरणं जन्ममरणविनाशनं जीव ! ॥३२॥

अर्थः—हे जीव ! इस संसारमें अनेक जन्मान्तरोंमें अन्य कुमरण मरण जैसे होते हैं वैसे तू मरा। अब तू जिस मरणसे जन्म मरणका नाश हो जाय इसप्रकार सुमरण भा अर्थात् समाधिमरणकी भावना कर।

भावार्थः—मरण संक्षेपसे अन्य शास्त्रोंमें सतरह प्रकारके कहे हैं। वे इसप्रकार हैं—१–आवीचिकामरण, २–तद्भवमरण, ३–अवधिमरण, ४–आद्यान्तमरण, ५–बाल-

---

नोंध—*यहाँ ऐसा नहीं समझना कि प्रथम व्यवहार हो और पश्चात् निश्चय हो—किन्तु भूमिकानुसार प्रारम्भसे ही निश्चय–व्यवहार साथमें होता है। निमित्तके बिना अर्थ शास्त्रमें जो कहा है उससे विरुद्ध निमित्त नहीं होता ऐसा समझना।]

हे जीव ! कुमरणमरणथी तुं मर्यो अनेक भवो विषे।
तुं भाव सुमरणमरणने जर–मरणना हरनारने ॥३२॥

मरण, ६–पंडितमरण, ७–आसन्नमरण, ८–बाल पंडितमरण, ९–सशल्यमरण, १०–पलायमरण, ११–वशार्त्तमरण १२–विप्राणसमरण, १३–गृध्रपृष्टमरण, १४–भक्त-प्रत्याख्यानमरण, १५–इंगिनीमरण, १३–प्रायोपगमनमरण, और १७–केवलिमरण इसप्रकार सतरह हैं।

इनका स्वरूप इसप्रकार है—आयुकर्मका उदय समय–समयमें घटता है वह समय समय मरण है, यह **आवीचिकामरण** है ॥ १ ॥

वर्तमान पर्यायका अभाव **तद्भवमरण** है ॥ २ ॥

जैसा मरण वर्तमान पर्यायका हो वैसा ही अगली पर्यायका होगा वह **अवधिमरण** है। इसके दो भेद हैं–जैसा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग वर्तमानका उदय आया वैसा ही अगलीका उदय आवे वह (१) सर्वावधिमरण है और एकदेश बंध–उदय हो तो (२) देशावधि मरण कहलाता है ॥ ३ ॥

वर्तमान पर्यायका स्थिति आदि जैसा उदय था वैसा अगलीका सर्वतो वा देशतो बंध–उदय न हो वह **आद्यन्तमरण** है ॥ ४ ॥

पाँचवाँ **बालमरण** है, यह पाँच प्रकारका है—१ अव्यक्तबाल, २ व्यवहारबाल, ३ ज्ञानबाल, ४ दर्शनबाल, ५ चारित्रबाल । जो धर्म, अर्थ, काम इन कामोंको न जाने, जिसका शरीर इनके आचरणके लिये समर्थ न हो वह **'अव्यक्तबाल'** है। जो लोकके और शास्त्रके व्यवहारको न जाने तथा बालक अवस्था हो वह **'व्यवहारबाल'** है। वस्तुके यथार्थ ज्ञानरहित **'ज्ञानबाल'** है। तत्त्वश्रद्धानरहित मिथ्यादृष्टि **'दर्शनबाल'** है। चारित्ररहित प्राणी **'चारित्रबाल'** है। इनका मरना सो **बालमरण** है। यहाँ प्रधानरूपसे दर्शनबालका ही ग्रहण है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिको अन्य बालपना होते हुए भी दर्शन-पंडितताके सद्भावसे पंडितमरणमें ही गिनते हैं। दर्शनबालका मरण संक्षेपसे दो प्रकारका कहा है–इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त। अग्निसे, धूमसे, शस्त्रसे, विषसे, जलसे, पर्वतके किनारे परसे गिरनेसे, अति शीत उष्णकी बाधासे, बंधनसे, क्षुधा तृषाके रोकनेसे, जीभ उखाड़नेसे और विरुद्ध आहार करनेसे बाल (अज्ञानी) इच्छा-पूर्वक मरे सो 'इच्छाप्रवृत्त' है तथा जीनेका इच्छुक हो और मर जावे सो 'अनिच्छा-प्रवृत्त' है ॥५॥

पंडितमरण चार प्रकारका है—१–व्यवहारपंडित, २–सम्यक्त्वपंडित, ३–ज्ञानपंडित, ४–चारित्रपंडित। लोकशास्त्रके व्यवहारमें प्रवीण हो वह **'व्यवहारपंडित'** है। सम्यक्त्व सहित हो **'सम्यक्त्वपंडित'** है। सम्यग्ज्ञान सहित हो **'ज्ञानपंडित'** है। सम्यक्चारित्रसहित हो **'चारित्रपंडित'** है। यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित पंडितका ग्रहण है, क्योंकि व्यवहार पंडित मिथ्यादृष्टि बालमरणमें आ गया ॥६॥

मोक्षमार्गमें प्रवर्तनेवाला साधु संघसे छूटा उसको 'आसन्न' कहते हैं। इसमें पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त भी लेने, इसप्रकारके पंचप्रकार भ्रष्ट साधुओंका मरण **'आसन्नमरण'** है ॥७॥

सम्यग्दृष्टि श्रावकका मरण **'बालपंडितमरण'** है ॥८॥

सशल्यमरण दो प्रकारका है—मिथ्यादर्शन, माया, निदान ये तीन शल्य तो **'भावशल्य'** हैं और पंच स्थावर तथा त्रसमें असैनी ये 'द्रव्यशल्य' सहित हैं इसप्रकार **'सशल्यमरण'** है ॥९॥

जो प्रशस्तक्रियामें आलसी हो, व्रतादिकमें शक्तिको छिपावे, ध्यानादिकसे दूर भागे इसप्रकारका मरण **'पलायमरण'** है ॥१०॥

वशार्त्तमरण चार प्रकारका है—वह आर्त्तरौद्र ध्यानसहित मरण है, पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेष सहित मरण **'इन्द्रियवशार्त्तमरण'** है। साता असाताकी वेदनासहित मरे **'वेदनावशार्त्तमरण'** है। क्रोध, मान, माया, लोभ, कषायके वशसे मरे **'कषायवशार्त्तमरण'** है। हास्य विनोद कषायके वशसे मरे **'नोकषायवशार्त्तमरण'** है ॥११॥

जो अपने व्रत क्रिया चारित्रमें उपसर्ग आवे वह सहा भी न जावे और भ्रष्ट होनेका भय आवे तब अशक्त होकर अन्नपानीका त्यागकर मरे **'विप्राणसमरण'** है ॥१२॥

शस्त्र ग्रहण कर मरण हो **'गृध्रपृष्ठमरण'** है ॥१३॥

अनुक्रमसे अन्नपानीका यथाविधि त्याग कर मरे **'भक्तप्रत्याख्यान-मरण'** है ॥१४॥

सन्यास करे और अन्यसे वैयावृत्य करावे **'इंगिनीमरण'** है ॥१५॥

प्रायोपगमन सन्यास करे और किसीसे वैयावृत्य न करावे, तथा अपने आप भी न करे, प्रतिमायोग रहे **'प्रायोपगमनमरण'** है ॥१६॥

केवली मुक्तिप्राप्त हो **'केवलीमरण'** है ॥१७॥

इसप्रकार सतरह प्रकार कहे। इनका संक्षेप इसप्रकार है—मरण पाँच प्रकारके हैं—१ पंडितपंडित, २ पंडित ३ बालपंडित, ४ बाल, ५ बालबाल। जो दर्शन ज्ञान चारित्रके अतिशय सहित हो वह पंडितपंडित है और इनकी प्रकर्षता जिसके न हो पंडित है, सम्यग्दृष्टि श्रावक वह बालपंडित और पहिले चार प्रकारके पंडित कहे उनमेंसे एक भी भाव जिसके नहीं हो वह बाल है तथा जो सबसे न्यून हो वह बालबाल है। इनमें पंडितपंडितमरण, पंडितमरण और बालपंडितमरण ये तीन प्रशस्त सुमरण कहे हैं, अन्य रीति होवे वह कुमरण है। इसप्रकार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एकदेश सहित मरे वह 'सुमरण' है, इसप्रकार सुमरण करनेका उपदेश है ॥३२॥

आगे यह जीव संसारमें भ्रमण करता है, उस भ्रमणके परावर्तनका स्वरूप मनमें धारणकर निरूपण करते हैं। प्रथम ही सामान्यरूपसे लोकके प्रदेशोंकी अपेक्षासे कहते हैं:—

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ।
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सव्वो ॥३३॥

सः नास्ति द्रव्यश्रमणः परमाणुप्रमाणमात्रो निलयः।
यत्र न जातः न मृतः त्रिलोकप्रमाणकः सर्वः ॥३३॥

अर्थः—यह जीव द्रव्यलिंगका धारक मुनिपना होते हुए भी जो तीनलोक प्रमाण सर्व स्थान हैं उनमें एक परमाणुपरिमाण एक प्रदेशमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहाँ जन्म-मरण न किया हो।

भावार्थः—द्रव्यलिंग धारण करके भी इस जीवने सर्व लोकमें अनन्तबार जन्म और मरण किये किन्तु ऐसा कोई प्रदेश शेष न रहा कि जिसमें जन्म और मरण न

त्रण लोकमां परमाणु सरखुं स्थान कोई रह्युं नथी।
ज्यां द्रव्यश्रमण थयेल जीव मर्यो नथी, जन्म्यो नथी ॥३३॥

किये हों । इसप्रकार भावलिंगके बिना द्रव्यलिंगसे मोक्षकी (–निज परमात्मदशाकी) प्राप्ति नहीं हुई ऐसा जानना ॥३३॥

आगे इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये भावलिंगको प्रधान कर कहते हैं:–

कालमणंतं जीवो जम्मजरमरणपीडिओ दुक्खं ।
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण ॥३४॥

कालमनंतं जीवः जन्मजरामरणपीडितः दुःखम् ।
जिनलिंगेन अपि प्राप्तः परम्पराभावरहितेन ॥३४॥

अर्थः—यह जीव इस संसारमें जिसमे परम्परा भावलिंग न होनेसे अनंतकाल-पर्यन्त जन्म–जरा–मरणसे पीड़ित दुःखको ही प्राप्त हुआ ।

भावार्थः—द्रव्यलिंग धारण किया और उसमें परम्परासे भी भावलिंगकी प्राप्ति न हुई इसलिये द्रव्यलिंग निष्फल गया, मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हुई, संसारमें ही भ्रमण किया ।

यहाँ आशय इसप्रकार है कि द्रव्यलिंग है वह भावलिंगका साधन है, परन्तु [1]काललब्धि विना द्रव्यलिंग धारण करने पर भी भावलिंगकी प्राप्ति नहीं होती है इसलिये द्रव्यलिंग निष्फल जाता है । इसप्रकार मोक्षमार्गमें प्रधान भावलिंग ही है । यहाँ कोई कहे कि इसप्रकार है तो द्रव्यलिंग पहिले क्यों धारण करें ? उसको कहते हैं कि—इसप्रकार माने तो व्यवहारका लोप होता है, इसलिये इसप्रकार मानना जो

---

१. (१) काललब्धि = स्व समय—निजस्वरूप परिणामकी प्राप्तिः (आत्मावलोकन गा० ९)

(२) काललब्धि का अर्थ स्वकालकी प्राप्ति है । (३) "यदायं जीवः आगमभाषया कालादि लब्धिरूपमध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुखं परिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभते........ अर्थ—जब यह जीव आगमभाषासे कालादि लब्धिको प्राप्त करता है तथा अध्यात्म-भाषासे शुद्धात्माके सन्मुख परिणाम स्वसंवेदन ज्ञानको प्राप्त करता है ।" (पंचास्तिकाय गा० १५०-५१ जयसेनाचार्य टीका) (४) विशेष देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ ॥

जीव जनि-जरा-मृततप्त काल अनंत पाम्यो दुःखने ।
जिनलिंगने पण धारी पारंपर्यभावविहीनने ॥३४॥

द्रव्यलिंग पहिले धारण करना, इसप्रकार न जानना कि इसीसे सिद्धि है। भावलिंगको प्रधान मानकर उसके सन्मुख उपयोग रखना, द्रव्यलिगको यत्नपूर्वक साधना, इसप्रकारका श्रद्धान भला है ॥३४॥

आगे पुद्गल द्रव्यको प्रधानकर भ्रमण कहते हैं:—

पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्ठं ।
गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे [1]जीव ॥३५॥

प्रतिदेशसमयपुद्गलायुः परिणामनामकालस्थम् ।
गृहीतोज्झितानि बहुशः अनन्तभवसागरे जीवः ॥३५॥

अर्थः—इस जीवने इस अनन्त अपार भवसमुद्रमें लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उन प्रति समय समय और पर्यायके आयुप्रमाण काल और अपने जैसा योगकषायके परिणमन स्वरूप परिणाम और जैसा गति जाति आदि नामकर्मके उदयसे हुआ नाम और काल जैसा उत्सर्पिणी अवसर्पिणी उनमें पुद्गलके परमाणुरूप स्कन्ध उनको बहुतबार अनन्तवार ग्रहण किये और छोड़े ।

भावार्थः—भावलिंग विना लोकमें जितने पुद्गल स्कन्ध हैं उन सबको ही ग्रहण किये और छोड़े तो भी मुक्त न हुआ ।३५।

आगे क्षेत्रको प्रधान कर कहते हैं:—

तेयाला तिण्णि सया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं ।
मुत्तूणट्ठ पएसा जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥३६॥

त्रिचत्वारिंशत त्रीणि शतानि रज्जूनां लोकक्षेत्रपरिमाणं ।
मुक्त्वाऽष्टौ प्रदेशान् यत्र न भ्रमितः जीवः ॥३६॥

---

१. पाठान्तर :—जीवो ।

प्रतिदेश–पुद्गल–काल–आयुष–नाम–परिणामस्थ तें ।
बहुशः शरीर ग्रह्यां–तज्यां निःसीम भवसागर विषे ॥३५॥

त्रणशत-अधिक चालीस-त्रण रज्जुप्रमित आ लोकमां ।
तजी आठ कोई प्रदेश ना, परिभ्रमित नहि आ जीव ज्यां ॥३६॥

अर्थः—यह लोक तीनसौ तेतालीस राजू परिमाण क्षेत्र है उसके बीच मेरुके नीचे गो स्तनाकार आठ प्रदेश हैं उनको छोड़कर अन्य प्रदेश ऐसा न रहा जिसमें यह जीव नहीं जन्मा मरा हो।

भावार्थः—'ढुरुढुल्लिओ' इसप्रकार प्राकृतमें भ्रमण अर्थके धातुका आदेश है और क्षेत्रपरावर्तनमें मेरुके नीचे आठ प्रदेश लोकके मध्यमें हैं उनको जीव अपने शरीरके अष्टमध्य प्रदेशों बनाकर मध्यदेश उपजै हैं वहांसे क्षेत्रपरावर्तनका प्रारम्भ किया जाता है इसलिये उनको पुनरुक्त भ्रमणमें नहीं गिनते हैं ॥३६॥ [देखो गो० जी० काण्ड गाथा ५६० पृं० २६६ मूलाचार अ० ९ गा० १४ पृ० ४२८]

आगे यह जीव शरीरसहित उत्पन्न होता है और मरता है, उस शरीरमें रोग होते हैं, उनकी संख्या दिखाते हैं:—

एक्केक्कंगुलि वाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥३७॥

एकैकांगुलौ व्याधयः षण्णवतिः भवंति जानीहि मनुष्यानां।
अवशेषे च शरीरे रोगाः भण कियन्तः भणिताः ॥६७॥

अर्थः—इस मनुष्यके शरीरमें एक-एक अंगुलमें छ्यानवे छ्यानवे रोग होते हैं, तव कहो अवशेष समस्त शरीरमें कितने रोग कहें ॥३७॥

आगे कहते हैं कि जीव! उन रोगोंका दुःख तूने सहाः—

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे।
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥३८॥

ते रोगा अपि च सकलाः सोढास्त्वया परवशेण पूर्वभवे।
एवं सहसे महायशः! किं वा बहुभिः लपितैः ॥३८॥

प्रत्येक अंगुल छन्नुं जाणो रोग मानवदेहमां।
तो केटला रोगो कहो, आ अखिल देह विषे भला! ॥३७॥

ए रोग पण सघला सह्या तें पूर्वभवमां परवशे।
तुं सही रह्यो छे आम यशधर; अधिक शुं कहीए तने? ॥३८॥

अर्थः—हे महायश ! हे मुने ! तूने पूर्वोक्त सब रोगोंको पूर्वभवोंमें तो परवश सहे इसप्रकार ही फिर सहेगा, बहुत कहनेसे क्या ?

भावार्थः—यह जीव पराधीन होकर सब दुःख सहता है । यदि ज्ञान भावना करे और दुःख आने पर उससे चलायमान न हो इस तरह स्ववश होकर सहे तो कर्मका नाश कर मुक्त हो जावे, इसप्रकार जानना चाहिये ॥३८॥

आगे कहते हैं कि अपवित्र गर्भवासमें भी रहाः—

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले ।
उयरे वसिओ सि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥३९॥

पित्तांत्रमूत्रफेफसयकृद्रुधिरखरिसकृमिजाले ।
उदरे उषितोऽसि चिरं नवदशमासैः प्राप्तैः ॥ ३९ ॥

अर्थः—हे मुने ! तूने इस प्रकारके मलिन अपवित्र उदरमें नव मास तथा दस मास प्राप्त कर रहा । कैसा है उदर ? जिसमें पित्त और आंतोंसे वेष्टित, मूत्रका स्रवण, फेफस अर्थात् जो रुधिर विना मेद फूल जावे, कालिज्ज अर्थात् कलेजा, खून, खरिस अर्थात् अपक्व मलसे मिला हुआ रुधिर श्लेष्म और कृमिजाल अर्थात् लट आदि जीवोंके समूह ये सब पाये जाते हैं इसप्रकार स्त्रीके उदरमें बहुत बार रहा ॥३९॥

फिर इसीको कहते हैंः—

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णांते ।
छद्दिखरिसाण मज्झे जढरे वसिओ सि जणणीए ॥४०॥

द्विजसंगस्थितमशनं आहृत्य मातृभुक्तमन्नान्ते ।
छर्दिखरिसयोर्मध्ये जठरे उषितोऽसि जनन्याः ॥४०॥

मल-मूत्र-शोणित-पित्त, करम, बरोल, यकृत, आंत्र ज्यां ।
त्यां मास नव-दश तुं वस्यो बहु वार जननी-उदरमां ॥३९॥

जननी तणुं चावेल ने खावेल एठुं खाईने ।
तुं जननी केरा जठरमां वमनादिमध्य वस्यो अरे ॥४०॥

अर्थः—हे जीव ! तू जननी (माता) के उदर (गर्भ) में रहा, वहाँ माताके और पिताके भोगके अन्त छर्दि (वमन) का अन्न, खरिस (रुधिरसे मिला हुआ अपक्व मल) के बीचमें रहा, कैसा रहा ? माताके दाँतोंसे चबाया हुआ और उन दाँतोंके लगा हुआ (रुका हुआ) झूठा भोजन माताके खानेके पीछे जो उदरमें गया उसके रसरूपी आहारसे रहा ।।४०।।

आगे कहते हैं कि गर्भसे निकल कर इसप्रकार बालकपन भोगा :—

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओ सि तुमं ।
असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥४१॥

शिशुकाले च अज्ञाने अशुचिमध्ये लोलितोऽसित्वम् ।
अशुचिः अशिता बहुशः मुनिवर ! बालत्वप्राप्तेन ॥४१॥

अर्थः—हे मुनिवर ! तू बचपनके समयमें अज्ञान अवस्थामें अशुचि (अपवित्र) स्थानोंमें अशुचिके बीच लेटा और बहुत बार अशुचि वस्तु ही खाई, बचपनको पाकर इसप्रकार चेष्टायें की ।

भावार्थः—यहाँ 'मुनिवर' इसप्रकार सम्बोधन है वह पहिलेके समान जानना, बाह्य आचरण सहित मुनि हो उसीको यहाँ प्रधानरूपसे उपदेश है कि बाह्य आचरण किया वह तो बड़ा कार्य किया, परन्तु भावोंके बिना यह निष्फल है इसलिये भावके सन्मुख रहना, भावोंके बिना ही ये अपवित्र स्थान मिले हैं ।।४१।।

आगे कहते हैं कि यह देह इस प्रकार है उसका विचार करो :—

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधं ।
खरिसवसापूय[1]खिब्भिस भरियं चिंतेहि देहउडं ॥४२॥

---

१. पाठान्तर—" खिब्भिस "

तुं अशुचिमां लोट्यो घणुं शिशुकालमां अणसमजमां ।
मुनिवर ! अशुचि आरोगी छे बहु वार तें बाल्त्वमां ।।४१।।

मल-पित्त-शोणित-आन्त्रथी दुर्गंध शब सम ज्यां स्रवे ।
चिंतव तुं पीप-वसादि-अशुचिभरेल कायाकुंभने ।।४२।।

मांसास्थिशुक्रश्रोणितपित्तांत्रस्रवत्कुणिमदुर्गन्धम् ।
खरिसवसापूयकिल्विषभरितं चिन्तय देहकुटम् ॥४२॥

अर्थः—हे मुने! तू देहरूप घटको इसप्रकार विचार, कैसा है देहघट? मांस, हाड़, शुक्र (वीर्य), श्रोणित (रुधिर), पित्त (उष्ण विकार) और अंत्र (अँतडियाँ) आदि द्वारा तत्काल मृतककी तरह दुर्गंध है तथा खरिस (रुधिरसे मिला अपक्वमल), वसा (मेद), पूय (खराब खून) और राध इन सब मलिन वस्तुओंसे पूरा भरा है, इसप्रकार देहरूप घटका विचार करो।

भावार्थः—यह जीव तो पवित्र है, शुद्धज्ञानमयी है और यह देह इसप्रकार है, इसमें रहना अयोग्य है ऐसा बताया है ॥४२॥

आगे कहते हैं कि जो कुटुम्बसे छूटा वह नहीं छूटा, भावसे छूटे हुएको ही छूटा कहते हैं:—

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण ।
इय भाविऊण उज्झसु गंधं अब्भंतरं धीर ॥४३॥

भावविमुक्तः मुक्तः न च मुक्तः बांधवादिमित्रेण ।
इति भावयित्वा उज्झय गन्धमाभ्यन्तरं धीर! ॥४३॥

अर्थः—जो मुनि भावोंसे मुक्त हुआ उसीको मुक्त कहते हैं और बांधव आदि कुटुम्ब तथा मित्र आदिसे मुक्त हुआ उसको मुक्त नहीं कहते हैं, इसलिये हे धीर मुनि! तू इसप्रकार जानकर अभ्यन्तरकी वासनाको छोड़।

भावार्थः—जो बाह्य बांधव कुटुम्ब तथा मित्र इनको छोड़कर निर्ग्रंथ हुआ और अभ्यन्तरका ममत्व भावरूप वासना तथा इष्ट-अनिष्टमें रागद्वेष वासना न छूटी तो उसको निर्ग्रंथ नहीं कहते हैं। अभ्यन्तर वासना छूटने पर निर्ग्रन्थ होता है इसलिये यह उपदेश है कि अभ्यन्तर मिथ्यात्व कषाय छोड़कर भावमुनि बनना चाहिये ॥४३॥

रे! भावमुक्त विमुक्त छे, स्वजनादिमुक्त न मुक्त छे।
इम भावीने हे धीर! तुं परित्याग आंतर ग्रन्थने ॥४३॥

आगे कहते हैं कि जो पहिले मुनि हुए उन्होंने भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं पाई है। उनका उदाहरणमात्र नाम कहते हैं। प्रथम ही बाहुबलीका उदाहरण कहते हैं:—

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर ! ।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं[1] कालं ॥४४॥

देहादित्यक्तसंगः मानकषायेन कलुषितः धीरः ! ।
आतापनेन जातः बाहुबली कियन्तं कालम् ॥४४॥

अर्थ:—देखो, बाहुबली श्री ऋषभदेवका पुत्र देहादिक परिग्रहको छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बन गया तो भी मानकषायसे कलुष परिणामरूप होकर कुछ समय तक आतापन योग धारणकर स्थित हो गया, फिर भी सिद्धि नहीं पाई।

भावार्थ:—बाहुबलीसे भरतचक्रवर्तीने विरोध कर युद्ध आरंभ किया, भरतका अपमान हुआ। उसके बाद बाहुबली विरक्त होकर निर्ग्रंथ मुनि बन गए परन्तु कुछ मानकषायकी कलुषता रही कि भरतकी भूमिपर मैं कैसे रहूं? तब कायोत्सर्ग योगसे एक वर्ष तक खड़े रहे परन्तु केवलज्ञान नहीं पाया। पीछे कलुषता मिटी तब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इसलिये कहते हैं कि ऐसे महान पुरुष बड़ी शक्तिके धारकके भी भावशुद्धिके विना सिद्धि नहीं पाई तब अन्यकी क्या बात? इसलिये भावोंको शुद्ध करना चाहिये, यह उपदेश है ॥४४॥

आगे मधुपिंगल मुनिका उदाहरण कहते हैं:—

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो ।
सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥४५॥

१—'कित्तियं' पाठान्तर 'कितियं'

देहादिसंग तज्यो अहो ! पण मलिन मानकषायथी ।
आतापना करता रह्या बाहुबली मुनि क्यां लगी ? ॥४४॥

तन-भोजनादिप्रवृत्तिना तजनार मुनि मधुपिंगले ।
हे भव्यनुत ! निदानथी ज लह्युं नहीं श्रमणत्वने ॥४५॥

मधुपिंगो नाम मुनिः देहाहारादित्यक्तव्यापारः ।
श्रमणत्वं न प्राप्तः निदानमात्रेण भव्यनुत ! ॥४५॥

अर्थः—मधुपिंगलनामका मुनि कैसा हुआ ? देह आहारादिमें व्यापार छोड़कर भी निदानमात्रसे भावश्रमणपनेको प्राप्त नहीं हुआ उसको भव्यजीवोंसे नमने योग्य मुनि तू देख ।

भावार्थः—मधुपिंगल नामके मुनिकी कथा पुराणमें है उसका संक्षेप ऐसे है— इस भरतक्षेत्रके सुरम्यदेशमें पोदनापुरका राजा तृणपिंगलका पुत्र मधुपिंगल था। वह चारणयुगलनगरके राजा सुयोधनकी पुत्री सुलसाके स्वयंवरमें आया था । वहीं साकेतापुरीका राजा सगर आया था । सगरके मंत्रीने मधुपिंगलको कपटसे नया सामुद्रिक शास्त्र बनाकर दोषी बताया कि इसके नेत्र पिंगल हैं (माँजरा है) जो कन्या इसको वरे सो मरणको प्राप्त हो । तब कन्याने सगरके गलेमें वरमाला पहिना दी। मधुपिंगलका वरण नहीं किया, तब मधुपिंगलने विरक्त होकर दीक्षा ले ली ।

फिर कारण पाकर सगरके मंत्रीके कपटको जानकर क्रोधसे निदान किया कि मेरे तपका फल यह हो "अगले जन्ममें सगरके कुलको निर्मूल करूं" उसके पीछे मधुपिंगल मरकर महाकालासुर नामका असुर देव हुआ तब सगरको मंत्री सहित मारनेका उपाय सोचने लगा। इसको क्षीरकदम्ब ब्राह्मणका पुत्र पापी पर्वत मिला, तब उसको पशुओंकी हिंसारूप यज्ञका सहायक बन ऐसा कहा। सगर राजाको यज्ञका उपदेश करके यज्ञ कराया, तेरे यज्ञका मैं सहायक बनूंगा । तब पर्वतने सगरसे यज्ञ कराया पशु होमें। उस पापसे सगर सातवें नरक गया और कालासुर सहायक बना सो यज्ञ करनेवालोंको स्वर्ग जाते दिखाये। ऐसें मधुपिंगल नामक मुनिने निदानसे महाकालासुर बनकर महापाप कमाया, इसलिये आचार्य कहते हैं कि मुनि बन जाने पर भी भाव बिगड़ जावे तो सिद्धिको नही पाता है। इसकी कथा पुराणोंसे विस्तारसे जानो ।

आगे वशिष्ठ मुनिका उदाहरण कहते हैं :—

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण।
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥४६॥

अन्यश्च वसिष्ठमुनिः प्राप्तः दुःखं निदानदोषेण ।
तन्नास्ति वासस्थानं यत्र न भ्रमितः जीव ! ॥४६॥

अर्थः—अन्य और एक वशिष्ठ नामक मुनि निदानके दोषसे दुःखको प्राप्त हुआ इसलिये लोकमें ऐसा वासस्थान नहीं है जिसमें यह जीव जन्ममरणसहित भ्रमणको प्राप्त नहीं हुआ ।

भावार्थः—वशिष्ठ मुनिकी कथा ऐसे है—गंगा और गंधवती दोनों नदियोंका जहाँ संगम हुआ है वहाँ जठरकौशिक नामकी तापसीकी पल्ली थी । वहाँ एक वशिष्ट नामका तपस्वी पंचाग्निसे तप करता था । वहाँ गुणभद्र वीरभद्र नामके दो चारणमुनि आये । उस वशिष्ट तपस्वीको कहा जो तू अज्ञान तप करता है इसमें जीवोंकी हिंसा होती है, तब तपस्वीने प्रत्यक्ष हिंसा देख और विरक्त होकर जैनदीक्षा ले ली, मासोपवाससहित आतापनयोग स्थापित किया, उस तपके माहात्म्यसे सात व्यन्तरदेवोंने आकर कहा, हमको आज्ञा दो सो ही करें, तब वशिष्ठने कहा, 'अभी तो मेरे कुछ प्रयोजन नहीं है, जन्मांतरमें तुम्हें याद करूँगा' । फिर वशिष्ठने मथुरापुरीमें आकर मासोपवाससहित आतापन योग स्थापित किया ।

उसको मथुरापुरीके राजा उग्रसेनने देखकर भक्तिवश यह विचार किया कि मैं इनको पारणा कराऊँगा । नगरमें घोषणा करा दी कि इन मुनिको और कोई आहार न दे । पीछे पारणाके दिन नगरमें आये वहाँ अग्निका उपद्रव देख अंतराय जानकर वापिस चले गये । फिर मासोपवास किया, फिर पारणाके दिन नगरमें आये तब हाथीका क्षोभ देख अंतराय जानकर वापिस चले गये । फिर मासोपवास किया, पीछे पारणाके दिन फिर नगरमें आये । तब राजा जरासिंधका पत्र आया, उसके निमित्तसे राजाका चित्त व्यग्र था इसलिये मुनिको पड़गाहा नहीं, तब अंतराय मान वापिस वनमें जाते हुए लोगोंके वचन सुने—राजा मुनिको आहार दे नहीं और अन्य देनेवालोंको मना कर

वीजाय साधु वसिष्ठ पाम्या दुःखने निदानथी ।
एवुं नथी को स्थान के जे स्थाने जीव भम्यो नथी ॥४६॥

दिए ऐसे लोगोंके वचन सुन राजा पर क्रोध कर निदान किया कि—इस राजाके पुत्र होकर राजाका निग्रह कर मैं राज करूँ, इस तपका मेरे यह फल हो, इसप्रकार निदानसे मरा ।

राजा उग्रसेनकी रानी पद्मावतीके गर्भमें आया, मास पूरे होनेपर जन्म लिया तब इसको क्रूरदृष्टि देखकर काँसीके संदूक में रक्खा और वृत्तान्तके लेख सहित यमुना नदीमें बहा दिया । कौशाम्बीपुरमें मंदोदरी नामकी कलालीने उसको लेकर पुत्रबुद्धिसे पालन किया, कंस नाम रक्खा । जब वह बड़ा हुआ तो बालकोंके साथ खेलते समय सबको दु:ख देने लगा तब मंदोदरीने उलाहनोंके दु:खसे इसको निकाल दिया । फिर यह कंस शौर्यपुर गया वहाँ वसुदेव राजाके पयादा (सेवक) बनकर रहा । पीछे जरासिंध प्रतिनारायणका पत्र आया कि जो पोदनापुरके राजा सिंहरथको बांध लावे उसको आधे राज्यसहित पुत्री विवाहित करदूं । तब वसुदेव वहाँ कंससहित जाकर युद्ध करके उस सिंहरथको बाँध लाया, जरासिंधको सौंप दिया । फिर जरासिंधने जीवंयशा पुत्रीसहित आधा राज्य दिया, तब वसुदेवने कहा–सिंहरथको कंस बांधकर लाया है, इसको दो । फिर जरासिंधने इसका कुल जाननेके लिये मंदोदरीको बुलाकर कुलका निश्चय करके इसको जीवंयशा पुत्री ब्याह दी, तब कंसने मथुरका राज लेकर पिता उग्रसेन राजाको और पद्मावती माताको बंदीखानेमें डाल दिया, पीछे कृष्ण नारायणसे मृत्युको प्राप्त हुआ । इसकी कथा विस्तारपूर्वक उत्तरपुराणादिसे जानिये । इसप्रकार वशिष्ठमुनिने निदानसे सिद्धिको नहीं पाई, इसलिये भावलिंगहीसे सिद्धि है ॥४६॥

आगे कहते हैं कि भावरहित चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता है:—

सो णत्थि तप्पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि ।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ [1]जीव ॥४७॥

सः नास्ति तं प्रदेशः चतुरशीतिलक्षयोनिवासे ।
भावविरतः अपि श्रमणः यत्र न भ्रमितः जीवः ॥४७॥

---

१ पाठान्तर :—जोवो ।

एवो न कोई प्रदेश लख चोराशी योनिनिवासमां ।
रे ! भावरहित श्रवण पण परिभ्रमणने पाम्यो न ज्यां ॥४७॥

अर्थः—इस संसारमें चौरासीलाख योनि उनके निवासमें ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जिसमें इस जीवने द्रव्यलिंगी मुनि होकर भी भावरहित होता हुआ भ्रमण न किया हो ।

भावार्थः—द्रव्यलिंग धारणकर निर्ग्रंथ मुनि बनकर शुद्ध स्वरूपके अनुभवरूप भाव बिना यह जीव चौराशीलाख योनियोंमें भ्रमण ही करता रहा, ऐसा स्थान नहीं रहा जिसमें मरण नहीं हुआ हो ।

आगे चौरासी लाख योनिके भेद कहते हैं—पृथ्वी, अप, तेज, वायु, नित्यनिगोद और इतरनिगोद ये तो सात-सात लाख हैं, सब बयालीस लाख हुए, वनस्पति दस लाख हैं, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय दो-दो लाख हैं, पंचेन्द्रिय तिर्यंच चार लाख, देव चार लाख, नारकी चार लाख, मनुष्य चोदह लाख । इसप्रकार चौरासी लाख हैं । ये जीवोंके उत्पन्न होनेके स्थान हैं ॥४७॥

आगे कहते हैं कि द्रव्यमात्रसे लिंगी नहीं होता है, भावसे होता है :—

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥४८॥

भावेन भवति लिंगी न हि भवति लिंगी द्रव्यमात्रेण ।
तस्मात् कुर्याः भावं किं क्रियते द्रव्यलिंगेन ॥४८॥

अर्थः—लिंगी होता है सो भावलिंग ही से होता है, द्रव्यलिंगसे लिंगी नहीं होता है यह प्रकट है, इसलिये भावलिंग ही धारण करना, द्रव्यलिंगसे क्या सिद्ध होता है ?

भावार्थः—आचार्य कहते हैं कि—इससे अधिक क्या कहा जावे, भावलिंग बिना 'लिंगी' नामही नहीं होता है, क्योंकि यह प्रगट है कि भाव शुद्ध न देखे तब लोग ही कहें कि काहेका मुनि है ? कपटी है । द्रव्यलिंगसे कुछ सिद्धि नहीं है, इसलिये भावलिंग ही धारण करने योग्य है ॥४८॥

छे भावथी लिंगी, न लिंगी द्रव्यलिंगथी होय छे ।
तेथी धरो रे ! भावने, द्रव्यलिंगथी शुं साध्य छे ॥४८॥

आगे इसीको दृढ़ करनेके लिये द्रव्यलिंगधारकको उलटा उपद्रव हुआ, उदाहरण कहते हैं :—

दंडयणयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण ।
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरए ॥४९॥

दण्डकनगरं सकलं दग्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण ।
जिनलिंगेनापि बाहुः पतितः सः रौरवे नरके ॥४९॥

अर्थः—देखो, बाहु नामक मुनि बाह्य जिनलिंग सहित था तो भी अभ्यन्तरके दोषसे समस्त दंडक नामक नगरको दग्ध किया और सप्तम पृथ्वीके रौरव नामक बिलमें गिरा ।

भावार्थः—द्रव्यलिंग धारण कर कुछ तप करे, उससे कुछ सामर्थ्य बढ़े, तब कुछ कारण पाकर क्रोधसे अपना और दूसरेका उपद्रव करनेका कारण बनावे, इसलिये द्रव्यलिंग भावसहित धारण करना ही श्रेष्ठ है और केवल द्रव्यलिंग तो उपद्रवका कारण होता है । इसका उदाहरण बाहु मुनिका बताया । उसकी कथा ऐसे है—

दक्षिणदिशामें कुम्भकारकटक नगरमें दण्डक नामका राजा था । उसके बालक नामका मंत्री था । वहाँ अभिनन्दन आदि पाँचसौ मुनि आये, उनमें एक खंडक नामके मुनि थे । उन्होंने बालक नामके मंत्रीको वादमें जीत लिया, तब मंत्रीने क्रोध करके एक भाँडको मुनिका रूप कराकर राजाकी रानी सुव्रताके साथ क्रीडा करते हुए, राजाको दिखा दिया और कहा कि देखो ! राजाके ऐसी भक्ति है जो अपनी स्त्री भी दिगम्बर को क्रीडा करनेके लिये दे दी है । तब राजाने दिगम्बरों पर क्रोध करके पाँचसौ मुनियोंको घानीमें पिलवाया । वे मुनि उपसर्ग सहकर परमसमाधिसे सिद्धिको प्राप्त हुए ।

फिर उस नगरमें बाहु नामके एक मुनि आये । उनको लोगोंने मना किया कि यहाँका राजा दुष्ट है इसलिये आप नगरमें प्रवेश मत करो । पहिले पाँचसौ मुनियोंको घानीमें पेल दिया है, वह आपका भी वही हाल करेगा । तब लोगोंके वचनोंसे बाहु मुनिको क्रोध उत्पन्न हुआ, अशुभ तैजससमुद्घातसे राजाको मंत्री सहित और सब नगर

दंडकनगर करी दग्ध सघलुं द्वेष अभ्यंतर वडे ।
जिनलिंगथी पण बाहु ए उपज्या नरक रौरव विषे ॥४९॥

को भस्म कर दिया । राजा और मंत्री सातवें नरक रौरव नामक बिलमें गिरे, वही बाहु मुनि भी मरकर रौरव बिलमें गिरे । इसप्रकार द्रव्यलिंगमें भावके दोषसे उपद्रव होते हैं, इसलिये भावलिंगका प्रधान उपदेश है ।।४६।।

आगे इस ही अर्थपर दीपायन मुनिका उदाहरण कहते हैं:—

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो ।
दीवायणो त्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ।।५०।।

अपरः अपि द्रव्यश्रमणः दर्शनवरज्ञानचरणप्रभ्रष्टः ।
दीपायन इति नाम अनन्तसांसारिकः जातः ।।५०।।

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जैसे पहिले बाहु मुनि कहा वैसे ही और भी दीपायन नामका द्रव्यश्रमण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसे भ्रष्ट होकर अनन्तसंसारी हुआ है ।

भावार्थः—पहिले की तरह इसकी कथा संक्षेपसे इसप्रकार है— नौवें बलभद्रने श्रीनेमिनाथतीर्थंकरसे पूछा कि हे स्वामिन् ! यह द्वारकापुरी समुद्रमें है इसकी स्थिति कितने समय तक है ? तब भगवान ने कहा कि रोहिणी का भाई दीपायन तेरा मामा बारह वर्ष पीछे मद्यके निमित्तसे क्रोध करके इस पुरीको दग्ध करेगा । इसप्रकार भगवानके वचन सुन निश्चयकर दीपायन दीक्षा लेकर पूर्वदेशमें चला गया । बारह वर्ष व्यतीत करनेके लिये तप करना शुरु किया और बलभद्र नारायणने द्वारिकामें मद्य-निषेधकी घोषणा करा दी । मद्यके बरतन तथा उसकी सामग्री मद्य बनानेवालोंने बाहर पर्वतादिमें फेंक दी । तब बरतनोंकी मदिरा तथा मद्यकी सामग्री जलके गर्तोंमें फैल गई ।

फिर बारह वर्ष बीते जानकर दीपायन द्वारिका आकर नगरके बाहर आतापन-योग धारणकर स्थित हुए । भगवानके वचनकी प्रतीति न रखी । पीछे शंभवकुमारादि क्रीड़ा करते हुऐ प्यासे होकर कुंडोंमें जल जानकर पी गये । उस मद्यके निमित्तसे कुमार उन्मत्त हो गये । वहाँ दीपायन मुनिको खड़ा देखकर कहने लगे—'यह द्वारिकाको भस्म करनेवाला दीपायन है' इसप्रकार कहकर उसको पाषाणादिकसे मारने लगे । तब

वली ए रीते बीजा दरवसाधु द्वीपायन नामना ।
नरज्ञानदर्शनचरणभ्रष्ट, अनंतसंसारी थया ।।५०।।

दीपायन भूमिपर गिर पड़ा, उसको क्रोध उत्पन्न हो गया, उसके निमित्तसे द्वारिका जलकर भस्म हो गई। इसप्रकार दीपायन भावशुद्धिके बिना अनन्त संसारी हुआ ॥५०॥

आगे भावशुद्धिसहित मुनि हुए उन्होंने सिद्धि पाई, उसका उदाहरण कहते हैं:—

भावसमणो य धीरो जुवईजणवेढिओ विसुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो परीत्तसंसारिओ जादो ॥५१॥

भावश्रमणश्च धीरः युवतिजनवेष्टितः विशुद्धमतिः।
नाम्ना शिवकुमारः परित्यक्तसांसारिकः जातः ॥५१॥

अर्थः—शिवकुमार नामक भावश्रमण स्त्रीजनोंसे वेष्टित होते हुए भी विशुद्ध-बुद्धिका धारक धीर संसारको त्यागनेवाला हुआ।

भावार्थः—शिवकुमारने भावकी शुद्धतासे ब्रह्मस्वर्गमें विद्युन्माली देव होकर वहाँसे चय जंबूस्वामी केवली होकर मोक्ष प्राप्त किया। उसकी कथा इसप्रकार है:—

इस जम्बूद्वीपके पूर्व विदेहमें पुष्कलावती देशके वीतशोकपुरमें महापद्म राजा वनमाला रानीके शिवकुमार नामक पुत्र हुआ। वह एक दिन मित्र सहित वनक्रीडा करके नगरमें आ रहा था। उसने मार्गमें लोगोंको पूजाकी सामग्री ले जाते हुए देखा। तब मित्रको पूछा—ये कहाँ जा रहे हैं ? मित्रने कहा, ये सागरदत्त नामक ऋद्धिधारी मुनिको पूजनेके लिये वनमें जा रहे हैं। तब शिवकुमारने मुनिके पास जाकर अपना पूर्वभव सुन संसारसे विरक्त हो दीक्षा लेली और दृढ़धर नामक श्रावकके घर प्रासुक आहार लिया। उसके बाद स्त्रियोंके निकट असिधाराव्रत परम ब्रह्मचर्य पालते हुए बारह वर्ष तक तप कर अन्तमें सन्यास मरण करके ब्रह्मकल्पमें विद्युन्माली देव हुआ। वहाँसे चयकर जम्बूकुमार हुआ सो दीक्षा ले केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्ष गया। इसप्रकार शिवकुमार भावमुनिने मोक्ष प्राप्त किया। इसकी विस्तार सहित कथा जम्बूचरित्रमें है, वहाँसे जानिये। इसप्रकार भावलिंग प्रधान है ॥५१॥

आगे शास्त्र भी पढ़े और सम्यग्दर्शनादिरूप भाव विशुद्ध न हो तो सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता, उसका उदाहरण अभव्यसेनका कहते हैं:—

बहुयुवतिजनवेष्टित छतां पण धीर शुद्धमति अहा ! ।
ए भावसाधु शिवकुमार परीतसंसारी थया ॥५१॥

केवलिजिणपण्णत्तं[1] एयादसअंग सयलसुयणाणं ।
पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥५२॥

केवलिजिनप्रज्ञप्तं एकादशांगं सकलश्रुतज्ञानम् ।
पठितः अभव्यसेनः न भावश्रमणत्वं प्राप्तः ॥५२॥

अर्थः—अभव्यसेन नामके द्रव्यलिंगी मुनिने केवली भगवान्‌से उपदिष्ट ग्यारह अंग पढ़े और ग्यारह अंगको 'पूर्ण श्रुतज्ञान' भी कहते हैं, क्योंकि इतने पढ़े हुएको अर्थ अपेक्षा 'पूर्ण श्रुतज्ञान' भी हो जाता है। अभव्यसेन इतना पढ़ा, तो भी भावश्रमणपनेको प्राप्त न हुआ।

भावार्थः—यहाँ ऐसा आशय है कि कोई जानेगा बाह्यक्रिया मात्रसे तो सिद्धि नहीं है और शास्त्रके पढ़नेसे तो सिद्धि है तो इसप्रकार जानना भी सत्य नहीं है, क्योंकि शास्त्र पढ़ने मात्रसे भी सिद्धि नहीं है–अभव्यसेन द्रव्यमुनि भी हुआ और ग्यारह अंग भी पढ़े तो भी जिनवचनकी प्रतीति न हुई, इसलिये भावलिंग नहीं पाया। अभव्यसेनकी कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है, वहाँसे जानिये ॥५२॥

आगे शास्त्र पढ़े बिना शिवभूति मुनिने तुषमाषको घोखते ही भावकी विशुद्धिको पाकर मोक्ष प्राप्त किया। उसका उदाहरण कहते हैं:—

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥५३॥

१—मुद्रित संस्कृत सटीक प्रतिमें यह गाथा इस प्रकार है:—

अंगाइं दस य दुण्णि य चउदसपुव्वाइं सयलसुयणाणं ।
पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥५२॥
अंगानि दश च द्वे च चतुर्दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानम् ।
पठितश्च अभव्यसेनः न भावश्रमणत्वं प्राप्तः ॥५२॥

* *

जिनवरकथित एकादशांगमयी सकल श्रुतज्ञानने ।
भणवा छतांय अभव्यसेन न प्राप्त भावमुनित्वने ॥५२॥

शिवभूतिनामक भावशुद्ध महानुभाव मुनिवरा ।
'तुषमाष' पदने गोखता पाम्या प्रगट सर्वज्ञता ॥५३॥

तुषमाषं घोषयन् भावविशुद्धः महानुभावश्च ।
नाम्ना च शिवभूतिः केवलज्ञानी स्फुटं जातः ॥५३॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि शिवभूति मुनिने शास्त्र नहीं पढ़े थे, परन्तु तुष माष ऐसे शब्दको रटते हुए भावोंकी विशुद्धतासे महानुभाव होकर केवलज्ञान पाया, यह प्रकट है ।

भावार्थः—कोई जानेगा कि शास्त्र पढ़नेसे ही सिद्धि है तो इसप्रकार भी नहीं है । शिवभूति मुनिने तुषमाष ऐसा शब्दमात्र रटनेसे ही भावोंकी विशुद्धतासे केवलज्ञान पाया । इसकी कथा इसप्रकार है—कोई शिवभूति नामक मुनि था । उसने गुरुके पास शास्त्र पढ़े परन्तु धारणा नहीं हुई । तब गुरुने यह शब्द पढ़ाया कि "मा रुष मा रुष" सो इस शब्दको घोखने लगा । इसका अर्थ यह है कि रोष मत करे तोष मत करे अर्थात् रागद्वेष मत करे, इससे सर्व सिद्ध है ।

फिर यह भी शुद्ध याद न रहा तब 'तुषमाष' ऐसा पाठ घोखने लगा, दोनों पदोंके 'रुकार और[1] तुकार' भूल गये और 'तुष माष' इसप्रकार याद रह गया । उसको घोखते हुए विचरने लगे । तब कोई एक स्त्री उड़दकी दाल धो रही थी उसको किसीने पूछा, तू क्या कर रही है ? उसने कहा—तुष और माष भिन्न भिन्न कर रही हूं । तब यह सुनकर मुनिने 'तुष माष' शब्दका भावार्थ यह जाना कि यह शरीर तो तुष है और यह आत्मा माष है, दोनों भिन्न भिन्न हैं । इसप्रकार भाव जानकर आत्माका अनुभव करने लगा । चिन्मात्र शुद्ध आत्माको जानकर उसमें लीन हुआ, तब घाति कर्मका नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया । इसप्रकार भावोंकी विशुद्धतासे सिद्धि हुई जानकर भाव शुद्ध करना, यह उपदेश है ॥५३॥

आगे इसी अर्थको सामान्यरूपसे कहते हैं :—

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण ।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥५४॥

१—माकार, ऐसा पाठ सुसंगत है ।

नग्नत्व तो छे भावथी; शुं नग्न बाहिर-लिंगथी ? ।
रे ! नाश कर्मसमूह केरो होय भावथी द्रव्यथी ॥५४॥

भावेन भवति नग्नः बहिर्लिंगेन किं च नग्नेन ।
कर्मप्रकृतीनां निकरं नाशयति भावेन द्रव्येण ॥५४॥

अर्थः—भावसे नग्न होता है, बाह्य नग्नलिंगसे क्या कार्य होता है ? अर्थात् नहीं होता है, क्योंकि भावसहित द्रव्यलिंगसे कर्मप्रकृतिके समूहका नाश होता है ।

भावार्थः—आत्माके कर्मप्रकृतिके नाशसे निर्जरा तथा मोक्ष होना कार्य है । यह कार्य द्रव्यलिंगसे नहीं होता । भावसहित द्रव्यलिंग होनेपर कर्मकी निर्जरा नामक कार्य होता है । केवल द्रव्यलिंगसे तो नहीं होता है, इसलिए भावसहित द्रव्यलिंग धारण करनेका यह उपदेश है ॥५४॥

आगे इसी अर्थको दृढ़ करते हैं:—

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं ।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥५५॥

नग्नत्वं अकार्यं भावरहितं जिनैः प्रज्ञप्तम् ।
इति ज्ञात्वा नित्यं भावयेः आत्मानं धीर ! ॥५५॥

अर्थः—भावरहित नग्नत्व अकार्य है, कुछ कार्यकारी नहीं है । ऐसा जिन भगवान्ने कहा है । इसप्रकार जानकर हे धीर ! हे धैर्यवान् मुने ! निरन्तर नित्य आत्माकी ही भावना कर ।

भावार्थः—आत्माकी भावना बिना केवल नग्नत्व कुछ कार्य करनेवाला नहीं है, इसलिये चिदानन्दस्वरूप आत्माकी ही भावना निरन्तर करना, आत्माकी भावना सहित नग्नत्व सफल होता है ॥५५॥

आगे शिष्य पूछता है कि भावलिंगको प्रधान कर निरूपण किया वह भावलिंग कैसा है ? इसका समाधान करनेके लिये भावलिंगका निरूपण करते हैं:—

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥५६॥

नग्नत्व भावविहीन भाख्युं अकार्य देव जिनेश्वरे ।
इम जाणीने हे धीर ! नित्ये भाव तुं निज आत्मने ॥५५॥
देहादिसंगविहीन छे, वर्ज्या सकल मानादि छे ।
आत्मा विषे रत आत्म छे, ते भावलिंगी श्रमण छे ॥५६॥

देहादिसंगरहितः मानकषायैः सकलपरित्यक्तः ।
आत्मा आत्मनि रतः स भावलिंगी भवेत् साधुः ।।५६।।

अर्थः—भावलिंगी साधु ऐसा होता है—देहादिक परिग्रहोंसे रहित होता है तथा मान कषायसे रहित होता है और आत्मामें लीन होता है, वही आत्मा भावलिंगी है।

भावार्थः—आत्माके स्वाभाविक परिणामको 'भाव' कहते हैं, उस–रूप लिंग (चिह्न), लक्षण तथा रूप हो वह भावलिंग है। आत्मा अमूर्तिक चेतनारूप है, उसका परिणाम दर्शन ज्ञान है। उसमें कर्मके निमित्तसे (–पराश्रय करनेसे) बाह्य तो शरीरादिक मूर्तिक पदार्थका संबंध है और अंतरंग मिथ्यात्व और रागद्वेष आदि कषायोंका भाव है इसलिये कहते हैं किः—

बाह्य तो देहादिक परिग्रहसे रहित और अंतरंग रागादिक परिणाममें अहंकाररूप मानकषाय, परभावोंमें अपनापन मानना इस भावसे रहित हो और अपने दर्शनज्ञानरूप चेतनाभावमें लीन हो वह 'भावलिंग' है जिसको इसप्रकारके भाव हों वह भावलिंगी साधु है ।।५६।।

आगे इसी अर्थको स्पष्ट कर कहते हैंः—

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ।।५७।।

ममत्वं परिवर्जामि निर्ममत्वमुपस्थितः ।
आलंबनं च मे आत्मा अवशेषानि व्युत्सृजामि ।।५७।।

अर्थः—भावलिंगी मुनिके इसप्रकारके भाव होते हैं—मैं परद्रव्य और परभावोंसे ममत्व (अपना मानना) को छोड़ता हूँ और मेरा निजभाव ममत्व रहित है उसको अंगीकार कर स्थित हूं। अब मुझे आत्माका ही अवलंबन है, अन्य सभी को छोड़ता हूं।

भावार्थः—सब परद्रव्योंका आलम्बन छोड़कर अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हो ऐसा 'भावलिंग' है ।।५७।।

परिवर्जुं छुं हुं ममत्व, निर्मम भावमां स्थित हुं रहुं ।
अवलंबुं छुं मुज आत्मने, अवशेष सर्व हुं परिहरुं ।।५७।।

आगे कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन, संयम, त्याग, संवर और योग ये भाव भावलिंगी मुनिके होते हैं, ये अनेक हैं तो भी आत्मा ही है, इसलिये इनसे भी अभेदका अनुभव करता है :—

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥५८॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥५८॥

अर्थः—भावलिंगी मुनि विचारते हैं कि—मेरे ज्ञानभाव प्रकट है उसमें आत्माकी ही भावना है, ज्ञान कोई भिन्न वस्तु नहीं है, ज्ञान है वह आत्मा ही है, इसप्रकार ही दर्शनमें भी आत्मा ही है। ज्ञानमें स्थिर रहना चारित्र है, इसमें भी आत्मा ही है। प्रत्याख्यान [अर्थात् शुद्धनिश्चयनयके विषयभूत स्वद्रव्यके आलंबनके बलसे] आगामी परद्रव्यका सम्बन्ध छोड़ना है, इस भावमें भी आत्मा ही है, 'संवर' ज्ञानरूप रहना और परद्रव्यके भावरूप न परिणमना है इस भावमें भी मेरा आत्मा ही है और 'योग' का अर्थ एकाग्रचितारूप समाधि-ध्यान है इस भावमें भी मेरा आत्मा ही है।

भावार्थः—ज्ञानादिक कुछ भिन्न पदार्थ तो हैं नहीं, आत्माके ही भाव हैं, संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजनके भेदसे भिन्न कहते हैं, वहां अभेददृष्टिसे देखें तो ये सब भाव आत्मा ही हैं इसलिये भावलिंगी मुनिके अभेद अनुभवमें विकल्प नहीं है, अतः निर्विकल्प अनुभवसे सिद्धि है यह जानकर इसप्रकार करता है ॥५८॥

आगे इसी अर्थको दृढ़ करते हुये कहते हैं :—

* अनुष्टुप् श्लोक *

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥

मुज ज्ञानमां आत्मा खरे, दर्शन-चरितमां आतमा ।
पच्चखाणमां आत्मा ज, संवर-योगमां पण आतमा ॥५८॥
मारो सुशाश्वत एक दर्शनज्ञानलक्षण जीव छे ।
बाकी बधा संयोगलक्षण भाव मुजथी बाह्य छे ॥५९॥

एकः मे शाश्वतः आत्मा ज्ञानदर्शन लक्षणः ।
शेषाः मे बाह्याः भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ।।५९।।

अर्थः—भावलिंगी मुनि विचारता है कि—ज्ञान, दर्शन, लक्षणरूप और शाश्वत अर्थात् नित्य ऐसा आत्मा है वही एक मेरा है। शेष भाव हैं वे मुझसे बाह्य हैं, वे सब ही संयोगस्वरूप हैं, परद्रव्य हैं।

भावार्थः—ज्ञानदर्शनस्वरूप नित्य एक आत्मा है वह तो मेरा रूप है, एक स्वरूप है और अन्य परद्रव्य हैं वे मुझसे बाह्य हैं, सब संयोगस्वरूप हैं, भिन्न हैं। यह भावना भावलिंगी मुनिके है ।।५९।।

आगे कहते हैं कि जो मोक्ष चाहे वह इसप्रकार आत्माकी भावना करेः—

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव ।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं ।।६०।।

भावय भावशुद्धं आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव ।
लघु चतुर्गति च्युत्वा यदि इच्छसि शाश्वतं सौख्यम् ।।६०।।

अर्थ—हे मुनिजनों ! यदि चारगतिरूप संसारसे छूटकर शीघ्र शाश्वत सुखरूप मोक्ष तुम चाहो तो भावसे शुद्ध जैसे हो वैसे अतिशय विशुद्ध निर्मल आत्माको भावो ।

भावार्थः—यदि संसारसे निवृत्त होकर मोक्ष चाहो तो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित शुद्ध आत्माको भावो इसप्रकार उपदेश है ।।६०।।

आगे कहते हैं कि जो आत्माको भावे वह इसके स्वभावको जानकर भावे, वही मोक्ष पाता है :—

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो ।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ।।६१।।

तुं शुद्ध भावे भाव रे ! सुविशुद्ध निर्मल आत्मने ।
जो शीघ्र चउगतिमुक्त थई इच्छे सुशाश्वत सौख्यने ।।६०।।

जे जीव जीवस्वभावने भावे, सुभावे परिणमे ।
जर-मरणनो करी नाश ते निश्चय लहे निर्वाणने ।।६१।।

यः जीवः भावयन् जीवस्वभावं सुभावसंयुक्तः ।
सः जरामरणविनाशं करोति स्फुटं लभते निर्वाणम् ॥६१॥

अर्थः—जो भव्यपुरुष जीवको भाता हुआ भले भावसे संयुक्त हुआ जीवके स्वभावको जानकर भावे, वह जरा–मरणका विनाश कर प्रगट निर्वाणको प्राप्त करता है ।

भावार्थः—'जीव' ऐसा नाम तो लोकमें प्रसिद्ध है, परन्तु इसका स्वभाव कैसा है ? इसप्रकार लोगोंके यथार्थ ज्ञान नहीं है और मतांतरके दोषसे इसका स्वरूप विपर्यय हो रहा है । इसलिये इसका यथार्थ स्वरूप जानकर भावना करते हैं वे संसारसे निर्वृत्त होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥६१॥

आगे जीवका स्वरूप सर्वज्ञदेवने कहा है वह कहते हैं:—

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ ।
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकरणणिम्मित्तो ॥६२॥

जीवः जिनप्रज्ञप्तः ज्ञानस्वभावः च चेतनासहितः ।
सः जीवः ज्ञातव्यः कर्मक्षयकरणनिमित्तः ॥६२॥

अर्थः—जिन सर्वज्ञदेवने जीवका स्वरूप इसप्रकार कहा है—जीव है वह चेतनासहित है और ज्ञानस्वभाव है, इसप्रकार जीवकी भावना करना, जो कर्मके क्षयके निमित्त जानना चाहिये ।

भावार्थः—जीवका चेतनासहित विशेषण करनेसे तो चार्वाक जीवको चेतनासहित नहीं मानता है उसका निराकरण है । ज्ञानस्वभाव विशेषणसे सांख्यमती ज्ञानको प्रधान धर्म मानता है, जीवको उदासीन नित्य चेतनारूप मानता है उसका निराकरण है और नैयायिकमती गुण-गुणीका भेद मानकर ज्ञानको सदा भिन्न मानता है उसका निराकरण है । ऐसे जीवके स्वरूपको भाना कर्मके क्षयके निमित्त होता है, अन्य प्रकार मिथ्या भाव है ॥६२॥

छे जीव ज्ञानस्वभाव ने चैतन्ययुत-भाख्युं जिने ।
ए जीव छे ज्ञातव्य, कर्मविनाशकरणनिमित्त जे ॥६२॥

आगे कहते हैं कि जो पुरुष जीवका अस्तित्व मानते हैं वे *सिद्ध होते हैं:—

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ ।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥६३॥

येषां जीवस्वभावः नास्ति अभावः च सर्वथा तत्र ।
ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धाः वचोगोचरातीताः ॥६३॥

अर्थः—जिन भव्यजीवोंके जीवनामक पदार्थ सद्भावरूप है और सर्वथा अभावरूप नहीं है, वे भव्यजीव देहसे भिन्न तथा वचनगोचरातीत सिद्ध होते हैं ।

भावार्थः—जीव द्रव्यपर्यायस्वरूप है. कथंचित् अस्तिस्वरूप है कथंचित् नास्ति-स्वरूप है । पर्याय अनित्य है, इस जीवके कर्मके निमित्तसे मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक पर्याय होती हैं, इसका कदाचित् अभाव देखकर जीवका सर्वथा अभाव मानते हैं । उनको सम्बोधन करनेके लिये ऐसा कहा है कि जीवका द्रव्यदृष्टिसे नित्य स्वभाव है । पर्यायका अभाव होनेपर सर्वथा अभाव नहीं मानता है वह देहसे भिन्न होकर सिद्ध परमात्मा होता है, वे सिद्ध वचनगोचर नहीं हैं । जो देहको नष्ट होते देखकर जीवका सर्वथा नाश मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं, वे सिद्ध—परमात्मा कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं होते हैं ॥६३॥

आगे कहते हैं कि जो जीवका स्वरूप वचनके अगोचर है और अनुभवगम्य है वह इसप्रकार है :—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥६४॥

अरसमरूपमगंधं अव्यक्तं चेतनागुणं अशब्दम् ।
जानीहि अलिंगग्रहणं जीवं अनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥६४॥

---

* सिद्ध-मुक्त-परमात्मदशाको प्राप्त ।

'सत्' होय जीवस्वभाव ने न 'असत्' सरवथा जेमने ।
ते देहविरहित वचनविषयातीत सिद्धपणुं लहे ॥६३॥
जीव चेतनागुण, अरसरूप, अगंधशब्द, अव्यक्त छे ।
वळी लिंगग्रहणविहीन छे, संस्थान भाख्युं न तेहने ॥६४॥

अर्थः—हे भव्य ! तू जीवका स्वरूप इसप्रकार जान—कैसा है ? अरस अर्थात् पाँच प्रकारके खट्टे, मीठे, कडुवे, कषायले और खारे रससे रहित है। काला, पीला, लाल, सफेद और हरा इसप्रकार अरूप अर्थात् पाँच प्रकारके रूपसे रहित है। दो प्रकारकी गंधसे रहित है। अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियोंके गोचर व्यक्त नहीं है। चेतना गुण-वाला है, अशब्द अर्थात् शब्दरहित है। अलिंगग्रहण अर्थात् जिसका कोई चिह्न इन्द्रिय-द्वारा ग्रहणमें नहीं आता है अनिर्दिष्ट संस्थान अर्थात् चोकोर गोल आदि कुछ आकार उसका कहा नहीं जाता है, इसप्रकार जीव जानो।

भावार्थः—रस, रूप, गंध, शब्द ये तो पुद्गलके गुण हैं इनका निषेधरूप जीव कहा. अव्यक्त अलिंगग्रहण अनिर्दिष्टसंस्थान कहा, इसप्रकार ये भी पुद्गलके स्वभावकी अपेक्षासे निषेधरूप ही जीव कहा और चेतना गुण कहा तो यह जीवका विधिरूप कहा। निषेध अपेक्षा तो वचनके अगोचर जानना और विधि अपेक्षा स्वसंवेदन गोचर जानना। इसप्रकार जीवका स्वरूप जानकर अनुभवगोचर करना। यह गाथा समय-सारमें ४९. प्रवचनसारमें १७२, नियमसारमें ४६, पंचास्तिकायमें १२७, धवला टीका पु० ३ पृ० २, लघु द्रव्यसंग्रह गाथा ५ आदिमें भी है। इसका व्याख्यान टीकाकारने विशेष कहा है वह वहाँसे जानना चाहिये ॥६४॥

आगे जीवका स्वभाव ज्ञानस्वरूप भावना कहा वह ज्ञान कितने प्रकारका भाना यह कहते हैं:—

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं।
भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो[१] होइ ॥६५॥

भावय पंचप्रकारं ज्ञानं अज्ञाननाशनं शीघ्रम्।
भावनाभावितसहितः दिवशिवसुखभाजन भवति ॥६५॥

अर्थः—हे भव्यजन ! तू यह ज्ञान पाँच प्रकारसे भा, कैसा है यह ज्ञान ? अज्ञानका नाश करनेवाला है, कैसा होकर भा ? भावनासे भावित जो भाव उस सहित भा, शीघ्र भा इससे तू दिव (स्वर्ग) और शिव (मोक्ष)का पात्र होगा।

---

[१] 'भायेण' पाठान्तर 'भायणो'

तुं भाव झट अज्ञाननाशन ज्ञान पंचप्रकार रे!।
ए भावनापरिणत स्वर्ग-शिवसौख्यनुं भाजन बने ॥६५॥

भावार्थः—यद्यपि ज्ञान जाननेके स्वभावसे एक प्रकारका है तो भी कर्मके क्षयोपशम और क्षयकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है। उसमें मिथ्यात्वभावकी अपेक्षासे मति, श्रुत और अवधि ये तीन मिथ्याज्ञान भी कहलाते हैं इसलिये मिथ्याज्ञानका अभाव करनेके लिए मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानस्वरूप पाँच प्रकारका सम्यग्ज्ञान जानकर उनको भाना। परमार्थ विचारसे ज्ञान एकही प्रकारका है। यह ज्ञानकी भावना स्वर्ग–मोक्षकी दाता है ॥६५॥

आगे कहते हैं कि पढ़ना सुनना भी भाव विना कुछ नहीं है:—

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण।
भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥६६॥

पठितेनापि किं क्रियते किं वा श्रुतेन भावरहितेन।
भावः कारणभूतः सागारानगारभूतानाम् ॥६६॥

अर्थः—भावरहित पढ़ने सुननेसे क्या होता है? अर्थात् कुछ भी कार्यकारी नहीं है, इसलिये श्रावकत्व तथा मुनित्व इनका कारणभूत भाव ही है।

भावार्थः—मोक्षमार्गमें एक देश, सर्वदेश व्रतोंकी प्रवृत्तिरूप मुनि–श्रावकपना है, उन दोनोंका कारणभूत निश्चय सम्यग्दर्शनादिक भाव हैं। भाव बिना व्रतक्रियाकी कथनी कुछ कार्यकारी नहीं है, इसलिये ऐसा उपदेश है कि भाव बिना पढ़ने–सुनने आदिसे क्या होता है? केवल खेदमात्र है, इसलिये भावसहित जो करो वह सफल है। यहाँ ऐसा आशय है कि कोई जाने कि–पढ़ना–सुनना ही ज्ञान है तो इसप्रकार नहीं है, पढ़कर सुनकर आपको ज्ञानस्वरूप जानकर अनुभव करे तब भाव जाना जाता है इसलिये बारबार भावनासे भाव लगाने पर ही सिद्धि है ॥६६॥

आगे कहते हैं कि यदि बाह्य नग्नपने से ही सिद्धि हो तो नग्न तो सब ही होते हैं-

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥६७॥

रे! पठन तेम ज श्रवण भावविहीनथी शुं सधाय छे।
सागार–अणगारत्वना कारणस्वरूपे भाव छे ॥६६॥
छे नग्न तो तिर्यंच–नारक सर्व जीवो द्रव्यथी।
परिणाम छे नहि शुद्ध ज्यां त्यां भावश्रमणपणुं नथी ॥६७॥

द्रव्येण सकला नग्नाः नारकतिर्यंचश्च सकलसंघाताः।
परिणामेन अशुद्धाः न भावश्रमणत्वं प्राप्तः ॥६७॥

अर्थः—द्रव्यसे बाह्यमें तो सब प्राणी नग्न होते हैं। नारकी जीव और तिर्यंच जीव तो निरन्तर वस्त्रादिसे रहित नग्न ही रहते हैं। 'सकलसंघात' कहनेसे अन्य मनुष्य आदि भी कारण पाकर नग्न होते हैं तो भी परिणामोंसे अशुद्ध हैं, इसलिये भावश्रमणपनेको प्राप्त नहीं हुए।

भावार्थः—यदि नग्न रहनेसे ही मुनिलिंग हो तो नारकी तिर्यंच आदि सब जीवसमूह नग्न रहते हैं वे सब ही मुनि ठहरे इसलिये मुनिपना तो भाव शुद्ध होनेपर ही होता है। अशुद्ध भाव होने पर द्रव्यसे नग्न भी हो तो भावमुनिपना नहीं पाता है ॥६७॥

आगे इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिए केवल नग्नपनेकी निष्फलता दिखाते हैं:—

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥६८॥

नग्नः प्राप्नोति दुःखं नग्नः संसारसागरे भ्रमति।
नग्नः न लभते बोधिं जिनभावनावर्जितः सुचिरं ॥६८॥

अर्थः—नग्न सदा दुःख पाता है, नग्न सदा संसार समुद्रमें भ्रमण करता है और नग्न बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप स्वानुभवको नहीं पाता है, वैसा है वह नग्न जो जिनभावनासे रहित है।

भावार्थः—'जिनभावना' जो सम्यग्दर्शन-भावना उससे रहित जो जीव है वह नग्न भी रहे तो बोधि जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गको नहीं पाता है। इसीलिये संसारसमुद्रमें भ्रमण करता हुआ संसारमें ही दुःखको पाता है तथा वर्तमानमें भी जो पुरुष नग्न होता है वह दुःखहीको पाता है। सुख तो भावमुनि नग्न हो वे ही पाते हैं ॥६८॥

आगे इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं जो द्रव्यनग्न होकर मुनि कहलावे उसका अपयश होता है:—

ते नग्न पामे दुःखने, ते नग्न चिर भवमां भमे।
ते नग्न बोधि लहे नहीं, जिनभावना नहि जेहने ॥६८॥

अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण ।
पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥६९॥

अयशसां भाजनेन च किं ते नग्नेन पापमलिनेन ।
पैशून्यहासमत्सरमायाबहुलेन श्रमणेन ॥६८॥

अर्थः—हे मुने ! तेरे ऐसे नग्नपनेसे तथा मुनिपनेसे क्या साध्य है ? कैसा है-**पैशून्य** अर्थात् दूसरेका दोष कहनेका स्वभाव, **हास्य** अर्थात् दूसरेकी हँसी करना, **मत्सर** अर्थात् अपने बराबर वालेसे ईर्ष्या रखकर दूसरेको नीचा करनेकी बुद्धि, **माया** अर्थात् कुटिल परिणाम, ये भाव उसमें प्रचुरतासे पाये जाते हैं, इसीलिये पापसे मलिन है और अयश अर्थात् अपकीर्तिका भाजन है ।

भावार्थः—पैशून्य आदि पापोंसे मलिन इसप्रकार नग्नस्वरूप मुनिपनेसे क्या साध्य है ? उलटा अपकीर्तनका भाजन होकर व्यवहार धर्मकी हँसी करानेवाला होता है, इसलिये भावलिंगी होना योग्य है ॥६९॥

आगे इसप्रकार भावलिंगी होनेका उपदेश करते हैं:—

पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो ।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ ॥७०॥

प्रकटय जिनवरलिंगं अभ्यन्तरभावदोषपरिशुद्धः ।
भावमलेन च जीवः बाह्यसंगे मलिनयति ॥७०॥

अर्थः—हे आत्मन् ! तू अभ्यन्तर भावदोषोंसे अत्यन्त शुद्ध ऐसा जिनवरलिंग अर्थात् बाह्य निर्ग्रंथलिंग प्रगट कर, भावशुद्धिके बिना द्रव्यलिंग बिगड़ जायेगा, क्योंकि भावमलिन जीव बाह्य परिग्रहमें मलिन होता है ।

भावार्थः—यदि भाव शुद्धकर द्रव्यलिंग धारण करे तो भ्रष्ट न हो और भाव मलिन हो तो बाह्य परिग्रहकी संगतिसे द्रव्यलिंग भी बिगाड़े इसलिये प्रधानरूपसे

शुं साध्य तारे अयशभाजन पापयुत नग्नत्वथी ।
–बहु हास्य-मत्सर-पिशुनता-मायाभर्या श्रमणत्वथी ॥६९॥
थई शुद्ध आंतर-भावमलविण, प्रगट कर जिनलिंगने ।
जीव भावमलथी मलिन बाहिर-संगमां मलिनित बने ॥७०॥

भावलिंगहीका उपदेश है, विशुद्ध भावोंके बिना बाह्यभेष धारण करना योग्य नहीं है ।।७०।।

आगे कहते हैं कि जो भावरहित नग्न मुनि है वह हास्यका स्थान है:--

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य [1]उच्छुफुल्लसमो ।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ।।७१।।

धर्मे निप्रवासः दोषावासः च इक्षुपुष्पसमः ।
निष्फलनिर्गुणकारः नटश्रमणः नग्नरूपेण ।।७१।।

अर्थः—धर्म अर्थात् अपना स्वभाव तथा दसलक्षणस्वरूपमें जिसका वास नहीं है वह जीव दोषोंका आवास है अथवा जिसमें दोष रहते हैं वह इक्षुके फूलके समान है, जिसके न तो कुछ फल ही लगते हैं और न उसमें गंधादिक गुण ही पाये जाते है। इसलिये ऐसा मुनि तो नग्नरूप करके नटश्रमण अर्थात् नाचनेवाले भांडके स्वांगके समान है।

भावार्थः—जिसके धर्मकी वासना नहीं है उसमें क्रोधादिक दोष ही रहते हैं। यदि वह दिगम्बर रूप धारण करे तो वह मुनि इक्षुके फूलके समान निगुण और निष्फल है, ऐसे मुनिके मोक्षरूप फल नहीं लगते हैं। सम्यग्ज्ञानादिक गुण जिसमें नहीं हैं वह नग्न होने पर भांड-जैसा स्वांग दीखता है। भांड भी नाचे तब श्रृङ्गारादिक करके नाचे तो शोभा पावे, नग्न होकर नाचे तब हास्यको पावे, वैसे ही केवल द्रव्यनग्न हास्यका स्थान है ।।७१।।

आगे इसी अर्थके समर्थनरूप कहते हैं कि—द्रव्यलिंगी बोधि-समाधि जैसी जिनमार्गमें कही है वैसी नहीं पाता है:—

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा ।
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ।।७२।।

---

१. इच्छु ' पाठान्तर ' उच्छु '

नग्नत्वधर पण धर्ममां नहि वास, दोषावास छे ।
ते इक्षुफूलसमान निष्फल-निर्गुणी नटश्रमण छे ।।७१।।

जे रागयुत जिनभावनाविरहित-दरवनिर्ग्रंथ छे ।
पामे न बोधि-समाधिने ते विमल जिनशासन विषे ।।७२।।

ये रागसंगयुक्ताः जिनभावनारहितद्रव्यनिर्ग्रंथाः ।
न लभंते ते समाधिं बोधिं जिनशासने विमले ।।७२।।

अर्थः—जो मुनि राग अर्थात् अभ्यंतर परद्रव्यसे प्रीति, वही हुआ संग अर्थात् परिग्रह उससे युक्त हैं और जिनभावना अर्थात् शुद्धस्वरूपकी भावनासे रहित हैं वे द्रव्यनिर्ग्रंथ हैं तो भी निर्मल जिनशासनमें जो समाधि अर्थात् धर्मशुक्लध्यान और बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गको नहीं पाते हैं ।

भावार्थः—द्रव्यलिंगी अभ्यन्तरका राग नहीं छोड़ता है, परमात्माका ध्यान नहीं करता है, तब कैसे मोक्षमार्ग पावे तथा कैसे समाधिमरण पावे ।।७२।।

आगे कहते हैं कि पहिले मिथ्यात्व आदिक दोष छोड़कर भावमें नग्न हो, पीछे द्रव्यमुनि बने यह मार्ग हैः—

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ।।७३।।

भावेन भवति नग्नः मिथ्यात्वादीन् च दोषान् त्यक्त्वा ।
पश्चात् द्रव्येण मुनिः प्रकटयति लिंगं जिनाज्ञया ।।७३।।

अर्थ—पहिले मिथ्यात्व आदि दोषोंको छोड़कर और भावसे अंतरंग नग्न हो, एकरूप शुद्धआत्माका श्रद्धान ज्ञान आचरण करे पीछे मुनि द्रव्यसे बाह्यलिंग जिन आज्ञासे प्रकट करे, यह मार्ग है ।

भावार्थः—भाव शुद्ध हुए विना पहिले ही दिगम्बररूप धारण करले तो पीछे भाव बिगड़े तब भ्रष्ट हो जाय और भ्रष्ट होकर भी मुनि कहलाता रहे तो मार्गकी हँसी करावे, इसलिये जिन आज्ञा यही है कि भाव शुद्ध करके बाह्य मुनिपना प्रगट करो ।।७३।।

आगे कहते हैं कि शुद्ध भाव ही स्वर्गमोक्षका कारण है, मलिनभाव संसारका कारण हैः—

मिथ्यात्व–आदिक दोष छोडी नग्न भाव थकी बने ।
पछी द्रव्यथी मुनिलिंग धारे जीव जिन–आज्ञा वडे ।।७३।।

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो ।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥७४॥

भावः अपि दिव्यशिवसौख्यभाजनं भाववर्जितः श्रमणः ।
कर्ममलमलिनचित्तः तिर्यगालयभाजनं पापः ॥७४॥

अर्थ—भाव ही स्वर्ग–मोक्षका कारण है, और भावरहित श्रमण पापस्वरूप है, तिर्यंचगतिका स्थान है तथा कर्ममलसे मलिन चित्तवाला है ।

भावार्थः—भावसे शुद्ध है वह तो स्वर्ग–मोक्षका पात्र है और भावसे मलिन है वह तिर्यञ्चगतिमें निवास करता है ॥७४॥

आगे फिर भावके फलका माहात्म्य कहते हैं:—

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विऊला ।
चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही सुभावेण ॥७५॥

खचरामरमनुजकरांजलिमालाभिश्च संस्तुता विपुला ।
चक्रधरराजलक्ष्मीः लभ्यते बोधिः सुभावेन ॥७५॥

अर्थः—सुभाव अर्थात् भले भावसे मंदकषायरूप विशुद्धभावसे चक्रवर्ती आदि राजाओंकी विपुल अर्थात् बड़ी लक्ष्मी पाता है । कैसी है—खचर (विद्याधर), अमर (देव) और मनुज (मनुष्य) इनकी अंजुलिमाला (हाथोंकी अंजुलि) की पंक्तिसे संस्तुत (नमस्कारपूर्वक स्तुति करने योग्य) है और यह केवल लक्ष्मी ही नहीं पाता है, किन्तु बोधि (रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग) भी पाता है ।

भावार्थः—विशुद्ध भावोंका यह माहात्म्य है ॥७५॥

आगे भावोंके भेद कहते हैं:—

छे भाव दिवशिवसौख्यभाजनः भाववर्जित श्रमण जे ।
पापी करममलमलिनमन, तिर्यंचगतिनुं पात्र छे ॥७४॥
नर–अमर–विद्याधर वडे संस्तुत करांजलिपंक्तिथी ।
चक्री–विशालविभूति बोधि प्राप्त थाय सुभावथी ॥७५॥

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं च अट्टरउद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥

भावः त्रिविधप्रकारः शुभोऽशुभः शुद्ध एव ज्ञातव्यः ।
अशुभश्च आर्त्तरौद्रं शुभः धर्म्यं जिनवरेन्द्रैः ॥७६॥

अर्थः—जिनवरदेवने भाव तीन प्रकारका कहा है, १ शुभ, २ अशुभ और ३ शुद्ध । आर्त्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्मध्यान शुभ है ॥७६॥

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं ।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥७७॥

शुद्धः शुद्धस्वभावः आत्मा आत्मनि सः च ज्ञातव्यः ।
इति जिनवरैः भणितं यः श्रेयान् तं समाचर ॥७७॥

अर्थः—शुद्ध है वह अपना शुद्धस्वभाव अपनेहीमें है, इसप्रकार जिनवरदेवने कहा है वह जानकर इनमें जो कल्याणरूप हो उसको अंगीकार करो ।

भावार्थः—भगवानने भाव तीन प्रकारके कहे हैं, १ शुभ, २ अशुभ और ३ शुद्ध । अशुभ तो आर्त्त व रौद्र ध्यान हैं वे तो अति मलिन हैं, त्याज्य ही हैं । धर्मध्यान शुभ है इसप्रकार यह कथंचित् उपादेय है इससे मंदकषायरूप विशुद्ध भावकी प्राप्ति है । शुद्ध भाव है वह सर्वथा उपादेय है क्योंकि यह आत्माका स्वरूप ही है । इसप्रकार हेय उपादेय जानकर त्याग और ग्रहण करना चाहिये, इसीलिये ऐसा कहा है कि जो कल्याणकारी हो वह अंगीकार करना यह जिनदेवका उपदेश है ॥७७॥

आगे कहते हैं कि जिनशासनका इसप्रकार माहात्म्य है:—

शुभ, अशुभ तेम ज शुद्ध—त्रणविध भाव जिनप्रज्ञप्त छे ।
त्यां 'अशुभ' आरत-रौद्र ने 'शुभ' धर्म छे–भाख्युं जिने ॥७६॥

आत्मा विशुद्धस्वभाव आत्म महीं रहे ते 'शुद्ध' छे ।
—आ जिनवरे भाखेल छे; जे श्रेय, आचर तेहने ॥७७॥

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो ।
पावइ तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥७८॥

प्रगलितमानकषायः प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तः ।
आप्नोति त्रिभुवनसारं बोधिं जिनशासने जीवः ॥७८॥

अर्थः—यह जीव 'प्रगलितमानकषायः' अर्थात् जिसका मान कषाय प्रकर्षतासे गल गया है, किसी परद्रव्यसे अहंकाररूप गर्व नहीं करता है और जिसके मिथ्यात्वका उदयरूप मोह भी नष्ट हो गया है इसीलिये 'समचित्त' है, परद्रव्यमें ममकाररूप मिथ्यात्व और इष्ट अनिष्ट–बुद्धिरूप रागद्वेष जिसके नहीं है, वह जिनशासनमें तीन भुवनमें सार ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गको पाता है ।

भावार्थः—मिथ्यात्वभाव और कषायभावका स्वरूप अन्य मतोंमें यथार्थ नहीं है । यह कथन इस वीतरागरूप जिनमतमें ही है, इसलिये यह जीव मिथ्यात्व कषायके अभावरूप मोक्षमार्ग तीनलोकमें सार जिनमतके सेवनहीसे पाता है, अन्यत्र नहीं है ।

आगे कहते हैं कि जिनशासनमें ऐसा मुनि ही तीर्थंकर प्रकृति बाँधता हैः—

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण ।
तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥७९॥

विषयविरक्तः श्रमणः षोडशवरकारणानि भावयित्वा ।
तीर्थंकरनामकर्म, बध्नाति अचिरेण कालेन ॥७९॥

अर्थः—जिसका चित्त इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त है ऐसा श्रमण अर्थात् मुनि है वह सोलहकारण भावनाको भाकर 'तीर्थंकर' नाम–प्रकृतिको थोड़े ही समयमें बाँध लेता है ।

छे गलितमानकषाय, मोह विनष्ट थई समचित्त छे ।
ते जीव त्रिभुवनसार बोधि लहे जिनेश्वरशासने ॥७८॥

विषये विरत मुनि सोल उत्तम कारणोने भावीने ।
बांधे अचिर काले करम तीर्थंकरत्व–सुनामने ॥७९॥

भावार्थः—यह भावका माहात्म्य है, (सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्वज्ञान सहित—स्वसन्मुखता सहित) विषयोंसे विरक्त भाव होकर सोलहकारण भावना भावे तो अचिन्त्य है महिमा जिसकी ऐसी तीनलोकसे पूज्य 'तीर्थंकर' नाम प्रकृतिको बाँधता है और उसको भोगकर मोक्षको प्राप्त होता है। ये सोलहकारण भावनाके नाम हैं. १—दर्शनविशुद्धि, २—विनयसंपन्नता, ३—शीलव्रतेष्वनतिचार, ४—अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५—संवेग, ६—शक्तितस्त्याग, ७—शक्तितस्तप, ८—साधुसमाधि, ९—वैयावृत्त्यकरण, १०—अर्हद्भक्ति, ११—आचार्यभक्ति, १२—बहुश्रुतभक्ति, १३—प्रवचनभक्ति, १४—आवश्यकापरिहाणि, १५—सन्मार्गप्रभावना, १६—प्रवचन वात्सल्य इसप्रकार सोलह भावना हैं। इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी टीकासे जानिये। इनमें सम्यग्दर्शन प्रधान है, यह न हो और पन्द्रह भावनाका व्यवहार हो तो कार्यकारी नहीं है और यह हो तो पन्द्रह भावनाका कार्य यही करले, इसप्रकार जानना चाहिये ॥७९॥

आगे भावकी विशुद्धता निमित्त आचरण कहते हैं:—

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण।
धरहि मणमत्तदुरियं णाणंकुसएण मुणिपवर ॥८०॥

द्वादशविधतपश्चरणं त्रयोदश क्रियाः भावय त्रिविधेन।
धर मनोमत्तदुरितं ज्ञानांकुशेन मुनिप्रवर! ॥८०॥

अर्थः—हे मुनिप्रवर! मुनियोंमें श्रेष्ठ! तू बारह प्रकारके तपका आचरण कर और तेरह प्रकारकी क्रिया मन—वचन—कायसे भा और ज्ञानरूप अंकुशसे मनरूप मतवाले हाथीको अपने वशमें रख।

भावार्थ—यह मनरूप हाथी बहुत मदोन्मत्त है, वह तपश्चरण क्रियादिकसहित ज्ञानरूप अंकुशहीसे वशमें होता है, इसलिये यह उपदेश है अन्यप्रकारसे वशमें नहीं होता है। ये बारह तपोंके नाम हैं १—अनशन, २—अवमौदर्य, ३—वृत्तिपरिसंख्यान, ४—रसपरित्याग, ५—विविक्तशय्यासन, ६—कायक्लेश ये तो छह प्रकारके बाह्य तप हैं, और १—प्रायश्चित्त २—विनय ३—वैयावृत्य ४—स्वाध्याय ५—व्युत्सर्ग ६—ध्यान ये छह प्रकारके

तुं भाव बार प्रकार तप ने तेर किरिया त्रणविधे।
वश राख मन—गज मत्तने मुनिप्रवर! ज्ञानांकुश वडे ॥८०॥

अभ्यंतर तप हैं, इनका स्वरूप तत्वार्थसूत्रकी टीकासे जानना चाहिये । तेरह क्रिया इस प्रकार हैं—पंच परमेष्ठीको नमस्कार ये पाँच क्रिया, छह आवश्यक क्रिया, [1]निषिधिका-क्रिया और [2]आसिकाक्रिया । इसप्रकार भाव शुद्ध होनेके कारण कहे ॥८०॥

आगे द्रव्य—भावरूप सामान्यरूपसे जिनलिंगका स्वरूप कहते हैं:—

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू ।
भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥८१॥

पंचविधचेलत्यागं क्षितिशयनं द्विविधसंयमं भिक्षु ।
भाव भावयित्वा पूर्व जिनलिंगं निर्मलं शुद्धम् ॥८१॥

अर्थः—निर्मल शुद्ध जिनलिंग इसप्रकार है जहाँ पाँचप्रकारके वस्त्रका त्याग है, भूमि पर शयन है, दो प्रकारका संयम है, भिक्षा भोजन है, भावितपूर्व अर्थात् पहिले शुद्ध आत्माका स्वरूप परद्रव्यसे भिन्न सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्रमयी हुआ, उसे बारंबार भावनासे अनुभव किया इसप्रकार जिसमें भाव है, ऐसा निर्मल अर्थात् बाह्यमलरहित शुद्ध अर्थात् अन्तर्मलरहित जिनलिंग है ।

भावार्थः—यहाँ लिंग द्रव्य—भावसे दो प्रकारका है । द्रव्य तो बाह्य त्याग अपेक्षा है जिसमें पाँच प्रकारके वस्त्रका त्याग है, वे पाँच प्रकार ऐसे हैं—१—अंडज अर्थात् रेशमसे बना २—बोंडुज अर्थात् कपाससे बना ३—रोमज—अर्थात् ऊनसे बना ४—वल्कलज अर्थात् वृक्षकी छालसे बना ५—चर्मज अर्थात् मृग आदिकके चर्मसे बना, इसप्रकार पाँच प्रकार कहे । इसप्रकार नहीं जानना कि इनके सिवाय और वस्त्र ग्राह्य हैं—ये तो उपलक्षणमात्र कहे हैं, इसलिये सबही वस्त्रमात्रका त्याग जानना ।

---

१ निषिधिका—जिनमंदिरादिमें प्रवेश करने हो गृहस्थों या व्यंतरादि देवों कोई उपस्थित है ऐसा मानकर आज्ञार्थ 'निःसही' शब्द तीनचार बोलनेमें आते हैं अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें स्थिर रहना 'निःसही' है ।

२ धर्मस्थानसे बाहर निकलते समय विनयसह त्रिदायकी आज्ञा मांगनेके अर्थमें 'आसिका' शब्द बोले अथवा पाप क्रियासे मन—मोड़ना 'आसिका' है ।

भूशयन, भिक्षा, द्विविध संयम, पंचविध—पटत्याग छे ।
छे भाव भावितपूर्व, ते जिनलिंग निर्मल शुद्ध छे ॥८१॥

भूमि पर सोना, बैठना इसमें काष्ठ तृण भी गिन लेना। इन्द्रिय और मनको वशमें करना, छहकायके जीवोंकी रक्षा करना इसप्रकार दो प्रकारका संयम है। भिक्षा भोजन करना जिसमें कृत, कारित, अनुमोदनाका दोष न लगे—छियालीस दोष टले—बत्तीस अंतराय टले ऐसी विधिके अनुसार आहार करे। इसप्रकार तो बाह्यलिंग है और पहिले कहा वैसे हो वह 'भावलिंग' है, इसप्रकार दो प्रकारका शुद्ध जिनलिंग कहा है, अन्य प्रकार श्वेताम्बरादिक कहते हैं वह जिनलिंग नहीं है ॥८१॥

आगे जिनधर्मकी महिमा कहते हैं:—

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं ॥८२॥

यथा रत्नानां प्रवरं वज्रं यथा तरुगणानां गोशीरम्।
तथा धर्माणां प्रवरं जिनधर्मं भाविभवमथनम् ॥८२॥

अर्थः—जैसे रत्नोंमें प्रवर (श्रेष्ठ) उत्तम वज्र (हीरा) है और जैसे तरुगण (बड़े वृक्ष) में उत्तम गोसीर (बावन चन्दन) है, वैसे ही धर्मोंमें उत्तम भाविभवमथन (आगामी संसारका मथन करनेवाला) जिनधर्म है, इससे मोक्ष होता है।

भावार्थः—'धर्म' ऐसा सामान्य नाम तो लोकमें प्रसिद्ध है और लोक अनेक प्रकारसे क्रियाकांडादिकको धर्म जानकर सेवन करता है परन्तु परीक्षा करने पर मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला जिनधर्म ही है, अन्य सब संसारके कारण हैं। वे क्रियाकांडादिक संसारहीमें रखते हैं, कदाचित् संसारके भोगोंकी प्राप्ति कराते हैं तो भी फिर भोगोंमें लीन होता है तब एकेन्द्रियादि पर्याय पाता है तथा नरकको पाता है। ऐसे अन्य धर्म नाममात्र हैं, इसलिये उत्तम जिनधर्म ही जानना ॥८२॥

आगे शिष्य पूछता है कि जिनधर्मको उत्तम कहा तो **धर्मका क्या स्वरूप है?** उसका स्वरूप कहते हैं कि **'धर्म'** इसप्रकार है:—

रत्नो विषे ज्यम श्रेष्ठ हीरक, तरुगणे गोशीर्ष छे।
जिनधर्म भाविभवमथन त्यम श्रेष्ठ छे धर्मो विषे ॥८२॥

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८३॥

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम् ।
मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः ॥८३॥

अर्थः—जिनशासनमें जिनेन्द्रदेवने इसप्रकार कहा है कि—पूजा आदिकमें और व्रतसहित होना है वह तो 'पुण्य' ही है तथा मोहके क्षोभसे रहित जो आत्माका परिणाम वह 'धर्म' है ।

भावार्थः—लौकिक जन तथा अन्यमती कई कहते हैं कि पूजा आदिक शुभ-क्रियाओंमें और व्रतक्रियासहित है वह जिनधर्म है, परन्तु ऐसा नहीं है । जिनमतमें जिन-भगवानने इसप्रकार कहा है कि—पूजादिकमें और व्रतसहित होना है वह तो 'पुण्य' है, इसमें पूजा और आदि शब्दसे भक्ति, वंदना, वैयावृत्त्य आदिक समझना, यह तो देव–गुरु–शास्त्रके लिये होता है और उपवास आदिक व्रत हैं वह शुभक्रिया है, इनमें आत्माका रागसहित शुभपरिणाम है उससे पुण्यकर्म होता है इसलिये इनको पुण्य कहते हैं । इसका फल स्वर्गादिक भोगोंकी प्राप्ति है ।

मोहके क्षोभसे रहित आत्माके परिणामको धर्म समझिये । मिथ्यात्व तो अतत्त्वार्थश्रद्धान है, क्रोध–मान–अरति–शोक–भय–जुगुप्सा ये छह द्वेषप्रकृति हैं और माया, लोभ, हास्य, रति ये चार तथा पुरुष, स्त्री, नपुंसक ये तीन विकार, ऐसे सात प्रकृति रागरूप हैं । इनके निमित्तसे आत्माका ज्ञान–दर्शनस्वभाव विकारसहित, क्षोभरूप, चलाचल, व्याकुल होता है इसलिये इन विकारोंसे रहित हो तब शुद्धदर्शनज्ञानरूप निश्चय हो वह आत्माका 'धर्म' है । इस धर्मसे आत्माके आगामी कर्मका आस्रव रुककर संवर होता है और पहिले बँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा होता है । संपूर्ण निर्जरा हो जाय तब मोक्ष होता है तथा एकदेश मोहके क्षोभकी हानि होती है इसलिये शुभ-परिणामको भी उपचारसे धर्म कहते हैं और जो केवल शुभपरिणामहीको धर्म मानकर संतुष्ट हैं उनको धर्मकी प्राप्ति नहीं है, यह जिनमतका उपदेश है ॥८३॥

पूजादिमां व्रतमां जिनोए पुण्य भाख्युं शासने ।
छे धर्म भाख्यो मोहक्षोभविहीन निज परिणामने ॥८३॥

आगे कहते हैं कि जो 'पुण्य'हीको 'धर्म' जानकर श्रद्धान करता है उसके केवल भोगका निमित्त हैं, कर्मक्षयका निमित्त नहीं है :—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ ८४॥

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति ।
पुण्यं भोगनिमित्तं न हि तत् कर्मक्षयनिमित्तम् ॥८४॥

अर्थः—जो पुरुष पुण्यको धर्म जानकर श्रद्धान करते हैं, प्रतीति करते हैं, रुचि करते हैं और स्पर्श करते हैं उनके 'पुण्य' भोगका निमित्त है। इससे स्वर्गादिक भोग पाता है और वह पुण्य कर्मके क्षयका निमित्त नहीं होता है, यह प्रगट जानना चाहिये।

भावार्थः—शुभक्रियारूप पुण्यको धर्म जानकर इसका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करता है उसके पुण्यकर्मका बंध होता है, उससे स्वर्गादिके भोगोंकी प्राप्ति होती है और उससे कर्मका क्षयरूप संवर निर्जरा मोक्ष नहीं होता है ॥८४॥

आगे कहते हैं कि जो आत्माका स्वभावरूप धर्म है वह ही मोक्षका कारण है ऐसा नियम है:—

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो ।
संसारतरणहेदू धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥८५॥

आत्मा आत्मनि रतः रागादिषु सकलदोषपरित्यक्तः ।
संसारतरणहेतुः धर्म इति जिनैः निर्दिष्टम् ॥८५॥

अर्थः—यदि आत्मा रागादिक समस्त दोषोंसे रहित होकर आत्माहीमें रत हो-जाय तो ऐसे धर्मको जिनेश्वरदेवने संसारसमुद्रसे तिरनेका कारण कहा है।

परतीत, रुचि, श्रद्धान ने स्पर्शन करे छे पुण्यनुं ।
ते भोग केरूं निमित्त छे, न निमित्त कर्मक्षय तणुं ॥८४॥

रागादि दोष समस्त छोडी आतमा निजरत रहे ।
भवतरणकारण धर्म छे ते—एम जिनदेवो कहे ॥८५॥

भावार्थः—जो पहिले कहा था कि मोहके क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम है सो धर्म है, सो ऐसा धर्म ही संसारसे पारकर मोक्षका कारण भगवान्ने कहा है, यह नियम है ॥८५॥

आगे इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं कि जो आत्माके लिए इष्ट नहीं करता है और समस्त पुण्यका आचरण करता है तो भी सिद्धिको नहीं पाता है:—

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥८६॥

अथ पुनः आत्मानं नेच्छति पुण्यानि करोति निरवशेषानि।
तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥८६॥

अर्थः—अथवा जो पुरुष आत्माका इष्ट नहीं करता है, उसका स्वरूप नहीं जानता है, अंगीकार नहीं करता है और सब प्रकारके समस्त पुण्यको करता है, तो भी सिद्धि (मोक्ष) को नहीं पाता है किन्तु वह पुरुष संसारहीमें भ्रमण करता है।

भावार्थः—आत्मिक धर्म धारण किये बिना सब प्रकारके पुण्यका आचरण करे तो भी मोक्ष नहीं होता है, संसारहीमें रहता है। कदाचित् स्वर्गादिक भोग पावे तो वहाँ भोगोंमें आसक्त होकर रहे, वहाँसे चय एकेन्द्रियादिक होकर संसारहीमें भ्रमण करता है।

आगे इस कारणसे आत्माहीका श्रद्धान करो प्रयत्नपूर्वक जानो, मोक्ष प्राप्त करो ऐसा उपदेश करते हैं:—

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥८७॥

एतेन कारणेन च तं आत्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन।
येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥८७॥

पण आत्मने इच्छ्या विना पुण्यो अशेष करे भले।
तोपण लहे नहि सिद्धिने, भवमां भमे—आगम कहे ॥ ८६ ॥
आ कारणे ते आत्मनी त्रिविधे तमे श्रद्धा करो।
ते आत्मने जाणो प्रयत्ने, मुक्तिने जेथी वरो ॥ ८७ ॥

अर्थः—पहिले कहा था कि आत्माका धर्म तो मोक्ष है उसी कारणसे कहते हैं कि—हे भव्यजीवो ! तुम उस आत्माको प्रयत्नपूर्वक सबप्रकारके उद्यम करके यथार्थ जानो, उस आत्माका श्रद्धान करो, प्रतीति करो, आचरण करो । मन–वचन–कायसे ऐसे करो जिससे मोक्ष पावो ।

भावार्थः—जिसको जानने और श्रद्धान करनेसे मोक्ष हो उसीको जानना और श्रद्धान करना मोक्षप्राप्ति कराता है, इसलिये आत्माको जाननेका कार्य सब प्रकारके उद्यमपूर्वक करना चाहिये इसीसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसलिये भव्यजीवोंको यही उपदेश है ॥८७॥

आगे कहते हैं कि बाह्य हिंसादिक क्रियाके बिना ही अशुद्ध भावसे तंदुलमत्स्य-तुल्य जीव भी सातवें नरकको गया, तब अन्य बड़े जीवोंकी क्या कथा ?

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं ।
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं ॥८८॥

मत्स्यः अपि शालिसिक्थः अशुद्धभावः गतः महानरकम् ।
इति ज्ञात्वा आत्मानं भावय जिनभावनां नित्यम् ॥८८॥

अर्थः—हे भव्यजीव ! तू देख शालिसिक्थ (तन्दुल नामका मत्स्य) वह भी अशुद्धभावस्वरूप होता हुआ महानरक (सातवें नरक) में गया, इसीलिये तुझे उपदेश देते हैं कि अपनी आत्माको जाननेके लिए निरंतर जिनभावना कर ।

भावार्थः—अशुद्धभावके माहात्म्यसे तन्दुल मत्स्य जैसा अल्पजीव भी सातवें नरकको गया तो अन्य बड़े जीव क्यों न नरक जावें, इसलिये भाव शुद्ध करनेका उपदेश है । भाव शुद्ध होने पर अपने और दूसरेके स्वरूपका जानना होता है । अपने और दूसरेके स्वरूपका ज्ञान जिनदेवकी आज्ञाकी भावना निरन्तर भानेसे होता है, इसलिये जिनदेवकी आज्ञाकी भावना निरन्तर करना योग्य है ।

तन्दुल मत्स्यकी कथा ऐसे है—काकन्दीपुरीका राजा सूरसेन था । वह मांसभक्षी हो गया । अत्यन्त लोलुपी, मांस भक्षणका अभिप्राय रखता था । उसके 'पितृप्रिय'

अविशुद्ध भावे मत्स्य तंदुल पण गयो महा नरकमां ।
तेथी निजात्मा जाणी नित्य तुं भाव रे ! जिनभावना ॥८८॥

नामका रसोईदार था। वह अनेक जीवोंका मांस निरन्तर भक्षण कराता था। उसको सर्प डस गया सो मरकर स्वयंभूरमण समुद्रमें महामत्स्य हो गया। राजा सूरसेन भी मरकर वहाँ ही उसी महामत्स्यके कानमें तंदुल मत्स्य हो गया।

वहाँ महामत्स्यके मुखमें अनेक जीव आवें और बाहर निकल जावें तब तंदुल मत्स्य उनको देखकर विचार करे कि यह महामत्स्य अभागा है जो मुँहमें आये हुए जीवोंको खाता नहीं है। यदि मेरा शरीर इतना बड़ा होता तो इस समुद्रके सब जीवोंको खा जाता। ऐसे भावोंके पापसे जीवोंको खाये बिना ही सातवें नरकमें गया और महामत्स्य तो खानेवाला था सो वह तो नरकमें जाय ही जाय।

इसलिये अशुद्धभावसहित बाह्य पाप करना तो नरकका कारण है ही, परन्तु बाह्य हिंसादिक पापके किये बिना केवल अशुद्धभाव भी उसीके समान है, इसलिये भावोंमें अशुभ ध्यान छोड़कर शुभ ध्यान करना योग्य है। यहाँ ऐसा भी जानना जो पहिले राज पाया था सो पहिले पुण्य किया था उसका फल था, पीछे कुभाव हुए तब नरक गया इसलिये आत्मज्ञानके बिना केवल पुण्य ही मोक्षका साधन नहीं है ॥८८॥

आगे कहते हैं कि भावरहितके बाह्य परिग्रहका त्यागादिक सब निष्प्रयोजन हैः—

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥८९॥

बाह्यसंगत्यागः गिरिसरिद्दरीकंदरादौ आवासः।
सकलं ज्ञानाध्ययनं निरर्थकं भावरहितानाम् ॥८९॥

अर्थः—जो पुरुष भाव रहित हैं, शुद्ध आत्माकी भावनासे रहित हैं और बाह्य आचरणसे सन्तुष्ट हैं, उनके बाह्य परिग्रहका त्याग है वह निरर्थक है। गिरि (पर्वत) दरी (पर्वतकी गुफा) सरित् (नदीके पास) कंदर (पर्वतके जलसे चीरा हुआ स्थान) इत्यादि स्थानोंमें आवास (रहना) निरर्थक है। ध्यान करना, आसन द्वारा मनको रोकना, अध्ययन (पढ़ना) ये सब निरर्थक हैं।

रे! बाह्यपरिग्रहत्याग, पर्वत-कंदरादिनिवास ने।
ज्ञानाध्ययन सघलुं निरर्थक भावविरहित श्रमणने ॥८९॥

भावार्थः—बाह्य क्रियाका फल आत्मज्ञान सहित हो तो सफल हो, अन्यथा सब निरर्थक है। पुण्यका फल हो तो भी संसारकाही कारण है, मोक्षफल नहीं है ॥८९॥

आगे उपदेश करते हैं कि भावशुद्धिके लिये इन्द्रियादिकको वश करो, भावशुद्धिके बिना बाह्यभेषका आडम्बर मत करोः—

भंजसु इन्दियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण।
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥९०॥

भंग्धि इन्द्रियसेनां भंग्धि मनोमर्कटं प्रयत्नेन।
मा जनरंजनकरणं बहिर्व्रतवेष! त्वंकार्षीः ॥९०॥

अर्थः—हे मुने! तू इन्द्रियोंकी सेना है उसका भंजन कर, विषयोंमें मत रम, मनरूप बंदरको प्रयत्नपूर्वक बड़ा उद्यम करके भंजन कर, वशीभूत कर और बाह्यव्रतका भेष लोकको रंजन करनेवाला मत धारण करे।

भावार्थः—बाह्य मुनिका भेष लोकका रंजन करनेवाला है, इसलिये यह उपदेश है, लोकरंजनसे कुछ परमार्थ सिद्धि नहीं है इसलिये इन्द्रिय और मनको वशमें करनेके लिये बाह्य यत्न करे तो श्रेष्ठ है। इन्द्रिय और मनको वशमें किये बिना केवल लोकरंजनमात्र भेष धारण करनेसे कुछ परमार्थ सिद्धि नहीं है ॥९०॥

आगे फिर उपदेश कहते हैंः—

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए।
चेइयपवयणगुरुणं करेहि भत्तिं जिणाणाए ॥९१॥

नवनोकषायवर्गं मिथ्यात्वं त्यज भावशुद्धया।
चैत्यप्रवचनगुरूणां कुरु भक्तिं जिनाज्ञया ॥९१॥

तुं इन्द्रिसेना तोड, मनमर्कट तुं वश कर यत्नथी।
नहि कर तुं जनरंजनकरण बहिरंग-व्रतवेशी बनी ॥ ९० ॥
मिथ्यात्व ने नव नोकषाय तुं छोड भावविशुद्धथी।
कर भक्ति जिन आज्ञानुसार तुं चैत्य-प्रवचन-गुरु तणी ॥ ९१ ॥

अर्थः—हे मुने ! तू नव जो हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये नो कषायवर्ग तथा मिथ्यात्व इनको भावशुद्धि द्वारा छोड़ और जिनआज्ञासे चैत्य, प्रवचन, गुरु इनकी भक्ति कर ॥९१॥

आगे फिर कहते हैं:—

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
भावहि अणुदिणु अतुल विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥९२॥

तीर्थकरभाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रथितं सम्यक् ।
भावय अनुदिनं अतुलं विशुद्धभावेन श्रुतज्ञानम् ॥९२॥

अर्थः—हे मुने ! तू जिस श्रुतज्ञानको तीर्थकर भगवानने कहा और गणधर देवोंने गूंथा अर्थात् शास्त्ररूप रचना की उसको सम्यक् प्रकार भाव शुद्ध कर निरन्तर भावना कर । कैसा है वह श्रुतज्ञान ? अतुल है इसके बराबर अन्य मतका कहा हुआ श्रुतज्ञान नहीं है ॥९२॥

ऐसा करनेसे क्या होता है ? सो कहते हैं:—

[1]पीऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का ।
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥९३॥

[2]पीत्वा ज्ञानसलिलं निर्मथ्यतृषादाहशोषोन्मुक्ताः ।
भवंति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥९३॥

अर्थः—पूर्वोक्त प्रकार भाव शुद्ध करने पर ज्ञानरूप जलको पीकर सिद्ध होते हैं । कैसे हैं सिद्ध ? निर्मथ्य अर्थात् मथा न जावे ऐसे तृषा दाह शोषसे रहित हैं, इस प्रकार सिद्ध होते हैं, ज्ञानरूप जल पीनेका यह फल है । सिद्धशिवालय अर्थात् मुक्तिरूप

---

१ पाठान्तरः—पाऊण

२ पाठान्तरः—प्राप्य

तीर्थेशभाषित—अर्थमय, गणधरसुविरचित जेह छे ।
प्रतिदिन तुं भाव विशुद्धभावे ते अतुल श्रुतज्ञानने ॥ ९२ ॥

जीव ज्ञानजल पी, तीव्रतृष्णादाहशोष थकी छूटी ।
शिवधामवासी सिद्ध थाय—त्रिलोकना चूडामणि ॥ ९३ ॥

महलमें रहनेवाले हैं, लोकके शिखरपर जिनका वास है। इसीलिये कैसे हैं? तीन भुवनके चूड़ामणि हैं, मुकुटमणि हैं तथा तीन भुवनमें ऐसा सुख नहीं है, ऐसे परमानंद अविनाशी सुखको वे भोगते हैं। इसप्रकार वे तीन भुवनके मुकुटमणि हैं ।।

भावार्थः—शुद्ध भाव करके ज्ञानरूप जल पीने पर तृष्णा दाह शोष मिट जाता है इसलिये ऐसे कहा है कि परमानन्दरूप सिद्ध होते हैं ।।९३।।

आगे भावशुद्धिके लिए फिर उपदेश करते हैं:—

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण।
सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमोत्तूण ।। ९४ ।।

दश दश द्वौ सुपरीषहान् सहस्व मुने! सकलकालं कायेन।
सूत्रेण अप्रमत्तः संयमघातं प्रमुच्य ।। ९४ ।।

अर्थः—हे मुने! तू दस दस दो अर्थात् बाईस जो सुपरीषह अर्थात् अतिशय कर सहने योग्यको सूत्रेण अर्थात् जैसे जिनवचनमें कहे हैं उसी रीतिसे निःप्रमादी होकर संयमका घात दूर कर और तेरे कायसे सदा काल निरंतर सहन कर।

भावार्थः—जैसे संयम न बिगड़े और प्रमादका निवारण हो वैसे निरन्तर मुनि क्षुधा, तृषा आदिक बाईस परीषह सहन करे। इनको सहन करनेका प्रयोजन सूत्रमें ऐसा कहा है कि—इनके सहन करनेमें कर्मकी निर्जरा होती है और संयमके मार्गसे छूटना नहीं होता है, परिणाम दृढ़ होते हैं ।।९४।।

आगे कहते हैं कि जो परीषह सहनेमें दृढ़ होता है तो उपसर्ग आने पर भी दृढ़ रहता है, च्युत नहीं होता, उसका दृष्टांत कहते हैं:—

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण[1]।
तह साहू वि ण भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ।।९५।।

---

१. 'मुदकेण' पाठान्तर 'मुदएण'।

वावीश परिषह सर्वकाल सहो मुने! काया वडे।
अप्रमत्त रही, सूत्रानुसार, निवारी संयमघातने ।।९४।।
पथ्थर रह्यो चिर पाणीमां भेदाय नहि पाणी वडे।
त्यम साधु पण भेदाय नहि उपसर्ग ने परिषह वडे ।।९५।।

यथा प्रस्तरः न भिद्यते परिस्थितः दीर्घकालमुदकेन ।
तथा साधुरपि न भिद्यते उपसर्गपरीषहेभ्यः ॥९५॥

अर्थः—जैसे पाषाण जलमें बहुत कालतक रहने पर भी भेदको प्राप्त नहीं होता है वैसे ही साधु उपसर्ग परीषहोंसे नहीं भिदता है ॥

भावार्थः—पाषाण ऐसा कठोर होता है कि यदि वह जलमें बहुत समय तक रहे तो भी उसमें जल प्रवेश नहीं करता है, वैसे ही साधुके परिणाम भी ऐसे दृढ़ होते हैं कि—उपसर्ग परीषह आने पर भी संयमके परिणामसे च्युत नहीं होता है और पहिले कहा जो संयमका घात जैसे न हो वैसे परीषह सहे। यदि कदाचित् संयमका घात होता जाने तो जैसे घात न हो वैसे करे ॥९५॥

आगे परीषह आने पर भाव शुद्ध रहे ऐसा उपाय कहते हैं:—

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि ।
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥९६॥

भावय अनुप्रेक्षाः अपराः पंचविंशतिभावनाः भावय ।
भावरहितेन किं पुनः बाह्यलिंगेन कर्त्तव्यम् ॥९६॥

अर्थः—हे मुने ! तू अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा है उनकी भावना कर और अपर अर्थात् अन्य पाँच महाव्रतोंकी पच्चीस भावना कही है उनकी भावना कर, भावरहित जो बाह्यलिंग है उससे क्या कर्त्तव्य है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

भावार्थः—कष्ट आने पर बारह अनुप्रक्षाओंका चिन्तन करना योग्य है । इनके नाम ये हैं १ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभ, १२ धर्म इनका और पच्चीस भावनाओंका भाना बड़ा उपाय है। इनका बारम्बार चिन्तन करनेसे कष्टमें परिणाम बिगड़ते नहीं हैं, इसलिये यह उपदेश है ॥९६॥

आगे फिर भाव शुद्ध रखनेको ज्ञानका अभ्यास करते हैं:—

तुं भाव द्वादश भावना, वली भावना पच्चीशने ।
शुं छे प्रयोजन भावविरहित बाह्यलिंग थकी अरे ॥९६॥

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥ ९७ ॥

सर्वं विरतः अपि भावय नव पदार्थान् सप्त तत्त्वानि ।
जीवसमासान् मुने ! चतुर्दशगुणस्थाननामानि ॥ ९७ ॥

अर्थः—हे मुने ! तू सब परिग्रहादिकसे विरक्त हो गया है, महाव्रत सहित है तो भी भाव विशुद्धिके लिये नव पदार्थ, सप्त तत्त्व, चौदह जीवसमास, चौदह गुण-स्थान इनके नाम लक्षण भेद इत्यादिकोंकी भावना कर ।

भावार्थः—पदार्थोंके स्वरूपका चिन्तन करना भावशुद्धिका बड़ा उपाय है इसलिये यह उपदेश है। इनका नाम स्वरूप अन्य ग्रंथोंसे जानना ॥९७॥

आगे भाव शुद्धिके लिए अन्य उपाय कहते हैं:—

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण।
मेहुणसण्णासत्तो भमिओ सि भवण्णवे भीमे ॥ ९८ ॥

नवविधब्रह्मचर्यं प्रकटय अब्रह्म दशविधं प्रमुच्य ।
मैथुनसंज्ञासक्तः भ्रमितोऽसि भवार्णवे भीमे ॥ ९८ ॥

अर्थः—हे जीव ! तू पहिले दस प्रकारके अब्रह्म है उसको छोड़कर नव प्रकारके ब्रह्मचर्य है उसको प्रगट कर, भावोंमें प्रत्यक्ष कर। यह उपदेश इसलिए दिया है कि तू मैथुनसंज्ञा जो कामसेवनकी अभिलाषा उसमें आसक्त होकर अशुद्ध भावोंसे इस भीम (भयानक) संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण करता रहा ।

भावार्थः—यह प्राणी मैथुनसंज्ञामें आसक्त होकर गृहस्थपना आदिक अनेक उपायोंसे स्त्रीसेवनादिक अशुद्धभावोंसे अशुभ कार्योंमें प्रवर्तता है उससे इस भयानक संसारसमुद्रमें भ्रमण करता है इसलिये यह उपदेश है कि—दस प्रकारके अब्रह्मको

पूरणविरत पण भाव तुं नव अर्थ, तत्त्वो सातने ।
मुनि ! भाव जीवसमासने, गुणस्थान भाव तुं चौदने ॥ ९७ ॥

अब्रह्म दशविध टाली तुं प्रगटाव नवविध ब्रह्मने ।
रे ! मिथुनसंज्ञासक्त तें कर्युं भ्रमण भीम भवार्णवे ॥ ९८ ॥

छोड़कर नव प्रकारके ब्रह्मचर्यको अंगीकार करो। दस प्रकारके अब्रह्म ये हैं। १ पहिले तो स्त्रीका चिन्तन होना, २ पीछे देखनेकी चिंता होना, ३ पीछे निश्वास डालना, ४–पीछे ज्वर होना, ५ पीछे दाह होना, ६ पीछे कामकी रुचि होना, ७ पीछे मूर्च्छा होना, ८ पीछे उन्माद होना, ९ पीछे जीनेका संदेह होना, १० पीछे मरण होना, ऐसे दस प्रकारका अब्रह्म है।

नव प्रकारका ब्रह्मचर्य इसप्रकार है—नव कारणों से ब्रह्मचर्य बिगड़ता है, उनके नाम ये हैं। १ स्त्रीको सेवन करने की अभिलाषा, २ स्त्रीके अंगका स्पर्शन, ३ पुष्ट रसका सेवन, ४ स्त्रीसे संसक्त वस्तु शय्या आदिकका सेवन, ५ स्त्रीके मुख, नेत्र आदिकको देखना, ६ स्त्रीका सत्कार पुरस्कार करना, ७ पहिले किये हुए स्त्रीसेवनको याद करना, ८ आगामी स्त्रीसेवनकी अभिलाषा करना, ९ मनवांछित इष्ट विषयोंका सेवन करना ऐसे नव प्रकार हैं। इनका त्याग करना सो नवभेदरूप ब्रह्मचर्य है अथवा मन–वचन–काय, कृत–कारित–अनुमोदनासे ब्रह्मचर्यका पालन करना ऐसे भी नव प्रकार हैं। ऐसे करना सो भी भाव शुद्ध उपाय है ॥९८॥

आगे कहते हैं कि जो भाव सहित मुनि है सो आराधनाके चतुष्कको पाता है, भाव विना वह भी संसारमें भ्रमण करता है:—

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च।
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥९९॥

भावसहितश्च मुनिनः प्राप्नोति आराधनाचतुष्कं च।
भावरहितश्च मुनिवर! भ्रमति चिरं दीर्घसंसारे ॥९९॥

अर्थः—हे मुनिवर! जो भावसहित है सो दर्शन–ज्ञान–चारित्र–तप ऐसी आराधनाके चतुष्कको पाता है वह मुनियोंमें प्रधान है और जो भावरहित मुनि है सो बहुत काल तक दीर्घसंसारमें भ्रमण करता है।

भावार्थः—निश्चय सम्यक्त्वका शुद्ध आत्माका अनुभूतिरूप श्रद्धान है सो भाव है, ऐसे भावसहित हो उसके चार आराधना होती है उसका फल अरहन्त सिद्ध पद हैं

भावे सहित मुनिवर लहे आराधना चतुरंगने।
भावे रहित तो हे श्रमण! चिर दीर्घसंसारे भ्रमे ॥९९॥

और ऐसे भावसे रहित हो उसके आराधना नहीं होती है उसका फल संसारका भ्रमण है। ऐसा जानकर भाव शुद्ध करना यह उपदेश है ॥९९॥

आगे भावहीके फलको विशेषरूपसे कहते हैं:—

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥१००॥

प्राप्नुवंति भावश्रमणाः कल्याणपरंपराः सौख्यानि।
दुःखानि द्रव्यश्रमणाः नरतिर्यक्कुदेवयोनौ ॥१००॥

अर्थः—जो भावश्रमण हैं, भावमुनि हैं, वे जिनमें कल्याणकी परंपरा है ऐसे सुखोंको पाते हैं और जो द्रव्यश्रमण हैं वे तिर्यंच मनुष्य कुदेव योनिमें दुःखोंको पाते हैं।

भावार्थः—भावमुनि सम्यग्दर्शन सहित हैं वे तो सोलहकारण भावना भाकर गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण पंच कल्याणक सहित तीर्थंकर पद पाकर मोक्ष पाते हैं और जो सम्यग्दर्शन रहित द्रव्यमुनि हैं वे तिर्यंच, मनुष्य, कुदेव योनि पाते हैं। यह भावके विशेष से फलका विशेष है ॥१००॥

आगे कहते हैं कि अशुद्ध भावसे अशुद्ध ही आहार किया, इसलिये दुर्गति ही पाई:—

छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण।
पत्तो सि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥१०१॥

षट्चत्वारिंशद्दोषदूषितमशनं ग्रसितं अशुद्धभावेन।
प्राप्तः असि महाव्यसनं तिर्यग्गतौ अनात्मवशः ॥१०१॥

अर्थः—हे मुने! तूने अशुद्धभावसे छियालीस दोषोंसे दूषित अशुद्ध अशन (आहार) ग्रस्या (खाया) इस कारणसे तिर्यंचगतिमें पराधीन होकर महान (बड़े) व्यसन (कष्ट) को प्राप्त किया।

रे! भावमुनि कल्याणकोनी श्रेणियुत सौख्यो लहे;
ने द्रव्यमुनि तिर्यंच-मनुज-कुदेवमां दुःखो सहे ॥१००॥

अविशुद्ध भावे दोष छैंतालीस सह ग्रही अशनने।
तिर्यंचगति मध्ये तुं पाम्यो दुःख बहु परवशपणे ॥१०१॥

भावार्थः—मुनि छियालीस दोषरहित शुद्ध आहार करता है, बत्तीस अंतराय टालता है, चौदह मलदोषरहित करता है सो जो मुनि होकर सदोष आहार करे तो ज्ञात होता है कि इसके भाव भी शुद्ध नहीं हैं। उसको यह उपदेश है कि—हे मुने ! तूने दोष-सहित अशुद्ध आहार किया, इसलिये तिर्यंचगतिमें पहिले भ्रमण किया और कष्ट सहा, इसलिये भाव शुद्ध करके शुद्ध आहार कर जिससे फिर भ्रमण न करे। छियालीस दोषोंमें सोलह तो उद्गम दोष हैं, वे आहारके बननेके हैं, ये श्रावकके आश्रित हैं। सोलह उत्पादन दोष हैं, ये मुनिके आश्रित हैं। दस दोष एषणाके हैं, ये आहारके आश्रित हैं। चार प्रमाणादिक हैं। इनके नाम तथा स्वरूप 'मूलाचार', 'आचारसार' ग्रंथसे जानिये ॥१०१॥

आगे फिर कहते हैं:—

सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धीं दप्पेणऽधी पभुत्तूण।
पत्तो सि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत ॥१०२॥

सचित्तभक्तपानं गृद्धया दर्पेण अधीः प्रभुज्य।
प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं अनादिकालेन त्वं चिन्तय ॥१०२॥

अर्थः—हे जीव ! तू दुर्बुद्धि (अज्ञानी) होकर अतिचार सहित तथा अति-गर्व (उद्धतपने) से सचित्त भोजन तथा पान, जीवसहित आहार पानी लेकर अनादिकालसे तीव्र दुःखको पाया, उसका चिन्तवन कर—विचार कर।

भावार्थः—मुनिको उपदेश करते हैं कि अनादिकालसे जब तक अज्ञानी रहा जीवका स्वरूप नहीं जाना तब तक सचित्त (जीव सहित) आहार पानी करते हुए संसारमें तीव्र नरकादिकके दुःखको पाया। अब मुनि होकर भाव शुद्ध करके सचित्त आहार पानी मत करे, नहीं तो फिर पूर्ववत् दुःख भोगेगा ॥१०२॥

आगे फिर कहते हैं:—

तुं विचार रे !—तें दुःख तीव्र लह्यां अनादि कालथी।
करी अशन-पान सचित्तनां अज्ञान-गृद्धि-दर्पथी ॥१०२॥

कंदं मूलं बीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं।
असिऊण माणगव्वं भमिओ सि अणतसंसारे ॥१०३॥

कंदं मूलं बीजं पुष्पं पत्रादि किंचित् सचित्तम्।
अशित्वा मानगर्वे भ्रमितः असि अनंतसंसारे ॥ १०३ ॥

अर्थः—कंद जमींकंद आदिक, वीज चना आदि अन्नादिक, मूल अदरक मूली गाजर आदिक, पुष्प फूल, पत्र नागरवेल आदिक इनको आदि लेकर जो भी कोई सचित्त वस्तु थी उसे मान (गर्व) करके भक्षण की। उससे हे जीव! तूने अनंत संसारमें भ्रमण किया।

भावार्थः—कन्दमूलादिक सचित्त अनन्त जीवोंकी काय है तथा अन्य वनस्पति बीजादिक सचित्त हैं इनको भक्षण किया। प्रथम तो मान करके कि—हम तपस्वी हैं, हमारे घरवार नहीं है, वनके पुष्प फलादिक खाकर तपस्या करते हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि तपस्वी होकर मान करके खाये तथा गर्वसे उद्धत होकर दोष समझा नहीं, स्वच्छंद होकर सर्वभक्षी हुआ। ऐसे इन कंदादिकको खाकर इस जीवने संसारमें भ्रमण किया। अब मुनि होकर इनका भक्षण मत करे, ऐसा उपदेश है। अन्यमतके तपस्वी कंदमूलादिक फल फूल खाकर अपनेको महंत मानते हैं, उनका निषेध है ॥ १०३ ॥

आगे विनय आदिका उपदेश करते हैं, पहिले विनयका वर्णन है:—

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण।
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावंति ॥१०४॥

विनयः पंचप्रकारं पालय मनोवचनकाययोगेन।
अविनतनराः सुविहितां ततो मुक्तिं न प्राप्नुवंति ॥ १०४ ॥

कंई कंद-मूलो, पत्र-पुष्पो, बीज आदि सचित्तने।
तुं मान-मदथी खाईने भटकयो अनंत भवार्णवे ॥ १०३ ॥

रे! विनय पांच प्रकारनो तुं पाल मन-वच-तन वडे।
नर होय जे अविनीत ते पामे न सुविहित मुक्तिने ॥ १०४ ॥

अर्थः—हे मुने ! जिस कारणसे अविनयी मनुष्य भले प्रकार विहित जो मुक्ति उसको नहीं पाते हैं अर्थात् अभ्युदय तीर्थंकरादि सहित मुक्ति नहीं पाते हैं इसलिए हम उपदेश करते हैं कि—हाथ जोड़ना, चरणोंमें गिरना, आने पर उठना, सामने जाना और अनुकूल वचन कहना यह पांच प्रकारका विनय है अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और इनके धारक पुरुष इनका विनय करना ऐसे पांच प्रकारके विनयको तू मन वचन काय तीनों योगोंसे पालन कर।

भावार्थः—विनय बिना मुक्ति नहीं है, इसलिये विनयका उपदेश है। विनयमें बड़े गुण हैं, ज्ञानकी प्राप्ति होती है, मानकषायका नाश होता है, शिष्टाचारका पालना है और कलहका निवारण है इत्यादि विनयके गुण जानने। इसलिये जो सम्यग्दर्शनादिसे महान् हैं उनका विनय करो यह उपदेश है और जो विनय बिना जिनमार्गसे भ्रष्ट भये वस्त्रादिकसहित जो मोक्षमार्ग मानने लगे उनका निषेध है ।।१०४।।

आगे भक्तिरूप वैयावृत्यका उपदेश करते हैंः—

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ।।१०५।।

निजशक्त्या महायशः! भक्तिरागेण नित्यकाले।
त्वं कुरु जिनभक्तिपरं वैयावृत्यं दशविकल्पम् ।।१०५।।

अर्थः—हे महायश! हे मुने! जिनभक्तिमें तत्पर होकर भक्तिके रागपूर्वक उस दस भेदरूप वैयावृत्यको सदाकाल तू अपनी शक्तिके अनुसार कर। 'वैयावृत्य'के दूसरे दुःख (कष्ट) आने पर उसकी सेवा चाकरी करनेको कहते हैं। इसके दस भेद हैं— १ आचार्य, २ उपाध्याय, ३ तपस्वी, ४ शैक्ष्य, ५ ग्लान, ६ गण, ७ कुल, ८ संघ, ९ साधु, १० मनोज्ञ ये दस मुनिके हैं। इनका वैयावृत्य करते हैं इसलिये दस भेद कहे हैं ।।१०५।।

आगे अपने दोषको गुरुके पास कहना, ऐसी गर्हाका उपदेश करते हैंः—

तुं हे महायश! भक्तिराग वडे स्वशक्तिप्रमाणमां।
जिनभक्तिरत दशभेद वैयावृत्त्यने आचर सदा ।।१०५।।

जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेणं।
तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥१०६॥

यः कश्चित् कृतः दोषः मनोवचः कायैः अशुभभावेन।
तं गर्हं गुरुसकाशे गारवं मायां च मुक्त्वा ॥१०६॥

अर्थः—हे मुने ! जो कुछ मन वचन कायके द्वारा अशुभ भावोंसे प्रतिज्ञामें दोष लगा हो उसको गुरुके पास अपना गौरव (महंतपनेका गर्व) छोड़कर और माया (कपट) छोड़कर मन वचन कायको सरल करके गर्हा कर अर्थात् वचन द्वारा प्रकाशित कर।

भावार्थः—अपने कोई दोष लगा हो और निष्कपट होकर गुरुको कहे तो वह दोष निवृत्त हो जावे। यदि आप शल्यवान रहे तो मुनिपदमें यह बड़ा दोष है, इसलिये अपना दोष छिपाना नहीं, जैसा हो वैसा सरलबुद्धिसे गुरुओंके पास कहे तब दोष मिटे, यह उपदेश है। कालके निमित्तसे मुनिपदसे भ्रष्ट भये, पीछे गुरुओंके पास प्रायश्चित नहीं लिया, तब विपरीत होकर अलग सम्प्रदाय बना लिए, ऐसे विपर्यय हुआ ॥१०६॥

आगे क्षमाका उपदेश करते हैं:—

दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा।
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा ॥१०७॥

दुर्जनवचनपेटां निष्ठुरकटुकं सहन्ते सत्पुरुषाः।
कर्ममलनाशनार्थं भावेन च निर्ममाः श्रमणाः ॥१०७॥

अर्थः—सत्पुरुष मुनि हैं वे दुर्जनके वचनरूप चपेट जो निष्ठुर (कठोर) दयारहित और कटुक (सुनते ही कानोंको कड़े शूल समान लगे) ऐसी चपेट है उसको सहते हैं। वे किसलिये सहते हैं ? कर्मोंका नाश होनेके लिये सहते हैं। पहिले

तें अशुभ भावे मन-वचन-तनथी कर्या कंई दोष जे।
कर गर्हणा गुरुनी समीपे गर्व-माया छोडीने ॥१०६॥

दुर्जन तणी निष्ठुर-कटुक वचनोरूपी थप्पड सहे।
सत्पुरुष निर्ममभावयुत-मुनि कर्ममलक्षयहेतुए ॥१०७॥

अशुभ-कर्म बाँधे थे उसके निमित्तसे दुर्जनने कटुक वचन कहे, आपने सुने, उसको उपशम परिणामसे आप सहे तब अशुभकर्म उदय होय खिर गये। ऐसे कटुकवचन सहनेसे कर्मका नाश होता है।

ये मुनि सत्पुरुष कैसे हैं ? अपने भावसे वचनादिकसे निर्ममत्व हैं, वचनसे तथा मानकषायसे और देहादिकसे ममत्व नहीं है। ममत्व हो तो दुर्वचन सहे न जावें, यह न जाने कि इसने मुझे दुर्वचन कहे, इसलिये ममत्वके अभावसे दुर्वचन सहते हैं। अतः मुनि होकर किसी पर क्रोध नहीं करना यह उपदेश है। लौकिकमें भी जो बड़े पुरुष हैं वे दुर्वचन सुनकर क्रोध नहीं करते हैं, तब मुनिको सहना उचित ही है। जो क्रोध करते हैं वे कहनेके तपस्वी हैं, सच्चे तपस्वी नहीं हैं ॥१०७॥

आगे क्षमाका फल कहते हैं:—

पावं खवइ असेस खमाए पडिमंडिओ य मुणिपवरो।
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होइ ॥ १०८ ॥

पापं क्षिपति अशेषं क्षमया परिमंडितः च मुनिप्रवरः।
खेचरामरनराणां प्रशंसनीयः ध्रुवं भवति ॥१०८॥

अर्थः—जो मुनिप्रवर (मुनियोंमें श्रेष्ठ प्रधान) क्रोधके अभावरूप क्षमासे मंडित है वह मुनि समस्त पापोंका क्षय करता है और विद्याधर देव मनुष्यों द्वारा प्रशंसा करने योग्य निश्चयसे होता है।

भावार्थः—क्षमा गुण बड़ा प्रधान है, इससे सबके स्तुति करने योग्य पुरुष होता है। जो मुनि हैं उनके उत्तम क्षमा होती है, वे तो सब मनुष्य देव विद्याधरोंके स्तुतियोग्य होते ही हैं और उनके सब पापोंका क्षय होता ही है, इसलिये क्षमा करना योग्य है ऐसा उपदेश है। क्रोधी सबके निंदा करने योग्य होता है, इसलिये क्रोधका छोड़ना श्रेष्ठ है ॥१०८॥

आगे ऐसे क्षमागुणको जानकर क्षमा करना और क्रोध छोड़ना ऐसा कहते हैं:—

मुनिप्रवर परिमंडित क्षमाथी पाप निःशेषे दहे।
नर-अमर-विद्याधर तणा स्तुतिपात्र छे निश्चितपणे ॥१०८॥

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयल जीवाणं।
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह ॥१०९॥

इति ज्ञात्वा क्षमागुण ! क्षमस्व त्रिविधेन सकलजीवान् ।
चिरसंचितक्रोधशिखिनं वरक्षमासलिलेन सिंच ॥ १०९ ॥

अर्थः—हे क्षमागुण मुने ! (जिसके क्षमागुण है ऐसे मुनिका संबोधन है) इति अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार क्षमागुणको जान और सब जीवों पर मन वचन कायसे क्षमा कर तथा बहुतकालसे संचित क्रोधरूपी अग्निको क्षमारूप जलसे सींच अर्थात् शमन कर।

भावार्थः—क्रोधरूपी अग्नि पुरुषके भले गुणोंको दग्ध करने वाली है और परजीवोंका घात करनेवाली है, इसलिये इसको क्षमारूप जलसे बुझाना, अन्य प्रकार यह बुझती नहीं है और क्षमा गुण सब गुणोंमें प्रधान है। इसलिये यह उपदेश है कि क्रोधको छोड़कर क्षमा ग्रहण करना ॥ १०९ ॥

आगे दीक्षाकालादिककी भावनाका उपदेश करते हैं:—

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो।
उत्तमबोहिणिमित्तं असारसाराणि मुणिऊण ॥ ११० ॥

दीक्षाकालादिकं भावय अविकारदर्शनविशुद्धः ।
उत्तमबोधिनिमित्तं असारसाराणि ज्ञात्वा ॥११०॥

अर्थः—हे मुने ! तू संसारको असार जानकर उत्तमबोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्राप्तिके निमित्त अविकार अर्थात् अतिचाररहित निर्मल सम्यग्दर्शन सहित होकर दीक्षाकाल आदिककी भावना कर।

भावार्थः—दीक्षा लेते हैं तब संसार, (शरीर) भोगको (विशेषतया) असार जानकर अत्यंत वैराग्य उत्पन्न होता है वैसे ही उसके आदिशब्दसे रोगोत्पत्ति, मरण–कालादिक जानना। उस समयमें जैसे भाव हों वैसे ही संसारको असार जानकर विशुद्ध

तेथी क्षमागुणधर ! क्षमा कर जीव सौने त्रणविधे।
उत्तमक्षमाजल सींच तुं चिरकालना क्रोधाग्निने ॥१०९॥

सुविशुद्धदर्शनधरपणे वरबोधि केरा हेतुए।
चिंतव तुं दीक्षाकाल–आदिक, जाणी सार–असारने ॥११०॥

सम्यग्दर्शन सहित होकर उत्तमबोधि जिससे केवलज्ञान उत्पन्न होता है उसके लिये दीक्षाकालादिककी निरन्तर भावना करना योग्य है, ऐसा उपदेश है ॥११०॥

[**निरन्तर स्मरणमें रखना:**—क्या ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी वृद्धि हेतु हे मुनि ! दीक्षाके समयकी अपूर्व उत्साहमय तीव्र विरक्त दशाको; किसी रोगोत्पत्तिके समयकी उग्र ज्ञान-वैराग्य, संपत्तिको, किसी दुःखके अवसर पर प्रगट हुई उदासीनताकी भावनाको किसी उपदेश तथा तत्त्वविचारके धन्य अवसर पर जगी पवित्र अंत: भावनाको स्मरणमें रखना, निरन्तर स्वसन्मुखज्ञातापनका धीरज अर्थ स्मरणमें रखना, भूलना नहीं । (इस गाथाका विशेष भावार्थ)]

आगे भावलिंग शुद्ध करके द्रव्यलिंग सेवनका उपदेश करते हैं:—

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो ।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥१११॥

सेवस्व चतुर्विधलिंगं अभ्यंतरलिंगशुद्धिमापन्नः ।
बाह्यलिंगमकार्यं भवति स्फुटं भावरहितानाम् ॥१११॥

अर्थः—हे मुनिवर ! तू अभ्यंतरलिंगकी शुद्धि अर्थात् शुद्धताको प्राप्त होकर चार प्रकारके बाह्यलिंगका सेवन कर, क्योंकि जो भावरहित होते हैं उनके प्रगटपने बाह्यलिंग अकार्य है अर्थात् कार्यकारी नहीं है।

भावार्थः—जो भावकी शुद्धतासे रहित हैं, जिनके अपनी आत्माका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान, आचरण नहीं है, उनके बाह्यलिंग कुछ कार्यकारी नहीं है, कारण पाकर तत्काल बिगड़ जाते हैं, इसलिये यह उपदेश है— पहिले भावकी शुद्धता करके द्रव्यलिंग धारण करो। यह द्रव्यलिंग चार प्रकारका कहा है, उसकी सूचना इसप्रकार है—१—मस्तकके, २—डाढ़ीके और ३—मूछोंके केशोंका लोच करना, तीन चिह्न तो ये और —चौथा नीचेके केश रखना; अथवा १. वस्त्रका त्याग, २. केशोंका लोच करना, ३. शरीरका स्नानादिसे संस्कार न करना, ४. प्रतिलेखन मयूरपिच्छिका रखना. ऐसे भी चार प्रकारका बाह्यलिंग कहा है। ऐसे सब बाह्य वस्त्रादिकसे रहित नग्न रहना,

---

करी प्राप्त आंतरलिंगशुद्धि सेव चउविध लिंगने।
छे बाह्यलिंग अकार्य भावविहीनने निश्चितपणे ॥१११॥

ऐसा नग्नरूप भावविशुद्धि बिना हँसीका स्थान है और कुछ उत्तम फल भी नही है ॥१११॥

आगे कहते हैं कि भाव बिगड़नके कारण चार संज्ञा हैं, उनसे संसार-भ्रमण होता है, यह दिखाते हैं:—

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओ सि तुमं।
भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥११२॥

आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाभिः मोहितः असि त्वम् ।
भ्रमितः संसारवने अनादिकालं अनात्मवशः ॥११२॥

अर्थः—हे मुने ! तूने आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, इन चार संज्ञाओंसे मोहित होकर अनादिकालसे पराधीन होकर संसाररूप वनमें भ्रमण किया।

भावार्थः—'संज्ञा' नाम वांछाके जागते रहने (अर्थात् बने रहने) का है सो आहारकी वांछा होना, भय होना, मैथुनकी वांछा होना और परिग्रहकी वांछा प्राणीके निरन्तर बनी रहती है, यह जन्मान्तरमें चली जाती है, जन्म लेते ही तत्काल प्रगट होती है। इसीके निमित्तसे कर्मोंका बंध कर संसारवनमें भ्रमण करता है, इसलिये मुनियोंको यह उपदेश है कि अब इन संज्ञाओंका अभाव करो ॥११२॥

आगे कहते हैं कि बाह्य उत्तरगुणकी प्रवृत्ति भी भाव शुद्ध करके करना:—

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि।
पालहि भावविशुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥११३॥

बहिःशयनातापनतरुमूलादीन् उत्तरगुणान् ।
पालय भावविशुद्धः पूजालाभं न ईहमानः ॥११३॥

अर्थः—हे मुनिवर ! तूं भावसे विशुद्ध होकर पूजालाभादिकको नहीं

आहार-भय-परिग्रह-मिथुनसंज्ञा थकी मोहितपणे।
तुं परवशे भटक्यो अनादि कालथी भवकानने ॥११२॥

तरुमूल, आतापन, बहिःशयनादि उत्तरगुणने।
तुं शुद्ध भावे पाल, पूजालाभथी निःस्पृहपणे ॥११३॥

चाहते हुए बाह्यशयन, आतापन, वृक्षमूलयोग धारण करना इत्यादि उत्तरगुणोंका पालन कर।

भावार्थः—शीतकालमें बाहर खुले मैदानमें सोना बैठना, ग्रीष्मकालमें पर्वतके शिखर पर सूर्यसन्मुख आतापनयोग धरना, वर्षाकालमें वृक्षके नीचे योग धरना जहाँ बूंदें वृक्षपर गिरनेके बाद एकत्र होकर शरीर पर गिरें। इसमें कुछ प्रासुकका भी संकल्प है और बाधा बहुत है, इनको आदि लेकर यह उत्तरगुण हैं, इनका पालन भी भाव शुद्ध करके करना। भावशुद्धि बिना करे तो तत्काल बिगड़े और फल कुछ नहीं है, इसलिये भाव शुद्ध करके करनेका उपदेश है। ऐसा न जानना कि इनको बाह्यमें करनेका निषेध करते हैं। इनको भी करना और भाव भी शुद्ध करना यह आशय है। केवल पूजालाभादिके लिए अपना बड़प्पन दिखानेके लिये करे तो कुछ फल (लाभ) की प्राप्ति नहीं है ॥११३॥

आगे तत्त्वकी भावना करनेका उपदेश करते हैंः—

भावहि पढमं तच्चं बिदियं तदियं चउत्थ पंचमयं।
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥११४॥

भावय प्रथमं तत्त्वं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पंचमकम्।
त्रिकरणशुद्धः आत्मानं अनादिनिधनं त्रिवर्गहरम् ॥११४॥

अर्थः—हे मुने! तू प्रथम जो जीवतत्त्व उसका चिन्तन कर, द्वितीय अजीवतत्त्वका चिन्तन कर, तृतीय आस्रवतत्त्वका चिन्तन कर, चतुर्थ बन्धतत्त्वका चिन्तन कर, पचम संवरतत्त्वका चिन्तन कर और त्रिकरण अर्थात् मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदनासे शुद्ध होकर आत्मस्वरूपका चिन्तन कर जो आत्मा अनादिनिधन है और त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम इनको हरनेवाला है।

भावार्थ—प्रथम **'जीवतत्त्व'** की भावना तो 'सामान्य जीव' दर्शन—ज्ञानमयी चेतना स्वरूप है, उसकी भावना करना। **पीछे ऐसा मैं हूँ इसप्रकार आत्मतत्त्वकी भावना**

तुं भाव प्रथम, द्वितीय, त्रीजा, तुर्य, पंचम तत्त्वने।
आद्यंतरहित त्रिवर्गहर जीवने, त्रिकरणविशुद्धिए ॥११४॥

करना। दूसरा **'अजीवतत्त्व'** है सो सामान्य अचेतन जड़ है, यह पाँच भेदरूप पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल है इनका विचार करना। पीछे भावना करना कि ये हैं वह मैं नहीं हूँ। तीसरा **'आस्रवतत्त्व'** है वह जीव–पुद्गलके संयोग जनित भाव है, इनमें अनादि कर्मसम्बन्धसे जीवके भाव (भाव आस्रव) तो राग–द्वेप–मोह हैं और अजीव पुद्गलके भावकर्मके उदयरूप मिथ्यात्व अविरत, कषाय और योग द्रव्यास्रव हैं। इनकी भावना करना कि ये (–असद्भूत व्यवहारनय अपेक्षा) मुझे होते हैं, [अशुद्ध निश्चयनयसे] रागद्वेपमोह भाव मेरे हैं इनसे कर्मोंका बन्ध होता है, उससे संसार होता है इसलिये इनका कर्त्ता न होना–[स्वमें अपने ज्ञाता रहना]।

चौथा **'बंधतत्त्व'** है वह मैं रागद्वेषमोहरूप परिणमन करता हूँ वह तो मेरी चेतनाका विभाव है, इससे जो बँधते हैं वे पुद्गल हैं, कर्म पुद्गल है, कर्म पुद्गल ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार होकर बँधता है, वे स्वभाव–प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेशरूप चार प्रकार होकर बँधते हैं, वे मेरे विभाव तथा पुद्गल कर्म सब हेय हैं, संसारके कारण हैं, मुझे रागद्वेष मोहरूप नहीं होना है, इसप्रकार भावना करना।

पाँचवाँ **'संवर तत्त्व'** है वह रागद्वेपमोहरूप जीवके विभाव हैं, उनका न होना और दर्शन–ज्ञानरूप चेतनाभाव स्थिर होना यह **'संवर'** है, वह अपना भाव है और इसीसे पुद्गलकर्मजनित भ्रमण मिटता है।

इसप्रकार इन पांच तत्त्वोंकी भावना करनेमें आत्मतत्त्वकी भावना प्रधान है उससे कर्मकी निर्जरा होकर मोक्ष होता है। आत्माका भाव अनुक्रमसे शुद्ध होना यह तो **'निर्जरा तत्त्व'** हुआ और सब कर्मोंका अभाव होना यह **'मोक्षतत्त्व'** हुआ। इसप्रकार सात तत्त्वोंकी भावना करना। इसीलिये आत्मतत्त्वका विशेषण किया कि आत्मतत्त्व कैसा है–धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गका अभाव करता है। इसकी भावनासे त्रिवर्गसे भिन्न चौथा पुरुषार्थ **'मोक्ष'** है वह होता है। यह आत्मा ज्ञान–दर्शनमयी चेतनास्वरूप अनादिनिधन है, इसका आदि भी नहीं और निधन (नाश) भी नहीं है। **'भावना'** नाम वारवार अभ्यास करना; चिन्तन करनेका है वह मन–वचन–कायसे आप करना तथा दूसरेको कराना और करनेवालेको भला जानना ऐसे त्रिकरण शुद्ध करके भावना करना। माया–निदान शल्य नहीं रखना, ख्याति, लाभ, पूजाका आशय न रखना। इसप्रकारसे तत्त्वकी भावना करने से भाव शुद्ध होते हैं।

स्त्री आदि पदार्थ ऊपरसे भेद ज्ञानीका विचार।

इसका उदाहरण इसप्रकार है कि जब स्त्री आदि इन्द्रियगोचर हों (दिखाई दे) तब उसके विषयमें तत्त्व विचार करना कि यह स्त्री है वह क्या है? जीवनामक तत्त्वकी एक पर्याय है, इसका शरीर है वह तो पुद्गलतत्त्वकी पर्याय है, यह हावभाव चेष्टा करती है, वह इस जीवके विकार हुआ है यह आस्रवतत्त्व है और बाह्य चेष्टा पुद्गलकी है, इस विकारसे इस स्त्रीकी आत्माके कर्मका बन्ध होता है। यह विकार इसके न हो तो 'आस्रव' 'बन्ध' इसके न हो। कदाचित् मैं भी इसको देखकर विकाररूप परिणमन करूँ तो मेरे भी 'आस्रव' 'बन्ध' हो। इसलिये मुझे विकार-रूप न होना यह 'संवर तत्त्व' है। बन सके तो कुछ उपदेश देकर इसका विकार दूर करूं [ऐसा विकल्प राग है,] वह राग भी करने योग्य नहीं है—स्व सन्मुख ज्ञातापनेमें धैर्य रखना योग्य है इसप्रकार तत्त्वकी भावनासे अपना भाव अशुद्ध नहीं होता है इसलिये जो दृष्टिगोचर पदार्थ हों उनमें इसप्रकार तत्त्वकी भावना रखना, यह तत्त्वकी भावनाका उपदेश है ॥११४॥

आगे कहते हैं कि ऐसे तत्त्वकी भावना जब तक नहीं है तब तक मोक्ष नहीं है:—

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥११५॥

यावन्न भावयति तत्त्वं यावन्न चिंतयति चिंतनीयानि।
तावन्न प्राप्नोति जीवः जरामरणविवर्जितं स्थानम् ॥११५॥

अर्थः—हे मुने! जबतक वह जीवादि तत्त्वोंको नहीं भाता है और चिन्तन करने योग्यका चिन्तन नहीं करता है तब तक जरा और मरणसे रहित मोक्ष स्थानको नहीं पाता है।

भावार्थः—तत्त्वकी भावना तो पहिले कही वह चिन्तन करनेयोग्य धर्मशुक्ल-ध्यानका विषयभूत जो ध्येय वस्तु अपना शुद्ध दर्शनज्ञानमयी चेतनाभाव और ऐसा ही

भावे न ज्यां लगी तत्त्व, ज्यां लगी चिंतनीय न चिंतवे।
जीव त्यां लगी पामे नहीं जर-मरणवर्जित स्थानने ॥११५॥

अरहंत सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप उसका चिन्तन जब तक इस आत्माके न हो तब तक संसारसे निवृत्त होना नहीं है, इसलिये तत्त्वकी भावना और शुद्धस्वरूपके ध्यानका उपाय निरन्तर रखना यह उपदेश है ॥ ११५ ॥

आगे कहते हैं कि पाप–पुण्यका और बन्ध–मोक्षका कारण परिणाम ही है:—

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा ।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥११६॥

पापं भवति अशेषं पुण्यमशेषं च भवति परिणामात् ।
परिणामाद्बंधः मोक्षः जिनशासने दृष्टः ॥११६॥

अर्थः—पाप–पुण्य, बंध–मोक्षका कारण परिणाम ही को कहा है। जीवके मिथ्यात्व, विषय–कषाय, अशुभलेश्यारूप तीव्र परिणाम होते हैं, उनसे तो पापास्रवका बंध होता है। परमेष्ठीकी भक्ति, जीवों पर दया इत्यादिक मंदकषाय शुभलेश्यारूप परिणाम होते हैं, इससे पुण्यास्रवका बंध होता है। शुद्धपरिणामरहित विभावरूप परिणामसे बंध होता है। शुद्धभावके सन्मुख रहना, उसके अनुकूल शुभ परिणाम रखना, अशुभ परिणाम सर्वथा दूर करना, यह उपदेश है ॥ ११६ ॥

आगे पुण्य–पापका बंध जैसे भावोंसे होता है, उनको कहते हैं। पहिले पाप-बंधके परिणाम कहते हैं:—

मिच्छत्त तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं ।
बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥११७॥

मिथ्यात्वं तथा कषायासंयमयोगैः अशुभलेश्यैः ।
बध्नाति अशुभं कर्म जिनवचनपराङ्मुखः जीवः ॥११७॥

अर्थः—मिथ्यात्व, कषाय, असंयम और योग जिनमें अशुभलेश्या पाई जाती है इसप्रकारके भावोंसे यह जीव जिनवचनसे पराङ्मुख होता है—अशुभकर्मको बाँधता है

रे! पाप सघळुं, पुण्य सघळुं थाय छे परिणामथी ।
परिणामथी छे बंध तेम ज मोक्ष जिनशासन महीं ॥११६॥

मिथ्या–कषाय–अविरति–योग अशुभलेश्यान्वित वडे ।
जिनवचपराङ्मुख आतमा बांधे अशुभरूप कर्मने ॥११७॥

वह पाप ही बाँधता है।

भावार्थः—'**मिथ्यात्वभाव**' तत्त्वार्थका श्रद्धानरहित परिणाम है। '**कषाय**' क्रोधादिक हैं। '**असंयम**' परद्रव्यके ग्रहणरूप है त्यागरूप भाव नहीं, इसप्रकार इन्द्रियोंके विषयोंसे प्रीति और जीवोंकी विराधनासहित भाव है। '**योग**' मन–वचन–कायके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंका चलना है। ये भाव जब तीव्र कषाय सहित कृष्ण, नील, कापोत अशुभ लेश्यारूप हों तब इस जीवके पापकर्मका बंध होता है। पापबंध करनेवाला जीव कैसा है? उसके जिनवचनकी श्रद्धा नहीं है। इस विशेषणका आशय यह है कि अन्यमतके श्रद्धानीके जो कदाचित् शुभलेश्याके निमित्तसे पुण्यका भी बंध हो तो उसको पापहीमें गिनते हैं। जो जिनआज्ञामें प्रवर्तता है उसके कदाचित् पाप भी बँधे तो वह पुण्यजीवोंकी ही पंक्तिमें गिना जाता है, मिथ्यादृष्टिको पापी जीवोंमें माना है और सम्यग्दृष्टिको पुण्यवान् जीवोंमें माना है। इसप्रकार पापबंधके कारण कहे ॥११७॥

आगे इससे उलटा जीव है वह पुण्य बांधता है, ऐसा कहते हैं:—

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो।
दुविहपयारं बंधइ संखेपेणेव वज्जरियं ॥११८॥

तद्विपरीतः बध्नाति शुभकर्म भावशुद्धिमापन्नः।
द्विविधप्रकारं बध्नाति संक्षेपेणैव कथितम् ॥११८॥

अर्थः—उस पूर्वोक्त जिनवचनका श्रद्धानी मिथ्यात्वरहित सम्यग्दृष्टि जीव शुभकर्मको बाँधता है जिसने कि—भावोंमें विशुद्धि प्राप्त की है। ऐसे दोनों प्रकारके जीव शुभाशुभ कर्मको बाँधते हैं, यह संक्षेपसे जिनभगवानने कहा है।

भावार्थः—पहिले कहा था कि जिनवचनसे पराङ्मुख मिथ्यात्व सहित जीव है, उससे विपरीत जिन आज्ञाका श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि जीव विशुद्धभावको प्राप्त होकर शुभकर्मको बाँधता है, क्योंकि इसके सम्यक्त्वके माहात्म्यसे ऐसे उज्ज्वल भाव हैं जिनसे मिथ्यात्वके साथ बँधनेवाली पापप्रकृतियोंका अभाव है। कदाचित् किंचित् कोई पाप

विपरीत तेथी भावशुद्धिप्राप्त बांधे शुभ कर्मने।
—ए रीत बांधे अशुभ-शुभ; संक्षेपथी ज कहेल छे ॥११८॥

प्रकृति बँधती है तो उनका अनुभाग मंद होता है, कुछ तीव्र पापफलका दाता नहीं होता। इसलिये सम्यग्दृष्टि शुभकर्महीको बाँधनेवाला है इसप्रकार शुभ–अशुभ कर्मके बंधका संक्षेपसे विधान सर्वज्ञदेवने कहा है, वह जानना चाहिये ।।११८।।

आगे कहते हैं कि हे मुने! तू ऐसी भावना कर:—

णाणावरणादीहिं य अट्ठहिं कम्मेहिं वेढिओ य अहं।
डहिऊण इण्हिं पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तां ।।११९।।

ज्ञानावरणादिभिः च अष्टभिः कर्मभिः वेष्टितश्च अहं।
दग्ध्वा इदानीं प्रकटयामि अनन्तज्ञानादिगुणचेतनां ।।११९।।

अर्थः—हे मुनिवर! तू ऐसी भावना कर कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे वेष्ठित हूँ, इसलिये इनको भस्म करके अनन्तज्ञानादि गुण जिनस्वरूप चेतनाको प्रगट करूँ।

भावार्थः—अपनेको कर्मोंसे वेष्ठित माने और उनसे अनन्तज्ञानादि गुण आच्छादित माने तब उन कर्मोंके नाश करनेका विचार करे, इसलिये कर्मोंके बंधकी और उनके अभावकी भावना करनेका उपदेश है। कर्मोंका अभाव शुद्धस्वरूपके ध्यानसे होता है, उसीके करनेका उपदेश है।

कर्म आठ हैं—१–ज्ञानावरण, २–दर्शनावरण, ३–मोहनीय, ४–अंतराय ये चार घातिया कर्म हैं, इनकी प्रकृति सैंतालीस हैं, केवलज्ञानावरणसे अनन्तज्ञान आच्छादित है, केवलदर्शनावरणसे अनन्तदर्शन आच्छादित है, मोहनीयसे अनन्तसुख प्रगट नहीं होता है और अंतरायसे अनन्तवीर्य प्रगट नहीं होता है, इसलिये इनका नाश करो। चार अघातिकर्म हैं इनसे अव्याबाध, अगुरुलघु, सूक्ष्मता और अवगाहना ये गुण (–की निर्मल पर्याय) प्रगट नहीं होते हैं, इन अघातिकर्मोंकी प्रकृति एकसौ एक हैं। घातिकर्मोंका नाश होने पर अघातिकर्मोंका स्वयमेव अभाव हो जाता है, इसप्रकार जानना चाहिये ।।११९।।

आगे इन कर्मोंका नाश होनेके लिये अनेक प्रकारका उपदेश है, उसको संक्षेप से कहते हैं:—

वेष्टित छुं हुं ज्ञानावरणकर्मादि कर्माष्टक वडे।
बाळी, हुं प्रगटावुं अमितज्ञानादिगुणवेदन हवे ।।११९।।

सीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥ १२० ॥

शीलसहस्राष्टादश चतुरशीतिगुणगणानां लक्षाणि।
भावय अनुदिनं निखिलं असत्प्रलापेन किं बहुना ॥ १२० ॥

अर्थः—शील अठारह हजार भेदरूप है और उत्तरगुण चौरासी लाख हैं। आचार्य कहते हैं कि हे मुने! बहुत झूंठे प्रलापरूप निरर्थक वचनोंसे क्या? इन शीलोंको और उत्तरगुणोंको सबको तू निरन्तर भा, इनकी भावना–चिन्तन–अभ्यास निरन्तर रख, जैसे इनकी प्राप्ति हो वैसे ही कर।

भावार्थ—'आत्मा–जीव' नामक वस्तु अनन्तधर्मस्वरूप है। संक्षेपसे इसकी दो परिणति हैं, एक स्वाभाविक एक विभावरूप। इनमें स्वाभाविक तो शुद्धदर्शनज्ञान–मयी चेतनापरिणाम है और विभावपरिणाम कर्मके निमित्तसे है। ये प्रधानरूपसे तो मोहकर्मके निमित्तसे हुए हैं। संक्षेपसे मिथ्यात्व रागद्वेष हैं, इनके विस्तारसे अनेक भेद हैं। अन्य कर्मोंके उदयसे विभाव होते हैं उनमें पौरुष प्रधान नहीं है, इसलिये उपदेश-अपेक्षा वे गौण हैं इसप्रकार ये शील और उत्तरगुण स्वभावविभाव परिणतिके भेदसे भेदरूप करके कहे हैं।

शीलकी प्ररूपणा दो प्रकारका है—एक तो स्वद्रव्य–परद्रव्यके विभागकी अपेक्षा है और दूसरे स्त्रीके संसर्गकी अपेक्षा है। परद्रव्यका संसर्ग मन, वचन, कायसे और कृत, कारित, अनुमोदनासे न करना। इनको आपसमें गुणा करनेसे नौ भेद होते हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञा हैं, इनसे परद्रव्यका संसर्ग होता है उसका न होना, ऐसे नौ भेदोंको चार संज्ञाओंसे गुणा करनेपर छत्तीस होते हैं। पांच इन्द्रियोंके निमित्तसे विषयोंका संसर्ग होता है, उनकी प्रवृत्तिके अभावरूप पांच इन्द्रियोंसे छत्तीसको गुणा करने पर एकसौ अस्सी होते हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक, साधारण ये तो एकेन्द्रिय और दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ऐसे दशभेदरूप जीवोंका संसर्ग, इनकी हिंसारूप प्रवर्तनेसे परिणाम विभावरूप होते हैं

चोराशी लाख गुणो, अढार हजार भेदो शीलना !
—सघलुंय प्रतिदिन भाव; बहु प्रलपन निरर्थथी शुं भला ॥१२०॥

सो न करना, ऐसे एकसौ अस्सी भेदोंको दससे गुणा करने पर अठारहसौ होते हैं। क्रोधादिक कषाय और असंयम परिणामसे परद्रव्यसबंधी विभावपरिणाम होते हैं उनके अभावरूप दसलक्षण धर्म है, उनसे गुणा करनेसे **अठारह हजार** होते हैं। ऐसे परद्रव्यके संसर्गरूप कुशीलके अभावरूप शीलके अठारह हजार भेद हैं। इनके पालनेसे परम ब्रह्मचर्य होता है, ब्रह्म (आतमा) में प्रवर्तने और रमनेको 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं।

स्त्रीके संसर्गकी अपेक्षा इसप्रकार है—स्त्री दो प्रकारकी है अचेतन स्त्री काष्ठ पाषाण लेप (चित्राम) ये तीन, इनका मन और काय दो से संसर्ग होता है, यहाँ वचन नहीं है इसलिये दो से गुणा करने पर छह होते हैं। कृत, कारित, अनुमोदनासे गुणा करने पर अठारह होते हैं। पांच इन्द्रियोंसे गुणा करने पर नब्बे होते हैं। द्रव्य–भावसे गुणा करने पर एकसौ अस्सी होते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंसे गुणा करने पर सातसौ बीस होते हैं। चेतन स्त्री देवी, मनुष्यिणी, तिर्यचणी ऐसे तीन, इन तीनोंको मन, वचन, कायसे गुणा करने पर नौ होते हैं। इनको कृत, कारित, अनुमोदनासे गुणा करने पर सत्ताईस होते हैं। इनको पाँच इन्द्रियोंसे गुणा करने पर एकसौ पैंतीस होते हैं। इनको द्रव्य और भाव इन दो से गुणा करने पर दो सौ सत्तर होते हैं। इनको चार संज्ञासे गुणा करनेपर एक हजार अस्सी होते हैं। इनको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इन सोलह कषायोंसे गुणा करने पर सत्रह हजार दो सौ अस्सी होते हैं। ऐसे अचेतनस्त्रीके सातसौ बीस मिलानेपर ***अठारह हजार** होते हैं। ऐसे स्त्रीके संसर्गसे विकार परिणाम होते हैं सो कुशील है, इनके अभावरूप परिणाम शील है इसकी भी 'ब्रह्मचर्य' संज्ञा है।

---

*अचेतन : स्त्री	काष्ठ, पाषाण चित्राम	मन काय	कृत कारित अनुमोदना	इन्द्रियाँ ५	द्रव्य भाव	क्रोध, मान, माया, लोभ,	
	३ ×	[illegible] ×	३ ×	५ ×	२ ×	४	=७२०

चेतन : स्त्री	देवी मनुष्यिणी तिर्यंचिणी	मन वचन काय	कृत कारित अनुमोदना	इन्द्रियाँ ५	द्रव्य भाव	आहार परिग्रह भय, मैथुन	अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण संज्वलन	क्रोध मान, माया लोभ,	
	३ ×	३ ×	३ ×	५	२ ×	४ ×	४ ×	४	= १७२८०
									१८०००

चौरासी लाख उत्तरगुण ऐसे हैं जो आत्माके विभावपरिणामोंके बाह्यकारणों-की अपेक्षा भेद होते हैं। उनके अभावरूप ये गुणोंके भेद हैं। उन विभावोंके भेदोंकी गणना संक्षेपसे ऐसे है—१–हिंसा २–अनृत ३–स्तेय ४–मैथुन ५–परिग्रह ६–क्रोध ७–मान ८–माया ९–लोभ १०–भय ११–जुगुप्सा १२–अरति १३–शोक १४–मनोदुष्टत्व १५–वचनदुष्टत्व १६–कायदुष्टत्व १७–मिथ्यात्व १८–प्रमाद १९–पैशून्य २०–अज्ञान २१–इन्द्रियका अनुग्रह ऐसे इक्कीस दोष हैं। इनको अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार इन चारोंसे गुणा करने पर चोरासी होते हैं। पृथ्वी-अप्-तेज-वायु प्रत्येक साधारण ये स्थावर एकेन्द्रिय जीव छह और विकल तीन, पंचेन्द्रिय एक ऐसे जीवोंके दस भेद, इनका परस्पर आरंभसे घात होता है इनको परस्पर गुणा करने पर सौ (१००) होते हैं। इनसे चौरासीको गुणा करने पर चौरासी सौ होते हैं इनको दस 'शील–विराधने' से गुणा करने पर **चौरासी हजार** होते हैं। इन दसके नाम ये हैं १ स्त्री-संसर्ग, २ पुष्टरसभोजन, ३ गंधमाल्यका ग्रहण, ४ सुन्दर शयनासनका ग्रहण, ५ भूषणका मंडन, ६ गीतवादित्रका प्रसंग, ७ धनका संप्रयोजन, ८ कुशीलका संसर्ग, ९ राजसेवा, १० रात्रिसचरण ये 'शील–विराधना' हैं। इनके आलोचनाके दस दोष हैं–गुरुओंके पास लगे हुए दोषोंकी आलोचना करे सो सरल होकर न करे कुछ शल्य रखे, उसके दस भेद किये हैं, इनसे गुणा करने पर **आठ लाख चालीस हजार** होते हैं। आलोचनाको आदि देकर प्रायश्चित्तके दस भेद हैं इनसे गुणा करने पर **चौरासी लाख** होते हैं। सो सब दोषोंके भेद हैं, इनके अभावसे गुण होते हैं। इनकी भावना रखे, चिन्तन और अभ्यास रखे, इनको संपूर्ण प्राप्ति होनेका उपाय रखे, इसप्रकार इनकी भावनाका उपदेश है।

आचार्य कहते हैं कि वारबार बहुत वचनके प्रलापसे तो कुछ साध्य नहीं हैं जो कुछ आत्माके भावकी प्रवृत्तिके व्यवहारके भेद हैं उनकी **'गुण'** संज्ञा है, उनकी भावना रखना। यहाँ इतना और जानना कि गुणस्थान चौदह कहे हैं उस परिपाटीसे गुणदोषोंका विचार है। मिथ्यात्व सासादन मिश्र इन तीनोंमें तो विभावपरिणति ही है, इनमें तो गुणका विचार ही नहीं है। अविरत, देशविरत आदिमें शीलगुणका एकदेश आता है। अविरतमें मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी कषायके अभावरूप गुणका एकदेश सम्य-क्त्व और तीव्र रागद्वेषका अभावरूप गुण आता है और देशविरतमें कुछ व्रतका एकदेश आता है। प्रमत्तमें महाव्रतरूप सामायिक चारित्रका एकदेश आता है क्योंकि पापसंबंधी

राग द्वेष तो वहाँ नहीं है, परन्तु धर्मसम्बन्धी राग है और 'सामायिक' राग–द्वेषके अभावका नाम है, इसीलिये सामायिकका एकदेश ही कहा है। यहाँ स्वरूपके सन्मुख होनेमें क्रियाकांडके सम्बधसे प्रमाद है, इसलिये 'प्रमत्त' नाम दिया है। अप्रमत्तमें स्वरूप साधनमें तो प्रमाद नहीं है, परन्तु कुछ स्वरूपके साधनेका राग व्यक्त है, इसलिये यहाँ भी सामायिकका एकदेश ही कहा है। अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरणमें राग व्यक्त नहीं है, अव्यक्तकषायका सद्भाव है, इसलिये सामायिक चारित्रकी पूर्णता कही। सूक्ष्मसांपरायमें अव्यक्त कषाय भी सूक्ष्म रह गई, इसलिये इसका नाम 'सूक्ष्मसांपराय' रखा। उपशान्तमोह क्षीणमोहमें कषायका अभाव ही है, इसलिये जैसा आत्माका मोह-विकाररहित शुद्ध स्वरूप था उसका अनुभव हुआ, इसलिये 'यथाख्यातचारित्र' नाम रखा। ऐसे मोहकर्मके अभावकी अपेक्षा तो यहाँ ही उत्तरगुणोंकी पूर्णता कही जाती है, परन्तु आत्माका स्वरूप अनन्तज्ञानादि स्वरूप है सो घातिकर्मके नाश होनेपर अनन्तज्ञानादि प्रगट होते हैं तब 'सयोगकेवली' कहते हैं। इसमें भी कुछ योगोंकी प्रवृत्ति है, इसलिये 'अयोगकेवली' चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें योगोंकी प्रवृत्ति मिट कर आत्मा अवस्थित हो जाती है तब चौरासीलाख उत्तरगुणोंकी पूर्णता कही जाती है। ऐसे गुणस्थानोंकी अपेक्षा उत्तरगुणोंकी प्रवृत्ति विचारने योग्य है। ये बाह्य अपेक्षा भेद हैं, अंतरंग अपेक्षा विचार करें तो संख्यात, असंख्यात, अनन्त भेद होते हैं, इसप्रकार जानना चाहिये ॥१२०॥

आगे भेदोंके विकल्पसे रहित होकर ध्यान करनेका उपदेश करते हैं:—

झायहि धम्मं सुक्कं अट्ट रउद्दं च झाण मुत्तूण।
रुद्दट्ट झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥१२१॥

ध्याय धर्म्यं शुक्लं आर्त्तं रौद्रं च ध्यानं मुक्त्वा।
रौद्रार्त्ते ध्याते अनेन जीवेन चिरकालम् ॥१२१॥

अर्थः—हे मुने! तू आर्त्त–रौद्र ध्यानको छोड़ और धर्म–शुक्लध्यान हैं उन्हें ही कर, क्योंकि रौद्र और आर्त्तध्यान तो इस जीवने अनादिकालसे बहुत समय तक किये हैं।

ध्या धर्म्य तेम ज शुक्लने, तजी आर्त तेम ज रौद्रने।
चिरकाल ध्यायां आर्त तेम ज रौद्र ध्यानो आ जीवे ॥१२१॥

भावार्थः—आर्त्त–रौद्र ध्यान अशुभ हैं, संसारके कारण हैं। ये दोनों ध्यान तो जीवके बिना उपदेश ही अनादिसे पाये जाते हैं, इसलिये इनको छोड़नेका उपदेश है। धर्म–शुक्ल ध्यान स्वर्ग मोक्षके कारण हैं। इनको कभी नहीं ध्याये, इसलिये इनके ध्यान करनेका उपदेश है। ध्यानका स्वरूप **'एकाग्रचिंतानिरोध'** कहा है–धर्मध्यानमें तो धर्मानुरागका सद्भाव है सो धर्मके मोक्षमार्गके कारणमें रागसहित एकाग्रचिंतानिरोध होता है, इसलिये शुभरागके निमित्तसे पुण्यबन्ध भी होता है और विशुद्ध भावके निमित्तसे पापकर्मकी निर्जरा भी होती है। शुक्लध्यानमे आठवाँ नौवाँ दसवाँ गुणस्थान-में तो अव्यक्तराग है। वहाँ अनुभव–अपेक्षा उपयोग उज्ज्वल है, इसलिये 'शुक्ल' नाम रखा है और इससे ऊपरके गुणस्थानोंमें राग–कषायका अभाव ही है, इसलिये सर्वथा ही उपयोग उज्ज्वल है, वहाँ शुक्लध्यान युक्त ही है। इतनी और विशेषता है कि उपयोगके एकाग्रपनारूप ध्यानकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी कही है। उस अपेक्षासे तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानमें ध्यानका उपचार है और योगक्रियाके स्थंभनकी अपेक्षा ध्यान कहा है। यह शुक्लध्यान कर्मकी निर्जरा करके जीवको मोक्ष प्राप्त कराता है, ऐसे ध्यानका उपदेश जानना ॥१२१॥

आगे कहते हैं कि यह ध्यान भावलिंगी मुनियोंको मोक्ष करता हैः—

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसवणा झाणकुढारेहिं भवरुक्खं ॥१२२॥

ये केऽपि द्रव्यश्रमणा इन्द्रियसुखाकुलाः न छिदन्ति।
छिन्दन्ति भावश्रमणाः ध्यानकुठारैः भववृक्षम् ॥१२२॥

अर्थः—कई द्रव्यलिंगी श्रमण हैं, वे तो इन्द्रियसुखमें व्याकुल हैं, उनके यह धर्म–शुक्लध्यान नहीं होता है। वे तो संसाररूपी वृक्षको काटनेमें समर्थ नहीं हैं और जो भावलिंगी श्रमण हैं, वे ध्यानरूपी कुल्हाड़ेसे संसाररूपी वृक्षको काटते हैं।

भावार्थः—जो मुनि द्रव्यलिंग तो धारण करते हैं, परन्तु उनको परमार्थ-सुखका अनुभव नहीं हुआ है, इसलिये इसलोक परलोकमें इन्द्रियोंके सुख ही को

द्रव्ये श्रमण इन्द्रियसुखाकुल होइने छेदे नहीं।
भववृक्ष छेदे भावश्रमणो ध्यानरूप कुठारथी ॥१२२॥

चाहते हैं, तपश्चरणादिक भी इसी अभिलाषासे करते हैं उनके धर्म—शुक्ल ध्यान कैसे हो ? अर्थात् नहीं होता है। जिनने परमार्थ सुखका आस्वाद लिया उनको इन्द्रिय सुख, दु:ख ही है ऐसा स्पष्ट भासित हुआ है, अत: परमार्थ सुखका उपाय धर्म–शुक्ल ध्यान है उसको करके वे संसारका अभाव करते हैं, इसलिए भावलिंगी होकर ध्यानका अभ्यास करना चाहिये ॥१२२॥

आगे इस ही अर्थको दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं:—

जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहाविवज्जिओ जलइ।
तह रायाणिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ ॥१२३॥

यथा दीपः गर्भगृहे मारुतबाधाविवर्जितः ज्वलति।
तथा रागानिलरहितः ध्यानप्रदीपः अपि प्रज्वलति ॥१२३॥

अर्थ:—जैसे दीपक गर्भगृह अर्थात् जहां पवनका संचार नहीं है ऐसे मध्यके घरमें पवनकी बाधा रहित निश्चल होकर जलता है (प्रकाश करता है), वैसेही अंतरंग मनमें रागरूपी पवनसे रहित ध्यानरूपी दीपक भी जलता है, एकाग्र होकर ठहरता है, आत्मरूपको प्रकाशित करता है।

भावार्थ:—पहिले कहा था कि जो इन्द्रियसुखसे व्याकुल हैं उनके शुभध्यान नहीं होता है, उसका यह दीपकका दृष्टांत है—जहाँ इन्द्रियोंके सुखमें जो राग वह ही हुआ पवन वह विद्यमान है, उनके ध्यानरूपी दीपक कैसे निर्बाध उद्योत करे ? अर्थात् न करे और जिनके यह रागरूपी पवन बाधा न करे उनके ध्यानरूपी दीपक निश्चल ठहरता है ॥१२३॥

आगे कहते हैं कि—ध्यानमें जो परमार्थ ध्येय शुद्ध आत्माका स्वरूप है उस स्वरूपके आराधनेमें नायक (प्रधान) पंच परमेष्ठी हैं उनका ध्यान करनेका उपदेश करते हैं:—

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए।
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२४॥

ज्यम गर्भगृहमां पवननी बाधा रहित दीपक जले।
ते रीत रागानिलविवर्जित ध्यानदीपक पण जले ॥१२३॥
ध्या पंच गुरुने, शरण–मंगल–लोकउत्तम जेह छे।
आराधनानायक, अमर–नर–खचरपूजित, वीर छे ॥१२४॥

ध्याय पंच अपि गुरून् मंगलचतुः शरणलोकपरिकरितान् ।
नरसुरखेचरमहितान् आराधनानायकान् वीरान् ॥१२४॥

अर्थः—हे मुने ! तू पंच गुरु अर्थात् पंचपरमेष्ठीका ध्यान कर। यहाँ 'अपि' शब्द शुद्धात्म स्वरूपके ध्यानको सूचित करता है। पंच परमेष्ठी कैसे हैं ? मंगल अर्थात् पापका नाशक अथवा सुखदायक और चउशरण अर्थात् चार शरण तथा 'लोक' अर्थात् लोकके प्राणियोंसे अरहंत, सिद्ध, साधु, केवलीप्रणीत धर्म, ये परिकरित अर्थात् परिवारित हैं–युक्त (–सहित) हैं। नर–सुर–विद्याधर सहित हैं, पूज्य हैं इसलिये वे 'लोकोत्तम' कहे जाते हैं आराधनाके नायक हैं, वीर हैं, कर्मोंके जीतनेको सुभट हैं और विशिष्ट लक्ष्मीको प्राप्त हैं तथा देते हैं। इसप्रकार पंच परम गुरुका ध्यान कर।

भावार्थः—यहाँ पंच परमेष्ठीका ध्यान करनेके लिए कहा। उस ध्यानमें विघ्नको दूर करनेवाले 'चार मंगलस्वरूप' कहे वे यही हैं, 'चार शरण' और 'लोकोत्तम' कहे हैं वे भी इन्हीको कहे हैं। इनके सिवाय प्राणीको अन्य शरण या रक्षा करनेवाला कोई भी नहीं है और लोकमें उत्तम भी ये ही हैं। आराधना दर्शन–ज्ञान–चारित्र–तप ये चार हैं इनके नायक (स्वामी) भी ये ही हैं, कर्मोंको जीतनेवाले भी ये ही हैं। इसलिये ध्यान करनेवालेके लिए इनका ध्यान श्रेष्ठ है। शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति इनहीके ध्यानसे होती है, इसलिये यह उपदेश है ॥१२४॥

आगे ध्यान है वह, 'ज्ञानका एकाग्र होना' है इसलिये ज्ञानके अनुभव करनेका उपदेश करते हैं:—

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥१२५॥

ज्ञानमयविमलशीतलसलिलं प्राप्य भव्याः भावेन ।
व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवाः भवन्ति ॥१२५॥

ज्ञानात्म निर्मल नीर शीतल प्राप्त करीने, भावथी ।
भवि थाय छे जर–मरण–व्याधिदाहवर्जित, शिवमयी ॥१२५॥

अर्थः—भव्यजीव ज्ञानमयी निर्मल शीतल जलको सम्यक्त्वभाव सहित पीकर और व्याधिस्वरूप जरा–मरणकी वेदना (पीड़ा) को भस्म करके मुक्त अर्थात् संसारसे रहित 'शिव' अर्थात् परमानंद सुखरूप होते हैं।

भावार्थः—जैसे निर्मल और शीतल जलके पीनेसे पित्तकी दाहरूप व्याधि मिटकर साता होती है वैसे ही यह ज्ञान है वह जब रागादिक मलसे रहित निर्मल और आकुलता रहित शांतभावरूप होता है, उसकी भावना कर रुचि, श्रद्धा, प्रतीतिसे पीवे, इससे तन्मय हो तो जरा–मरणरूप दाह–वेदना मिट जाती है और संसारसे निर्वृत्त होकर सुखरूप होता है, इसलिये भव्य जीवोंको यह उपदेश है कि ज्ञानमें लीन होओ ।।१२५।।

आगे कहते हैं कि इस ध्यानरूप अग्निसे संसारके बीज आठों कर्म एक बार दग्ध हो जाने पर पीछे फिर संसार नहीं होता है, यह बीज भावमुनिके दग्ध हो जाता है:—

जह बीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे।
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं ।।१२६।।

यथा बीजे च दग्धे नापि रोहति अंकुरश्च महीपीठे।
तथा कर्मबीजदग्धे भवांकुरः भावश्रमणानाम् ।।१२६।।

अर्थः—जैसे पृथ्वीतलपर बीजके जल जाने पर उसका अंकुर फिर नहीं उगता है, वैसे ही भावलिंगी श्रमणके संसारका कर्मरूपी बीज दग्ध होता है इसलिये संसाररूप अंकुर फिर नहीं होता है।

भावार्थः—संसारके बीज 'ज्ञानावरणादि' कर्म हैं। ये कर्म भावश्रमणके ध्यान-रूप अग्निसे भस्म हो जाते हैं, इसलिये फिर संसाररूप अंकुर किससे हो? इसलिये भावश्रमण होकर धर्म-शुक्लध्यानसे कर्मोंका नाश करना योग्य है, यह उपदेश है। कोई सर्वथा एकांती अन्यथा कहे कि–कर्म अनादि है, उसका अंत भी नहीं है, उसका भी

ज्यम बीज होतां दग्ध, अंकुर भूतले ऊगे नहीं।
त्यम कर्मबीज बळ्ये भवांकुर भावश्रमणोने नहीं ।।१२६।।

यह निषेध है। बीज अनादि है वह एक बार दग्ध हो जाने पर पीछे फिर नहीं उगता है उसी तरह इसे जानना ।।१२६।।

आगे संक्षेपसे उपदेश करते हैं:—

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ।।१२७।।

भावश्रमणः अपि प्राप्नोति सुखानि दुःखानि द्रव्यश्रमणश्च ।
इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुतः भव ।।१२७।।

अर्थः—भावश्रमण तो सुखोंको पाता है और द्रव्यश्रमण दुःखोंको पाता है इस प्रकार गुण दोषोंको जानकर हे जीव ! तू भाव सहित संयमी बन।

भावार्थः—सम्यग्दर्शनसहित भावश्रमण होता है, वह संसारका अभाव करके सुखोंको पाता है और मिथ्यात्वसहित द्रव्यश्रमण भेषमात्र होता है, यह संसारका अभाव नहीं कर सकता है, इसलिये दुःखोंको पाता है। अतः उपदेश करते हैं कि दोनोंके गुण–दोष जानकर भावसंयमी होना योग्य है, यह सब उपदेशका सार है ।।१२७।।

आगे फिर भी इसीका उपदेश अर्थरूप संक्षेपसे कहते हैं:—

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं।
पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं वज्जरियं ।।१२८।।

तीर्थंकरगणधरादीनि अभ्युदयपरंपराणि सौख्यानि ।
प्राप्नुवंति भावश्रमणाः संक्षेपेण जिनैः भणितम् ।।१२८।।

अर्थः—जो भावसहित मुनि हैं वे अभ्युदयसहित तीर्थंकर–गणधर आदि पदवीके सुखोंको पाते हैं, यह संक्षेपसे कहा है।

रे ! भावश्रमण सुखो लहे ने द्रव्यमुनि दुःखो लहे ।
तुं भावथी सयुक्त था; गुणदोष जाणी ए रीते ।।१२७।।
तीर्थेश–गणनाथादिगत अभ्युदययुत सौख्यो तणी ।
प्राप्ति करे छे भावमुनि;–भाख्युं जिने संक्षेपथी ।।१२८।।

भावार्थः—तीर्थंकर गणधर चक्रवर्ती आदि पदोंके सुख बड़े अभ्युदयसहित हैं उनको भावसहित सम्यग्दृष्टि मुनि पाते हैं। यह सब उपदेशका संक्षेपसे उपदेश कहा है, इसलिये भावसहित मुनि होना योग्य है ॥१२८॥

आगे आचार्य कहते हैं कि जो भावश्रमण हैं उनको धन्य है, उनको हमारा नमस्कार हो:—

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं।
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं ॥१२९॥

ते धन्याः तेभ्यः नमः दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धेभ्यः।
भावसहितेभ्यः नित्यं त्रिविधेन प्रणष्टमायेभ्यः ॥१२९

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जो मुनि सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ (विशिष्ट) ज्ञान और निर्दोष चारित्र इनसे शुद्ध हैं इसीलये भाव सहित हैं और प्रणष्ट हो गई है माया अर्थात् कपट परिणाम जिनके ऐसे हैं वे धन्य हैं। उनके लिये हमारा मन-वचन-कायसे सदा नमस्कार हो।

भावार्थः—भावलिंगियोंमें जो दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे शुद्ध है उनके प्रति आचार्यको भक्ति उत्पन्न हुई है इसलिये उनको धन्य कह कर नमस्कार किया है वह युक्त है, जिनके मोक्षमार्गमें अनुराग है, उनमें मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिमें प्रधानता दिखती है उनको नमस्कार करें ॥१२९॥

आगे कहते हैं कि जो भावश्रमण हैं वे देवादिककी ऋद्धि देखकर मोहको प्राप्त नहीं होते हैं:—

इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं।
तेहिं वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥१३०॥

ते छे सुधन्य, त्रिधा सदैव नमस्करण हो तेमने।
जे भावयुत, दृगज्ञानचरणविशुद्ध, मायामुक्त छे ॥१२९॥

खेचर-सुरादिक विक्रियाथी ऋद्धि अतुल करे भले।
जिनभावनापरिणत सुधीर लहे न त्यां पण मोहने ॥१३०॥

ऋद्धिमतुलां विकुर्वद्भिः[1] किंनरकिंपुरुषामरखचरैः ।
तैरपि न याति मोहं जिनभावनाभावितः धीरः ॥१३०॥

अर्थः—जिनभावना (सम्यक्त्व भावना) से वासित जीव किंनर, किंपुरुष देव; कल्पवासी देव और विद्याधर इनसे विक्रियारूप विस्तार की गई अतुल ऋद्धियोंसे मोहको प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव कैसा है ? धीर है, दृढ़बुद्धि है अर्थात् निःशंकित अंगका धारक है ।

भावार्थः—जिसके जिनसम्यक्त्व दृढ़ है उसके संसारकी ऋद्धि तृणवत् है, परमार्थसुखहीकी भावना है, विनाशीक ऋद्धिकी वांछा क्यों हो ? ॥१३०॥

आगे इसहीका समर्थन है कि ऐसी ऋद्धि भी नहीं चाहता है तो अन्य सांसारिक सुखकी क्या कथा ?

किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं ।
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो ॥१३१॥

किं पुनः गच्छति मोहं नरसुरसुखानां अल्पसाराणाम् ।
जानन् पश्यन् चिंतयन् मोक्षं मुनिधवलः ॥१३१॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोक्त प्रकारकी भी ऋद्धिको नहीं चाहता है तो मुनिधवल अर्थात् मुनिप्रधान है वह अन्य जो मनुष्य देवोंके सुख भोगादिक जिनमें अल्प सार है उनमें क्या मोहको प्राप्त हो ? कैसा है मुनिधवल ? मोक्षको जानता है, उसहीकी तरफ दृष्टि है, उसहीका चिन्तन करता है ।

भावार्थः—जो मुनिप्रधान हैं उनकी भावना मोक्षके सुखोंमें है । वे बड़ी-बड़ी देवविद्याधरोंकी फैलाई हुई विक्रिया ऋद्धिमें भी लालसा नहीं करते है तो किंचित्मात्र विनाशीक जो मनुष्य, देवोंके भोगादिकका सुख उनमें वांछा कैसे करे ? अर्थात् नही करे ॥१३१॥

आगे उपदेश करते है कि जब तक जरा आदिक न आवें तब तक अपना हित करलो:—

१—संस्कृत मुद्रित प्रतिमें 'विकृतां' पाठ है ।

तो देव-नरनां तुच्छ सुख प्रत्ये लहे शुं मोहने ।
मुनिप्रवर जे जाणे, जुए ने चिंतवे छे मोक्षने ? ॥१३१॥

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं ।
इन्दियबलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥१३२॥

आक्रमते यावन्न जरा रोगाग्निर्यावन्न दहति देहकुटीम् ।
इन्द्रियबलं न विगलति तावत् त्वं कुरु आत्महितम् ॥१३२॥

अर्थः—हे मुने ! जब तक तेरे जरा (बुढ़ापा) न आवे तथा जब तक रोगरूपी अग्नि तेरी देहरूपी कुटीको भस्म न करे और जब तक इन्द्रियोंका बल न घटे तब तक अपना हित करलो।

भावार्थः—वृद्ध अवस्थामें देह रोगोंसे जर्जरित हो जाता है, इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं तब असमर्थ होकर इस लोकके कार्य उठना बैठना भी नहीं कर सकता है तब परलोकसम्बन्धी तपश्चरणादिक तथा ज्ञानाभ्यास और स्वरूपका अनुभवादि कार्य कैसे करे ? इसलिये यह उपदेश है कि जब तक सामर्थ्य है तब तक अपना हितरूप कार्य करलो ॥१३२॥

आगे अहिंसाधर्मके उपदेशका वर्णन करते हैं :—

छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं ।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं[1] ॥१३३॥

[2]षट्जीवान् षडायतनानां नित्यं मनोवचनकाययोगैः ।
कुरु दयां परिहर मुनिवर भावय अपूर्वं महासत्त्वम् ॥१३३॥

अर्थः—हे मुनिवर ! तू छहकायके जीवोंपर दया कर और छह अनायतनोंको

१—मुद्रित संस्कृत प्रतिमें 'महासत्त' ऐसा संबोधन पद किया है जिसको सं० छाया 'महासत्त्व' है ।

२—मु० सं० प्रतिमें 'षट्जीवषडायतनानां' एक पद किया है ।

रे ! आक्रमे न जरा, गदाग्नि दहे न तनकुटि ज्यां लगी ।
बल इन्द्रियोनुं नव घटे, करी ले तुं निजहित त्यां लगी ॥१३२॥

छ अनायतन तज, कर दया षट्जीवनी त्रिविधे सदा ।
महासत्त्वने तुं भाव रे ! अपूरवपणे हे मुनिवरा ! ॥१३३॥

मन, वचन, कायके योगोंसे छोड़ तथा अपूर्व जो पहिले न हुआ ऐसा महासत्त्व अर्थात् सब जीवोंमें व्यापक (ज्ञायक) महासत्त्व चेतना भावको भा।

भावार्थः—अनादिकालसे जीवका स्वरूप चेतनास्वरूप न जाना इसलिये जीवोंकी हिंसा की, अतः यह उपदेश है कि अब जीवात्माका स्वरूप जानकर, छहकायके जीवोंपर दया कर। अनादिहीसे आप्त, आगम, पदार्थका और इनकी सेवा करनेवालोंका स्वरूप जाना नहीं, इसलिये अनाप्त आदि छह अनायतन जो मोक्षमार्गके स्थान नहीं हैं उनको अच्छे समझकर सेवन किया, अतः यह उपदेश है कि अनायतन का परिहार कर। जीवके स्वरूपके उपदेशक ये दोनोंही तूने पहिले जाने नहीं, न भावना की, इसलिये अब भावना कर, इसप्रकार उपदेश है ॥१३३॥

आगे कहते हैं कि जीवका तथा उपदेश करनेवालेका स्वरूप जाने बिना सब जीवोंके प्राणोंका आहार किया इसप्रकार दिखाते हैं:—

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण।
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥१३४॥

दशविधप्राणाहारः अनन्तभवसायरे भ्रमता।
भोगसुखकारणार्थं कृतश्च त्रिविधेन सकलजीवानां ॥१३४॥

अर्थः—हे मुने! तूने अनंतभवसागरमें भ्रमण करते हुए, सकल त्रस, स्थावर जीवोंके दश प्रकारके प्राणोंका आहार, भोग सुखके कारणके लिये मन, वचन, कायसे किया।

भावार्थः—अनादिकालसे जिनमतके उपदेशके बिना अज्ञानी होकर तूने त्रस स्थावर जीवोंके प्राणोंका आहार किया इसलिये अब जीवोंका स्वरूप जानकर जीवोंकी दया पाल, भोगाभिलाष छोड़, यह उपदेश है ॥१३४॥

फिर कहते हैं कि ऐसे प्राणियोंकी हिंसासे संसारमें भ्रमण कर दुःख पाया:—

भमतां अमित भवसागरे, तें भोगसुखना हेतुए।
सहुजीव–दशविधप्राणनो आहार कीधो त्रणविधे ॥१३४॥

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि।
उप्पजंत मरंतो पत्तो सि णिरंतरं दुक्खं ॥१३५॥

प्राणिवधैः महायशः! चतुरशीतिलक्षयोनिमध्ये।
उत्पद्यमानः म्रियमाणः प्राप्तोऽसि निरंतरं दुःखम् ॥१३५॥

अर्थः—हे मुने! हे महायश! तूने प्राणियोंके घातसे चौरासी लाख योनियोंके मध्यमें उत्पन्न होते हुए और मरते हुए निरंतर दुःख पाया।

भावार्थः—जिनमतके उपदेशके बिना, जीवोंकी हिंसासे यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें उत्पन्न होता है और मरता है। हिंसासे कर्मबंध होता है, कर्मबन्धके उदयसे उत्पत्तिमरणरूप संसार होता है। इसप्रकार जन्ममरणके दुःख सहता है, इसलिये जीवोंकी दयाका उपदेश है ॥१३५॥

आगे उस दयाहीका उपदेश करते हैंः—

जीवाणमभयदाणं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं।
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ॥१३६॥

जीवानामभयदानं देहि मुने प्राणिभूतसत्त्वानाम्।
कल्याणसुखनिमित्तं परंपरया त्रिविधशुद्धया ॥१३६॥

अर्थः—हे मुने! जीवोंको और प्राणीभूत सत्त्वोंको अपना परंपरासे कल्याण और सुख होनेके लिये मन, वचन, कायकी शुद्धतासे अभयदान दे।

भावार्थः—'जीव' पंचेन्द्रियोंको कहते हैं, 'प्राणी' विकलत्रयको कहते हैं, 'भूत' वनस्पतिको कहते हैं और 'सत्त्व' पृथ्वी अप् तेज वायुको कहते हैं। इन सब जीवोंको अपने समान जानकर अभयदान देनेका उपदेश है। इससे शुभ प्रकृतियोंका बंध होनेसे

प्राणीवधोथी हे महायश! योनि लख चोराशीमां।
उत्पत्तिनां ने मरणनां दुःखो निरंतर तें लह्यां ॥१३५॥

तुं भूत-प्राणी-सत्त्व-जीवने त्रिविध शुद्धे वडे मुनि!।
दे अभय, जे कल्याणसौख्यनिमित्त पारंपर्यथी ॥१३६॥

अभ्युदयका सुख होता है, परम्परासे तीर्थंकरपद पाकर मोक्ष पाता है, यह उपदेश है ॥१३६॥

आगे यह जीव षट् अनायतनके प्रसंगसे मिथ्यात्वसे संसारमें भ्रमण करता है उसका स्वरूप कहते हैं। पहिले मिथ्यात्वके भेदोंको कहते हैं:—

असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणईया होंति बत्तीसा ॥१३७॥

अशीतिशतं क्रियावादिनामक्रियमाणं च भवति चतुरशीतिः।
सप्तषष्टिरज्ञानिनां वैनयिकानां भवति द्वात्रिंशत् ॥१३७॥

अर्थः—एकसौ अस्सी क्रियावादी हैं, चौरासी अक्रियावादियोंके भेद हैं, अज्ञानी सड़सठ भेदरूप हैं और विनयवादी बत्तीस हैं।

भावार्थः—वस्तुका स्वरूप अनन्तधर्मस्वरूप सर्वज्ञने कहा है, वह प्रमाण और नयसे सत्यार्थ सिद्ध होता है। जिनके मतमें सर्वज्ञ नहीं है तथा सर्वज्ञके स्वरूपका यथार्थ रूपसे निश्चय करके उसका श्रद्धान नहीं किया है ऐसे अन्यवादियोंने वस्तुका एकधर्म ग्रहण करके उसका पक्षपात किया कि हमने इसप्रकार माना है वह 'ऐसे ही है, अन्य प्रकार नहीं है।' इस प्रकार विधि–निषेध करके एक-एक धर्मके पक्षपाती हो गये उनके ये संक्षेपसे तीनसौ तरेसठ भेद हो गये।

क्रियावादीः—कई तो गमन करना, बैठना, खड़े रहना, खाना, पीना, सोना, उत्पन्न होना, नष्ट होना, देखना, जानना, करना, भोगना, भूलना, याद करना, प्रीति करना, हर्ष करना, विषाद करना, द्वेष करना, जीना, मरना इत्यादिक क्रियायें हैं। इनको जीवादिक पदार्थोंके देखकर किसीने किसी क्रियाका पक्ष किया है और किसीने किसी क्रियाका पक्ष किया है। ऐसे परस्पर क्रियाविवादसे भेद हुए हैं, इनके संक्षेपसे एकसौ अस्सी भेद निरूपण किये हैं, विस्तार करने पर बहुत हो जाते हैं।

शत–एंशी किरियावादीना, चोराशी तेथी विपक्षना।
बत्रीश सडसठ भेद छे वैनयिक ने अज्ञानीना ॥१३७॥

कई **अक्रियावादी** हैं, ये जीवादिक पदार्थोंमें क्रियाका अभाव मानकर आपसमें विवाद करते हैं। कई कहते हैं जीव जानता नहीं है, कई कहते हैं कुछ करता नहीं है कई कहते हैं भोगता नहीं है, कई कहते हैं उत्पन्न नहीं होता है, कई कहते हैं नष्ट नहीं होता है, कई कहते हैं गमन नहीं करता है और कई कहते हैं ठहरता नहीं है इत्यादि क्रियाके अभावके पक्षपातसे सर्वथा एकान्ती होते हैं। इनके संक्षेपसे चौरासी भेद हैं।

कई **अज्ञानवादी** हैं, इनमें कई तो सर्वज्ञका अभाव मानते हैं, कई कहते हैं जीव अस्ति है यह कौन जाने ? कई कहते हैं जीव नास्ति है यह कौन जाने ? कई कहते हैं, जीव नित्य है यह कौन जाने ? कई कहते हैं जीव अनित्य है यह कौन जाने ? इत्यादि संशय–विपर्यय–अनध्यवसायरूप होकर विवाद करते हैं। इनके संक्षेपसे सड़सठ भेद हैं। कई विनयवादी हैं, उनमें से कई कहते हैं देवादिकके विनयसे सिद्धि है, कई कहते हैं गुरुके विनयसे सिद्धि है, कई कहते हैं कि माता के विनयसे तथा कई कहते हैं कि पिताके विनयसे सिद्धि है, कई कहते हैं कि राजाके विनयसे सिद्धि है, कई कहते हैं सबके विनयसे सिद्धि है, इत्यादि विवाद करते हैं। इनके संक्षेपसे बत्तीस भेद हैं। इसप्रकार सर्वथा एकान्तियोंके **तीनसौ तरेसठ भेद** संक्षेपसे हैं, विस्तार करने पर बहुत हो जाते हैं, इनमें कई ईश्वरवादी हैं, कई कालवादी हैं, कई स्वभाववादी हैं, कई विनयवादी हैं, कई आत्मवादी हैं। इनका स्वरूप गोम्मटसारादि ग्रन्थोंसे जानना, ऐसे मिथ्यात्वके भेद हैं ॥१३७॥

आगे कहते हैं कि अभव्यजीव अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ता है, उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता है:—

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्ध पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥१३८॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठु अपि आकर्ण्य जिनधर्मम्।
गुडदुग्धमपि पिबंतः न पन्नगाः निर्विषाः भवंति ॥१३८॥

सुरीते सुणी जिनधर्म पण प्रकृति अभव्य नहीं तजे।
साकरसहित क्षीरपानथी पण सर्प नहि निर्विष बने ॥१३८॥

अर्थः—अभव्यजीव भलेप्रकार जिनधर्मको सुनकर भी अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ता है। यहाँ दृष्टांत है कि सर्प गुड़सहित दूधको पीते रहने पर भी विषरहित नहीं होता है।

भावार्थः—जो कारण पाकर भी नहीं छूटता है उसे 'प्रकृति' या 'स्वभाव' कहते हैं। अभव्यका यह स्वभाव है कि जिसमें अनेकान्त तत्त्वस्वरूप है ऐसा वीतराग-विज्ञानस्वरूप जिनधर्म मिथ्यात्वको मिटानेवाला है, उसका भलेप्रकार स्वरूप सुनकर भी जिसका मिथ्यात्वस्वरूप भाव नहीं बदलता है यह वस्तुका स्वरूप है, किसीका नहीं किया हुआ है। यहाँ, उपदेश–अपेक्षा इसप्रकार जानना कि जो अभव्यरूप प्रकृति तो सर्वज्ञगम्य है, तो भी अभव्यकी प्रकृतिके समान अपनी प्रकृति न रखना, मिथ्यात्वको छोड़ना यह उपदेश है ॥१३८॥

आगे इसी अर्थको दृढ़ करते हैं:—

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं।
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥१३९॥

मिथ्यात्वछन्नदृष्टिः दुर्धिया दुर्मतैः दोषैः।
धर्मं जिनप्रज्ञप्तं अभव्यजीवः न रोचयति ॥१३९॥

अर्थः—दुर्मत जो सर्वथा एकान्ती मत, उनसे प्ररूपित अन्यमत, वे ही हुए दोष, उनके द्वारा अपनी दुर्बुद्धिसे (मिथ्यात्वसे) आच्छादित है बुद्धि जिसकी, ऐसा अभव्यजीव है उसे जिनप्रणीत धर्म नहीं रुचता है, वह उसकी श्रद्धा नहीं करता है, उसमें रुचि नहीं करता है॥

भावार्थः—मिथ्यात्वके उपदेशसे अपनी दुर्बुद्धिद्वारा जिसके मिथ्यादृष्टि है उसको जिनधर्म नहीं रुचता है, तब ज्ञात होता है कि ये अभव्यजीवके भाव हैं। यथार्थ अभव्यजीवको तो सर्वज्ञ जानते हैं, परन्तु ये अभव्यजीवके चिह्न हैं, इनसे परीक्षाद्वारा जाना जाता है ॥१३९॥

आगे कहते हैं कि ऐसे मिथ्यात्वके निमित्तसे दुर्गतिका पात्र होता है:—

दुर्बुद्धि–दुर्मतदोषथी मिथ्यात्वआवृतदृग रहे।
आत्मा अभव्य जिनेन्द्रज्ञापित धर्मनी रुचि नव करे ॥१३९॥

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो।
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होइ ॥१४०॥

कुत्सितधर्मे रतः कुत्सितपाषंडिभक्तिसंयुक्तः।
कुत्सिततपः कुर्वन् कुत्सितगतिभाजनं भवति ॥१४०॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जो कुत्सित (निंद्य) मिथ्याधर्ममें रत (लीन) है जो पाखण्डी निंद्यभेषियोंकी भक्तिसंयुक्त है, जो निंद्य मिथ्याधर्म पालता है, मिथ्यादृष्टियोंकी भक्ति करता है और मिथ्या अज्ञानतप करता है, वह दुर्गति ही पाता है, इसलिये मिथ्यात्व छोड़ना, यह उपदेश है ॥१४०॥

आगे इस ही अर्थको दृढ़ करते हुए ऐसे कहते हैं कि ऐसे मिथ्यात्वसे मोहित जीव संसारमें भ्रमण करता है:—

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो।
भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि ॥१४१॥

इति मिथ्यात्वावासे कुनयकुशास्त्रैः मोहितः जीवः।
भ्रमितः अनादिकालं संसारे धीर! चिन्तय ॥१४१॥

अर्थः—इति अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार मिथ्यात्वका आवास (स्थान) यह मिथ्यादृष्टियोंका संसार उसमें कुनय सर्वथा एकान्त उन सहित कुशास्त्र उनसे मोहित (बेहोश) हुआ यह जीव अनादिकालसे लगाकर संसारमें भ्रमण कर रहा है, ऐसे हे धीर मुने! तू विचार कर।

भावार्थः—आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त तीन सौ तरेसठ कुवादियोंसे सर्वथा एकांतपक्षरूप कुनयद्वारा रचे हुए शास्त्रोंसे मोहित होकर यह जीव संसारमें अनादिकालसे भ्रमण करता है, सो हे धीर मुनि! अब ऐसे कुवादियोंकी संगति भी मत कर, यह उपदेश है ॥१४१॥

कुत्सितधरम–रत, भक्ति जे पाखंडी कुत्सितनी करे।
कुत्सित करे तप, तेह कुत्सित गति तणुं भाजन बने ॥१४०॥

हे धीर! चिंतव–जीव आ मोहित कुनय–दुःशास्त्रथी।
मिथ्यात्वघर संसारमां रखड्यो अनादि कालथी ॥१४१॥

आगे कहते हैं कि पूर्वोक्त तीन सौ तरेसठ पाखण्डियोंका मार्ग छोड़कर जिन-मार्गमें मन लगाओः—

पासंडी तिण्णि सया तिसट्ठि भेया उमग्ग मुत्तूण ।
रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ॥१४२॥

पाखण्डिनः त्रीणि शतानि त्रिषष्टिभेदाः उन्मार्गं मुक्त्वा ।
रुन्द्धि मनः जिनमार्गे असत्प्रलापेन किं बहुना ॥१४२॥

अर्थः—हे जीव ! तीन सौ तरेसठ पाखण्डियोंके मार्गको छोड़कर जिनमार्गमें अपने मनको रोक (लगा) यह संक्षेप है और निरर्थक प्रलापरूप कहनेसे क्या ?

भावार्थ—इसप्रकार मिथ्यात्वका वर्णन किया। आचार्य कहते हैं कि बहुत निरर्थक वचनालापसे क्या ? इतना ही संक्षेपसे कहते हैं कि तीनसौ तरेसठ कुवादि पाखण्डी कहे उनका मार्ग छोड़कर जिनमार्गमें मनको रोको, अन्यत्र न जाने दो। यहाँ इतना और विशेष जानना कि—कालदोषसे इस पंचमकालमें अनेक पक्षपातसे मत—मतांतर होगये हैं, उनको भी मिथ्या जानकर उनका प्रसंग न करो। सर्वथा एकान्तका पक्षपात छोड़कर अनेकान्तरूप जिनवचनका शरण लो ॥१४२॥

आगे सम्यग्दर्शनका निरूपण करते हैं, पहिले कहते हैं कि "सम्यग्दर्शनरहित प्राणी चलता हुआ मृतक" है:—

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥१४३॥

जीवविमुक्तः शवः दर्शनमुक्तश्च भवति चलशवः ।
शवः लोके अपूज्यः लोकोत्तरे चलशवः ॥१४३॥

अर्थः—लोकमें जीवरहित शरीरको 'शव' कहते हैं, 'मृतक' या 'मुरदा' कहते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शनरहित पुरुष 'चलता हुआ मृतक' है। मृतक तो लोकमें अपूज्य है,

---

उन्मार्गने छोडी त्रिशत–तेसठप्रमित पाखंडीना ।
जिनमार्गमां मन रोक; बहु प्रलपन निरर्थथी शुं भला ? ॥१४२॥

जीवमुक्त शब कहेवाय 'चल शब' जाण दर्शनमुक्तने ।
शब लोक मांही अपूज्य, चल शब होय लोकोत्तर विषे ॥१४३॥

अग्निसे जलाया जाता है या पृथ्वीमें गाड़ दिया जाता है और 'दर्शनरहित चलता हुआ 'मुरदा' लोकोत्तर जो मुनि–सम्यग्दृष्टि उनमें अपूज्य है, वे उसको वंदनादि नहीं करते हैं। मुनिभेष धारण करता है तो भी उसे संघके बाहर रखते हैं अथवा परलोकमें निंद्यगति पाकर अपूज्य होता है।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन बिना पुरुष मृतकतुल्य है ॥१४३॥

आगे सम्यक्त्वका महान्‌पना कहते हैं:—

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥१४४॥

यथा तारकाणां चन्द्रः मृगराजः मृगकुलानां सर्वेषाम्।
अधिकः तथा सम्यक्त्वं ऋषिश्रावकद्विविधधर्माणाम् ॥१४४॥

अर्थः—जैसे तारकाओंके समूहमें चंद्रमा अधिक है और मृगकुल अर्थात् पशुओंके समूहमें मृगराज (सिंह) अधिक है, वैसे ही ऋषि (मुनि) और श्रावक इन दो प्रकारके धर्मोंमें सम्यक्त्व है वह अधिक है।

भावार्थः—व्यवहार धर्मकी जितनी प्रवृत्तियाँ हैं उनमें सम्यक्त्व अधिक है, इसके बिना सब संसारमार्ग बंधका कारण है ॥१४४॥

फिर कहते हैं:—

जह फणिराओ सोहइ [1]फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणे [2]जीवो ॥१४५॥

१—मुद्रित संस्कृत प्रतिमें 'रेहइ' पाठ है जिसका संस्कृत छायामें 'राजते' पाठान्तर है।

२—मुद्रित स० प्रतिमें 'जिणभत्तीपवयणो' ऐसा एक पद रूप पद है, जिसकी संस्कृत "जिनभक्तिप्रवचनः" है यह पाठ यतिभंग सा मालुम होता है।

ज्यम चन्द्र तारागण विषे, मृगराज सौ मृगकुल विषे।
त्यम अधिक छे सम्यक्त्व ऋषिश्रावक–द्विविध धर्मो विषे ॥१४४॥

नागेन्द्र शोभे फेणमणिमाणिक्यकिरणे चमकतो।
ते रीत शोभे शासने जिनभक्त दर्शननिर्मलो ॥१४५॥

यथा फणिराजः शोभते फणमणिमाणिक्यकिरणविस्फुरितः ।
तथा विमलदर्शनधरः जिनभक्तिः प्रवचने जीवः ।।१४५।।

अर्थः—जैसे फणिराज (धरणेन्द्र) सो फण जो सहस्र फण उसमें लगे हुए मणियोंके बीचके लाल माणिक्य उसकी किरणोंसे विस्फुरित (दैदीप्यमान) शोभा पाता है, वैसे ही जिनभक्तिसहित निर्मल सम्यग्दर्शनका धारक जीव इससे प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्गके प्ररूपणमें शोभा पाता है ।

भावार्थः—सम्यक्त्वसहित जीवकी जिन-प्रवचनमें बड़ी अधिकता है। जहाँ-तहां (सब जगह) शास्त्रोंमें सम्यक्त्वकी ही प्रधानता कही है ।।१४५।।

आगे सम्यग्दर्शनसहित लिंग है उसकी महिमा कहते हैंः—

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले ।
भाविय [1]तववयविमलं [2]जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ।।१४६।।

यथा तारागणसहितं शशधरबिंबं खमंडले विमले ।
भावतं तपोव्रतविमलं जिनलिंगं दर्शनविशुद्धम् ।।१४६।।

अर्थः—जैसे निर्मल आकाशमंडलमें ताराओंके समूहसहित चन्द्रमाका बिंब शोभा पाता है, वैसे ही जिनशासनमें दर्शनसे विशुद्ध और भावित किये हुए तप तथा व्रतोंसे निर्मल जिनलिंग है सो शोभा पाता है ।

भावार्थः—जिनलिंग अर्थात् 'निर्ग्रंथ मुनिभेष' यद्यपि तपव्रतसहित निर्मल है, तो भी सम्यग्दर्शनके बिना शोभा नहीं पाता है । इसके होने पर ही अत्यन्त शोभायमान होता है ।।१४६।।

आगे कहते हैं कि ऐसा जानकर दर्शनरत्नको धारण करो, ऐसा उपदेश करते हैंः—

१—मुद्रित सं० प्रतिमें 'तह वयविमलं' ऐसा पाठ है जिसकी संस्कृत 'तथा व्रतविमलं' है ।
२—इस गाथाका चतुर्थ पाद यतिभंग है । इसकी जगह 'जिणलिंगं दंसणेण सुविसुद्धं' होना ठीक जँचता है ।

शशिबिंब तारकवृंद सह निर्मल नभे शोभे घणुं ।
त्यम शोभतुं तपव्रतविमल जिनलिंग दर्शननिर्मलुं ।।१४६।।

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥१४७॥

इति ज्ञात्वा गुणदोषं दर्शनरत्नं धरतभावेन ।
सारं गुणरत्नानां सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ।।१४७।।

अर्थः—हे मुने ! तू 'इति' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्वके गुण और मिथ्यात्वके दोषोंको जानकर सम्यक्त्वरूपी रत्नको भावपूर्वक धारण कर। यह गुणरूपी रत्नोंमें सार है और मोक्षरूपी मंदिरका प्रथम सोपान है अर्थात् चढ़नेके लिए पहिली सीढ़ी है।

भावार्थः—जितने भी व्यवहार मोक्षमार्गके अग हैं, (गृहस्थके दानपूजादिक और मुनिके महाव्रत शीलसंयमादिक) उन सबमें सार सम्यग्दर्शन है, इससे सब सफल हैं, इसलिये मिथ्यात्वको छोड़कर सम्यग्दर्शन अंगीकार करो, यह प्रधान उपदेश है।।१४७॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन किसको होता है? जो जीव, जीव पदार्थके स्वरूपको जानकर इसकी भावना करे, इसका श्रद्धान करके अपनेको जीव पदार्थ जानकर अनुभवद्वारा प्रतीति करे उसके होता है। इसलिये अब यह जीवपदार्थ कैसा है उसका स्वरूप कहते हैं:—

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य।
दंसणणाणुवओगो [1]णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ॥१४८॥

कर्त्ता भोक्ता अमूर्त्तः शरीरमात्रः अनादिनिधनः च।
दर्शनज्ञानोपयोगः [2]निर्दिष्टः जिनवरेन्द्रैः ।।१४८।।

---

१ पाठान्तरः—जीवो णिद्दिट्ठो।

२ पाठान्तरः—जीवः निर्दिष्टः।

इम जाणीने गुणदोष धारो भावथी दृगरत्नने।
जे सार गुणरत्नो विषे ने प्रथम शिवसोपान छे।।१४७।।
कर्ता तथा भोक्ता, अनादि-अनंत, देहप्रमाण ने।
वणमूर्ति, दृगज्ञानोपयोगी जीव भाख्यो जिनवरे।।१४८।।

अर्थः—'जीव' नामक पदार्थ है सो कैसा है—कर्त्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीरप्रमाण है, अनादिनिधन है, दर्शन–ज्ञान उपयोगवाला है, इसप्रकार जिनवरेन्द्र सर्वज्ञदेव वीतरागने कहा है।

भावार्थः—यहाँ 'जीव' नामक पदार्थके छह विशेषण कहे। इनका आशय ऐसा है कि—

१–**'कर्त्ता'** कहा, वह निश्चयनयसे तो अपने अशुद्ध भावोंका अज्ञान अवस्थामें आप ही कर्त्ता है तथा व्यवहारनयसे ज्ञानावरणादि पुद्‌गल कर्मोंका कर्त्ता है और शुद्ध-नयसे अपने शुद्धभावोंका कर्त्ता है।

२–**'भोक्ता'** कहा, वह निश्चयनयसे तो अपने ज्ञान–दर्शनमयी चेतनाभावका भोक्ता है और व्यवहार नयसे पुद्‌गलकर्मके फल जो सुख दुःख आदिका भोक्ता है।

३–**'अमूर्तिक'** कहा, वह निश्चयसे तो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द ये पुद्‌गलके गुण पर्याय हैं, इनसे रहित अमूर्तिक है और व्यवहार से जबतक पुद्‌गलकर्मसे बँधा है तब तक 'मूर्तिक' भी कहते हैं।

४–**'शरीरपरिमाण'** कहा, वह निश्चयसे तो असंख्यातप्रदेशी लोकपरिमाण है, परन्तु संकोच–विस्तारशक्तिसे शरीरसे कुछ–कम–प्रदेशप्रमाण आकारमें रहता है।

५–**'अनादिनिधन'** कहा, वह पर्यायदृष्टिसे देखनेपर तो उत्पन्न होता है नष्ट होता है, तो भी द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो अनादिनिधन सदा नित्य अविनाशी है।

६–**'दर्शन–ज्ञान उपयोगसहित'** कहा, वह देखने जाननेरूप उपयोगस्वरूप चेतनारूप है।

इन विशेषणोंसे अन्यमती अन्यप्रकार सर्वथा एकान्तरूप मानते हैं उनका निषेध भी जानना चाहिये। **'कर्त्ता'** विशेषणसे तो सांख्यमती सर्वथा अकर्त्ता मानता है उसका निषेध है। **'भोक्ता'** विशेषणसे बौद्धमती क्षणिक मानकर कहता है कि कर्मको करनेवाला तो और है तथा भोगनेवाला और है इसका निषेध है। जो जीव कर्म करता है उसका फल वही जीव भोगता है, इस कथनसे बौद्धमतीके कहनेका निषेध है। **'अमूर्तिक'** कहनेसे मीमांसक आदि इस शरीरसहित मूर्तिक ही मानते हैं, उनका निषेध है। **'शरीरप्रमाण'** कहनेसे नैयायिक, वैशेषिक, वेदान्ती आदि सर्वथा, सर्वव्यापक मानते

हैं उनका निषेध है। 'अनादिनिधन' कहनेसे बौद्धमती सर्वथा क्षणस्थायी मानता है, उसका निषेध है। 'दर्शनज्ञानउपयोगमयी' कहनेसे सांख्यमती तो ज्ञानरहित चेतनामात्र मानता है, नैयायिक, वैशेषिक, गुणगुणीके सर्वथा भेद मानकर ज्ञान और जीवके सर्वथा भेद मानते हैं, बौद्धमतका विशेष 'विज्ञानाद्वैतवादी' ज्ञानमात्र ही मानता है और वेदांती ज्ञानका कुछ निरूपण ही नहीं करता है, इन सबका निषेध है।

इसप्रकार सर्वज्ञका कहा हुआ जीवका स्वरूप जानकर अपनेको ऐसा मानकर श्रद्धा, रुचि, प्रतीति करना चाहिये। जीव कहनेसे अजीव पदार्थ भी जाना जाता है, अजीव न हो तो जीव नाम कैसे होता इसलिये अजीवका स्वरूप कहा है, वैसाही उसका श्रद्धान आगम–अनुसार करना। इसप्रकार अजीव पदार्थका स्वरूप जानकर और इन दोनोंके संयोगसे अन्य आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन भावोंकी प्रवृत्ति होती है। इनका आगमके अनुसार स्वरूप जानकर श्रद्धान करनेसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥१४८॥

आगे कहते हैं कि यह जीव 'ज्ञान–दर्शन उपयोगमयी है', किन्तु अनादि पौद्गलिक कर्मके संयोगसे इसके ज्ञान–दर्शनकी पूर्णता नहीं होती है, इसलिये अल्प ज्ञान–दर्शन अनुभवमें आता है और उसमें अज्ञानके निमित्तसे इष्ट–अनिष्ट बुद्धिरूप राग–द्वेष–मोह भावके द्वारा ज्ञान–दर्शनमें कलुषतारूप सुखदुःखादिक भाव अनुभवमें आते हैं। यह जीव निजभावनारूप सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है तब ज्ञान–दर्शन–सुख–वीर्यके घातक कर्मोंका नाश करता है, ऐसा दिखाते हैं:—

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं।
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो॥१४९॥

दर्शनज्ञानावरणं मोहनीयं अन्तरायकं कर्म।
निष्ठापयति भव्यजीवाः सम्यक् जिनभावनायुक्तः ॥१४९॥

अर्थः— सम्यक् प्रकार जिनभावनासे युक्त भव्यजीव है वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, इन चार घातिया कर्मोंका निष्ठापन करता है अर्थात् सम्पूर्ण अभाव करता है।

दृगज्ञानआवृति, मोह तेम ज अंतरायक कर्मने।
सम्यक्पणे जिनभावनाथी भव्य आत्मा क्षय करे ॥१४९॥

भावार्थः—दर्शनका घातक दर्शनावरण कर्म है, ज्ञानका घातक ज्ञानावरण कर्म है, सुखका घातक मोहनीय कर्म है, वीर्यका घातक अन्तराय कर्म है। इनका नाश कौन करता है ? सम्यक् प्रकार जिनभावना भाकर अर्थात् जिन आज्ञा मानकर जीव-अजीव आदि तत्त्वका यथार्थ निश्चय कर श्रद्धावान् हुआ हो वह जीव करता है। इसलिये जिन आज्ञा मान कर यथार्थ श्रद्धान करो यह उपदेश है ॥१४८॥

आगे कहते हैं कि इन घातिया कर्मोंका नाश होने पर 'अनन्तचतुष्टय' प्रकट होते हैं:—

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति।
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥१५०॥

बलसौख्यज्ञानदर्शनानि चत्वारोऽपि प्रकटागुणाभवंति।
नष्टे घातिचतुष्के लोकालोकं प्रकाशयति ॥१५०॥

अर्थः—पूर्वोक्त चार घातिया कर्मोका नाश होने पर अनन्त ज्ञान–दर्शन–सुख और बल (-वीर्य) ये चार गुण प्रगट होते हैं। जब जीवके ये गुणकी पूर्ण निर्मल दशा प्रकट होती है तब लोकालोकको प्रकाशित करता है।

भावार्थः— घातिया कर्मोंका नाश होने पर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-सुख, और अनन्तवीर्य ये 'अनन्तचतुष्टय' प्रकट होते हैं। अनन्त दर्शनज्ञानसे छह द्रव्योंसे भरे हुए इस लोकमें अनन्तानन्त जीवोंको, इनसे भी अनन्तानन्तगुणे पुद्‌गलोंको तथा धर्म–अधर्म–आकाश ये तीन द्रव्य और असंख्यात कालाणु इन सब द्रव्योंकी अतीत अनागत और वर्तमानकाल संबंधी अनन्तपर्यायोंको भिन्न–भिन्न एकसमयमें स्पष्ट देखता है और जानता है। अनन्तसुखसे अत्यंततृप्तिरूप है और अनन्तशक्ति द्वारा अब किसी भी निमित्तसे अवस्था पलटती (बदलती) नहीं है। ऐसे अनंत चतुष्टयरूप जीवका निज-स्वभाव प्रकट होता है, इसलिये जीवके स्वरूपका ऐसा परमार्थसे श्रद्धान करना वह ही सम्यग्दर्शन है ॥१५०॥

चउघातिनाशे ज्ञान–दर्शन–सौख्य–बल चारे गुणो।
प्राकट्य पामे जीवने, परकाश लोकालोकनो ॥१५०॥

आगे जिसके अनन्तचतुष्टय प्रगट होते हैं उसको परमात्मा कहते हैं। उसके अनेक नाम हैं, उनमेंसे कुछ प्रकट कर कहते हैं:—

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥१५१॥

ज्ञानी शिवः परमेष्ठी सर्वज्ञः विष्णुः चतुर्मुखः बुद्धः।
आत्मा अपि च परमात्मा कर्मविमुक्तः च भवति स्फुटम् ॥१५१॥

अर्थः—परमात्मा ज्ञानी है, शिव है, परमेष्ठी है, सर्वज्ञ है, विष्णु है, चतुर्मुख-ब्रह्मा है बुद्ध है, आत्मा है, परमात्मा है और कर्मरहित है, यह स्पष्ट जानो।

भावार्थः—**'ज्ञानी'** कहनेसे सांख्यमती ज्ञानरहित उदासीन चैतन्यमात्र मानता है उसका निषेध है। **'शिव'** है अर्थात् सब कल्याणोंसे परिपूर्ण है, जैसा सांख्यमती नैयायिक वैशेषिक मानते हैं वैसा नहीं है। **'परमेष्ठी'** है सो परम (उत्कृष्ट) पदमें स्थित है अथवा उत्कृष्ट इष्टत्व स्वभाव है। जैसे अन्यमती कई अपना इष्ट कुछ मान करके उसको परमेष्ठी कहते हैं वैसे नहीं है। **'सर्वज्ञ'** है अर्थात् सब लोकालोकको जानता है; अन्य कितने ही किसी एक प्रकरण सबंधी सब बात जानता है उसको भी सर्वज्ञ कहते हैं वैसे नहीं है। **'विष्णु'** है अर्थात् जिसका ज्ञान सब ज्ञेयोंमें व्यापक है—अन्यमती वेदांती आदि कहते हैं कि पदार्थोंमें आप है तो ऐसा नहीं है।

'चतुर्मुख' कहनेसे केवली अरहंतके समवसरणमें चार मुख चारों दिशाओंमें दिखते हैं ऐसा अतिशय है, इसलिये चतुर्मुख कहते हैं—अन्यमती ब्रह्माको चतुर्मुख कहते हैं ऐसा ब्रह्मा कोई नहीं है। **'बुद्ध'** है अर्थात् सबका ज्ञाता है—बौद्धमती क्षणिकको बुद्ध कहते हैं वैसा ही नहीं है। **'आत्मा'** है अपने स्वभावहीमें निरन्तर प्रवर्तता है—अन्यमती वेदान्ती सबमें प्रवर्तते हुए आत्माको मानते हैं वैसा नहीं है। **'परमात्मा'** है अर्थात् आत्माको पूर्णरूप 'अनन्तचतुष्टय' उसके प्रगट हो गये हैं, इसलिये परमात्मा है। कर्म जो आत्मा के स्वभावके घातक घातियाकर्मोंसे रहित हो गये हैं इसलिये 'कर्म विमुक्त' है, अथवा कुछ करने योग्य काम न रहा इसलिये भी कर्मविमुक्त हैं। सांख्यमती, नैयायिक

ते ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी छे, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध छे।
आत्मा तथा परमातमा, सर्वज्ञ, कर्मविमुक्त छे ॥१५१॥

सदा ही कर्मरहित मानते हैं वैसे नहीं हैं। ऐसे परमात्माके सार्थक नाम हैं। अन्यमती अपने इष्टका नाम एकही कहते हैं, उनका सर्वथा एकान्तके अभिप्रायके द्वारा अर्थ बिगड़ता है इसलिये यथार्थ नहीं है। अरहन्तके ये नाम नयविवक्षासे सत्यार्थ हैं, ऐसा जानो ॥१५१॥

आगे आचार्य कहते हैं कि ऐसा देव मुझे उत्तम बोधि देवे:—

इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो।
तिहुवणभवणपदीवो देउ ममं उत्तमं बोहिं ॥१५२॥

इति घातिकर्ममुक्तः अष्टादशदोषवर्जितः सकलः।
त्रिभूवनभवनप्रदीपः ददातु मह्यं उत्तमां बोधिम् ॥१५२॥

अर्थः—इसप्रकार घातिया कर्मोंसे रहित, क्षुधा तृषा आदि पूर्वोक्त अठारह दोषोंसे रहित, सकल (शरीर सहित) और तीन भुवनरूपी भवन को प्रकाशित करनेके लिए प्रकृष्टदीपक तुल्य देव है, वह मुझे उत्तम बोधि (–सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) की प्राप्ति देवे, इस प्रकार आचार्यने प्रार्थना की है।

भावार्थ—यहाँ और तो पूर्वोक्त प्रकार जानना, परन्तु 'सकल' विशेषणका यह आशय है कि–मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करनेके जो उपदेश हैं वह वचनके प्रवर्ते बिना नहीं होते हैं और वचनकी प्रवृत्ति शरीर विना नहीं होती है, इसलिये अरहंतका आयु कर्मके उदयसे शरीर सहित अवस्थान रहता है और सुस्वर आदि नामकर्मके उदयसे वचनकी प्रवृत्ति होती है। इस तरह अनेक जीवोंका कल्याण करनेवाला उपदेश होता रहता है। अन्यमतियोंके ऐसा अवस्थान (ऐसी स्थिति) परमात्माके संभव नहीं है, इसलिये उपदेशकी प्रवृत्ति नहीं बनती है, तव मोक्षमार्गका उपदेश भी नहीं बनता है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥१५२॥

आगे कहते हैं कि जो ऐसे अरहंत जिनेश्वरके चरणोंको नमस्कार करते हैं वे संसारकी जन्मरूप वेलको काटते हैं:—

ए घातिकर्मविमुक्त, दोष अढार रहित, सदेह ए।
त्रिभुवनभवनना दीप जिनवर बोधि दो उत्तम मने ॥१५२॥

जिणवरचरणंवुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण ।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥

जिनवरचरणांवुरुहं नमंतिये परमभक्तिरागेण ।
ते जन्मवल्लीमूलं खनंति वरभावशस्त्रेण ॥

अर्थः—जो पुरुष परम भक्ति अनुरागसे जिनवरके चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं वे श्रेष्ठभावरूप 'शस्त्र' से जन्म अर्थात् संसाररूपी वेलके मूल जो मिथ्यात्व आदि कर्म, उसको नष्ट कर डालते हैं (खोद डालते हैं) ।

भावार्थः—अपनी श्रद्धा–रुचि–प्रतीतिसे जो जिनेश्वरदेवको नमस्कार करता है, उनके सत्यार्थस्वरूप सर्वज्ञ वीतरागीपनको जानकर भक्तिके अनुरागसे नमस्कार करता है तव ज्ञात होता है कि सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका यह चिह्न है, इसलिये मालूम होता है कि इसके मिथ्यात्वका नाश हो गया, अव आगामी संसारकी वृद्धि इसके नहीं होगी, इसप्रकार वताया है ॥१५३॥

आगे कहते हैं कि जो जिनसम्यक्त्वको प्राप्त पुरुष है सो वह आगामी कर्मसे लिप्त नहीं होता हैः—

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए ।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥१५४॥

यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनीपत्रं स्वभावप्रकृत्या ।
तथा भावेन न लिप्यते कषायविषयैः सत्पुरुषः ॥१५४॥

अर्थः—जैसे कमलिनीका पत्र अपने स्वभावसे ही जलसे लिप्त नहीं होता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि सत् पुरुष है वह अपने भावसे ही क्रोधादिक कपाय और इन्द्रियोंके विषयोंसे लिप्त नहीं होता है ।

जे परमभक्तिरागथी जिनवरपदांबुजने नमे ।
ते जन्मवेलीमूलने वर भावशस्त्र वडे खणे ॥१५३॥
ज्यम कमलिनीना पत्रने नहि सलिललेप स्वभावथी ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि पुरुषके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायका तो सर्वथा अभाव ही है, अन्य कषायोंका यथासंभव अभाव है। मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीके अभाव से ऐसा भाव होता है जो परद्रव्यमात्रके कर्तृत्वकी बुद्धि तो नहीं है, परन्तु शेष कषायोंके उदयसे कुछ राग-द्वेष होता है, उसको कर्मके उदयके निमित्तसे हुए जानता है, इसलिये उसमें भी कर्तृत्वबुद्धि नहीं है, तो भी उन भावोंको रोगके समान हुए जानकर अच्छा नहीं समझता है। इसप्रकार अपने भावोंसे ही कषाय-विषयोंसे प्रीति बुद्धि नहीं है, इसलिये उनसे लिप्त नहीं होता है, जलकमलवत् निर्लेप रहता है। इससे आगामी कर्मका वन्ध नहीं होता है, संसारकी वृद्धि नहीं होती है, ऐसा आशय है ।।१५४।।

आगे कहते हैं कि जो पूर्वोक्त भाव सहित सम्यग्दृष्टि सत्पुरुष है वे ही सकल शील संयमादि गुणोंसे संयुक्त हैं, अन्य नहीं हैं:—

ते [1]च्चिय भणामि हं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं ।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ।।१५५।।

[2]तानेव च भणामि ये सकलकलाशीलसंयमगुणैः ।
बहुदोषाणामावासः सुमलिनचित्तः न श्रावकसमः सः ।।१५५।।

अर्थः—पूर्वोक्त भावसहित सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और शील संयम गुणोंसे सकल कला अर्थात् संपूर्ण कलावान् होते हैं, उनहीको हम मुनि कहते हैं। जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, मलिनचित्तसहित मिथ्यादृष्टि है और बहुत दोषोंका आवास (स्थान) है वह तो भेप धारण करता है तो भी श्रावकके समान भी नहीं है।

भावार्थः—जो सम्यग्दृष्टि है और शील (-उत्तर गुण) तथा संयम (-मूलगुण) सहित है वह मुनि है। जो मिथ्यादृष्टि है अर्थात् जिसका चित्त मिथ्यात्वसे मलिन है और जिसमें क्रोधादि विकाररूप बहुत दोष पाये जाते हैं, वह तो मुनिका भेष धारण

---

१. पाठान्तरः—चि य ।

२. पाठान्तरः—तान् अपि ।

कहु ते ज मुनि जे शीलसंयमगुण-समस्त कला-धरे ।
जे मलिनमन बहुदोपघर, ते तो न श्रावकतुल्य छे ।।१५५।।

करता है तो भी श्रावकके समान भी नहीं है, श्रावक सम्यग्दृष्टि हो और गृहस्थाचारके पाप सहित हो तो भी उसके बराबर वह केवल भेषमात्रको धारण करनेवाला मुनि नहीं है ऐसा आचार्य ने कहा है ॥१५५॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि होकर जिनने कषायरूप सुभट जीते वे ही धीरवीर हैं:—

ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं ॥१५६॥

ते धीरवीरपुरुषाः क्षमादमखड्गेण विस्फुरता।
दुर्जयप्रबलबलोद्धतकषायभटाः निर्जिता यैः ॥१५६॥

अर्थः—जिन पुरुषोंने क्षमा और इन्द्रियोंका दमन वह ही हुआ विस्फुरता अर्थात् सजाया हुआ मलिनतारहित उज्ज्वल तीक्ष्ण खड्ग उससे जिनको जीतना कठिन है ऐसे दुर्जय, प्रबल तथा बलसे उद्धत कषायरूप सुभटोंको जीते, वे ही धीरवीर सुभट हैं, अन्य संग्रामादिकमें जीतनेवाले तो 'कहनेके सुभट' हैं।

भावार्थः—युद्धमें जीतनेवाले शूरवीर तो लोकमें बहुत हैं, परन्तु कषायोंको जीतनेवाले विरले हैं, वे मुनिप्रधान हैं और वे ही शूरवीरोंमें प्रधान है। जो सम्यग्दृष्टि होकर कषायोंको जीतकर चारित्रवान् होते हैं वे मोक्ष पाते हैं, ऐसा आशय है ॥१५६॥

आगे कहते हैं कि जो आप दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप होते हैं वे अन्यको भी उन सहित करते हैं, उनको धन्य है:—

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं।
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥१५७॥

ते धीरवीर नरो, क्षमादम–तीक्ष्णखड्गे जेमणे।
जीत्या सुदुर्जय–उग्रबल–मदमत्त–सुभट–कषायने ॥१५६॥

छे धन्य ते भगवंत, दर्शनज्ञान–उत्तमकर वडे।
जे पार करता विषयमकराकरपतित भवि जीवने ॥१५७॥

ते धन्याः भगवंतः दर्शनज्ञानाग्रप्रवरहस्तैः ।
विषयमकरधरपतिताः भव्याः उत्तारिताः यैः ॥१५७॥

अर्थः—जिन सत्पुरुषोंने विषयरूप मकरधर (समुद्र) में पड़े हुए भव्यजीवोंको—दर्शन और ज्ञानरूपी मुख्य दोनों हाथोंसे—पार उतार दिये, वे मुनिप्रधान भगवान् इन्द्रादिकसे पूज्य ज्ञानी धन्य है।

भावार्थः—इस संसार—समुद्रसे आप तिरे और दूसरोंको तिरा देवें उन मुनियोंको धन्य है। धनादिक सामग्रीसहितको 'धन्य' कहते हैं, वह तो 'कहनेके धन्य' हैं ॥१५७॥

आगे फिर ऐसे मुनियोंकी महिमा करते हैंः—

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा ।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥१५८॥

मायावल्लीं अशेषां मोहमहातरुवरे आरूढाम् ।
विषयविषपुष्पपुष्पितां लुनंति मुनयः ज्ञानशस्त्रैः ॥१५७॥

अर्थः—माया (—कपट) रूपी बेल जो मोहरूपी महा वृक्ष पर चढ़ी हुई है तथा विषयरूपी विषके फूलोंसे फूल रही है उसको मुनि ज्ञानरूपी शस्त्रसे समस्ततया काट डालते हैं अर्थात् निःशेष कर देते हैं।

भावार्थः—यह मायाकषाय गूढ़ है, इसका विस्तार भी बहुत है, मुनियों तक फैलती है, इसलिये जो मुनि ज्ञानसे इसको काट डालते हैं वे ही सच्चे मुनि हैं, वे ही मोक्ष पाते हैं ॥१५८॥

आगे फिर उन मुनियोंके सामर्थ्यको कहते हैंः—

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता ।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५९॥

मुनि ज्ञानशस्त्रे छेदता संपूर्ण मायावेलने।
—बहु विषय—विषपुष्पे खीली, आरूढ मोहमहाद्रुमे ॥१५८॥

मद—मोह—गारवमुक्त ने जे युक्त करुणाभावथी।
सघला दुरितरूप थंभने घाते चरण-तरवारथी ॥१५९॥

मोहमदगारवैः च मुक्ताः ये करुणभावसंयुक्ताः ।
ते सर्वदुरितस्तंभं घ्नंति चारित्रखड्गेन ।।१५९।।

अर्थः—जो मुनि मोह–मद–गौरवसे रहित हैं और करुणाभाव सहित हैं, वे ही चारित्ररूपी खड्गसे पापरूपी स्तंभको हनते हैं अर्थात् मूलसे काट डालते हैं ।

भावार्थः—परद्रव्यसे ममत्वभावको **'मोह'** कहते हैं । 'मद'–जाति आदि परद्रव्यके संबंधसे गर्व होनेको **'मद'** कहते हैं । 'गौरव' तीन प्रकारका है–ऋद्धिगौरव, सातगौरव और रसगौरव । जो कुछ तपोबलसे अपनी महंतता लोकमें हो उसका अपनेको मद आवे, उसमें हर्ष माने वह **'ऋद्धिगौरव'** है । यदि अपने शरीरमें रोगादिक उत्पन्न न हों तो सुख माने तथा प्रमादयुक्त होकर अपना महंतपना माने **'सातगौरव'** है । यदि मिष्ट पुष्ट रसीला आहारादिक मिले तो उसके निमित्तसे प्रमत्त होकर शयनादिक करे **'रसगौरव'** है । मुनि इसप्रकार गौरवसे तो रहित हैं और परजीवोंकी करुणासे सहित हैं–ऐसा नहीं है कि परजीवोंसे मोहममत्व नहीं है इसलिये निर्दय होकर उनको मारते हैं, परन्तु जब तक राग अंश रहता है तब तक पर जीवोंकी करुणा ही करते हैं, उपकारबुद्धि रहती है । इसप्रकार ज्ञानी मुनि पाप जो अशुभकर्म उसका चारित्रके बलसे नाश करते हैं ।।१५९।।

आगे कहते हैं कि जो इसप्रकार मूलगुण और उत्तरगुणोंसे मंडित मुनि हैं वे जिनमतमें शोभा पाते हैं:—

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो ।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे ।।१६०।।

गुणगणमणिमालया जिनमतगगने निशाकरमुनींद्रः ।
तारावलीपरिकरितः पूर्णिमेन्दुरिव पवनपथे ।।१६०।।

अर्थः—जैसे पवनपथ (-आकाश) में ताराओंकी पंक्तिके परिवारसे वेष्टित पूर्णिमाका चन्द्रमा शोभा पाता है, वैसे ही जिनमतरूप आकाशमें गुणोंके समूहरूपी मणियोंकी मालासे मुनीन्द्ररूप चंद्रमा शोभा पाता है ।

तारावली सह जे रीते पूर्णेन्दु शोभे आभमां ।
गुणवृंदमणिमाला सहित मुनिचन्द्र जिनमतगगनमां ।।१६०।।

भावार्थः—अट्ठाईस मूलगुण, दशलक्षण धर्म, तीन गुप्ति और चौरासीलाख उत्तरगुणोंकी मालासहित मुनि जिनमतमें चन्द्रमाके समान शोभा पाता है, ऐसे मुनि अन्यमतमें नहीं हैं ॥१६०॥

आगे कहते हैं कि जिनके इसप्रकार विशुद्ध भाव हैं वे सत्पुरुष तीर्थंकर आदि पदके सुखोंको पाते हैं:—

चक्कहररामकेसवसुरवरजिणगणहराइसोक्खाइं ।
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥१६१॥

चक्रधररामकेशवसुरवरजिनगणधरादिसौख्यानि ।
चारणमुन्यर्द्धीः विशुद्धभावा नराः प्राप्ताः ॥१६१॥

अर्थः—विशुद्ध भाववाले ऐसे नर मुनि हैं वह चक्रधर (—चक्रवर्ती, छह खंडका राजेन्द्र) राम (—बलभद्र) केशव (—नारायण, अर्द्धचक्री) सुरवर (—देवोंका इन्द्र) जिन (तीर्थंकर पंचकल्याणक सहित, तीनलोकसे पूज्य पद) गणधर (—चार ज्ञान और सप्तऋद्धिके धारक मुनि) इनके सुखोंको तथा चारणमुनि (जिनके आकाश-गामिनी आदि ऋद्धियाँ पाई जातो हैं) की ऋद्धियोंको प्राप्त हुए ।

भावार्थः—पहिले इसप्रकार निर्मल भावोंके धारक पुरुष हुए वे इस प्रकारके पदोंके सुखोंको प्राप्त हुए, अव जो ऐसे होंगे वे पावेंगे, ऐसा जानो ॥१६१॥

आगे कहते हैं कि मोक्षका सुख भी ऐसे ही पाते हैं:—

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं ।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६२॥

शिवमजरामरलिंगं अनुपममुत्तमं परमविमलमतुलम् ।
प्राप्तो वरसिद्धिसुखं जिनभावनाभाविताः जीवाः ॥१६२॥

चक्रेश केशव–राम–जिन–गणी–सुरवरादिक–सौख्यने ।
चारणमुनींद्रसुऋद्धिने, सुविशुद्धभाव नरो लहे ॥१६१॥
जिनभावनापरिणत जीवो वरसिद्धिसुख अनुपम लहे ।
शिव, अतुल, उत्तम, परम, निर्मल, अजर–अमरस्वरूप जे ॥१६२॥

अर्थः—जो जिनभावनासे भावित जीव हैं वे ही सिद्धि अर्थात् मोक्षके सुखको पाते हैं। कैसा है सिद्धि सुख ? 'शिव' है, कल्याणरूप है, किसीप्रकार उपद्रव सहित नहीं है, 'अजरामरलिंग' है अर्थात् जिसका चिह्न वृद्ध होना और मरना इन दोनोंसे रहित है, 'अनुपम' है जिसको संसार के सुखकी उपमा नहीं लगती है, 'उत्तम' (सर्वोत्तम) है, 'परम' (सर्वोत्कृष्ट) है, महार्घ्य है अर्थात् महान् अर्घ्य पूज्य प्रशंसा के योग्य है, 'विमल' है कर्मके मल तथा रागादिकमलसे रहित है। 'अतुल' है, इसके बराबर ससारका सुख नहीं है, ऐसे सुखको जिन—भक्त पाता है, अन्यका भक्त नहीं पाता है ॥१६२॥

आगे आचार्य प्रार्थना करते हैं कि जो ऐसे सिद्धसुखको प्राप्त हुए सिद्ध भगवान् वे मुझे भावोंकी शुद्धता देवें:—

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा।
दिंतु वरभावसुद्धिं दंसण णाणे चरित्ते य ॥१६२॥

ते मे त्रिभुवनमहिताः सिद्धाः सुद्धाः निरंजनाः नित्याः।
ददतु वरभावशुद्धिं दर्शने ज्ञाने चारित्रे च ॥१६२॥

अर्थः—सिद्ध भगवान मुझे दर्शन ज्ञानमें और चारित्रमें श्रेष्ठ उत्तमभावकी शुद्धता देवें। कैसे हैं सिद्ध भगवान् ? तीन भुवनसे पूज्य हैं, शुद्ध हैं, अर्थात् द्रव्यकर्म और नोकर्मरूप मलसे रहित हैं, निरंजन हैं अर्थात् रागादि कर्मसे रहित हैं, जिनके कर्मकी उत्पत्ति नहीं है, नित्य हैं—प्राप्त स्वभावका फिर नाश नहीं है।

भावार्थः—आचार्यने शुद्धभावका फल सिद्ध अवस्था और जो निश्चयसे इस फलको प्राप्त हुए सिद्ध, इनसे यही प्रार्थना की है कि शुद्धभावकी पूर्णता हमारे होवे ॥१६३॥

आगे भावके कथनका संकोच करते हैं:—

भगवत सिद्धो–त्रिजगपूजित, नित्य, शुद्ध, निरंजना।
—वर भावशुद्धि दो मने दृग, ज्ञान ने चारित्रमां ॥१६३॥

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य।
अण्णे वि य वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥१६४॥

किं जल्पितेन बहुना अर्थः धर्मः च काममोक्षः च।
अन्ये अपि च व्यापाराः भावे परिस्थिताः सर्वे ॥१६४॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि बहुत कहनेसे क्या? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और अन्य जो कुछ व्यापार है वह सब ही शुद्धभावमें समस्तरूपसे स्थित है।

भावार्थः—पुरुषके चार प्रयोजन प्रधान हैं–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। अन्य भी जो कुछ मंत्रसाधनादिक व्यापार हैं वे आत्माके शुद्ध चैतन्य परिणामस्वरूप भावमें स्थित हैं। शुद्धभावसे सब सिद्धि है, इसप्रकार संक्षेपमे कहना जानो, अधिक क्या कहें? ॥१६४॥

आगे इस भावपाहुडको पूर्ण करते हैं इसके पढ़ने सुनने व भाव करनेका (चिन्तनका) उपदेश करते हैं:—

इय भावपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहि देसियं सम्मं।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६५॥

इति भावप्राभृतमिदं सर्वबुद्धैः देशितं सम्यक्।
यः पठति श्रृणोति भावयति सः प्राप्नोति अविचलं स्थानम् ॥१६५॥

अर्थः—इसप्रकार इस भावपाहुडका सर्वबुद्ध–सर्वज्ञदेवने उपदेश दिया है, इसको जो भव्यजीव सम्यक्प्रकार पढ़ते हैं, सुनते हैं और इसका चिन्तन करते हैं वे शाश्वत सुखके स्थान मोक्षको पाते हैं।

भावार्थः—यह भावपाहुड ग्रंथ सर्वज्ञकी परंपरासे अर्थ लेकर आचार्यने कहा है, इसलिये सर्वज्ञका ही उपदेश है, केवल छद्मस्थका ही कहा हुआ नहीं है, इसलिये आचार्यने अपना कर्त्तव्य प्रधानकर नहीं कहा है। इसके पढ़ने सुननेका फल मोक्ष कहा,

---

बहु कथन शुं करवुं? अरे! धर्मार्थकामविमोक्ष ने।
बीजाय बहु व्यापार, ते सौ भाव मांही रहेल छे ॥१६४॥
ए रीत सर्वज्ञे कथित आ भावप्राभृत–शास्त्रनां।
सुपठन–सुश्रवण–सुभावनाथी वास अविचल धाममां ॥१६५॥

वह युक्त ही है। शुद्धभावसे मोक्ष होता है और इसके पढ़नेसे शुद्धभाव होते हैं। [नोंध—यहाँ स्वाश्रयी निश्चयमें शुद्धता करे तो निमित्तमें शास्त्र पठनादिमें व्यवहारसे निमित्त कारण-परंपरा कारण कहा जाय। अनुपचार = निश्चय बिना उपचार = व्यवहार कैसा ?] इसप्रकार इसका पढ़ना, सुनना, धारणा और भावना करना परंपरा मोक्षका कारण है। इसलिये हे भव्यजीवो ! इस भावपाहुडको पढ़ो, सुनो, सुनाओ, भावो और निरन्तर अभ्यास करो जिससे भाव शुद्ध हों और सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पूर्णताको पाकर मोक्षको प्राप्त करो तथा वहाँ परमानंदरूप शाश्वतसुखको भोगो।

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दनामक आचार्यने भावपाहुडग्रंथ पूर्ण किया।

इसका संक्षेप ऐसे है—जीवनामक वस्तुका एक असाधारण शुद्ध अविनाशी चेतना स्वभाव है। इसकी शुद्ध, अशुद्ध दो परिणति हैं। शुद्ध दर्शन-ज्ञानोपयोगरूप परिणमना 'शुद्ध परिणति' है, इसको शुद्धभाव कहते हैं। कर्मके निमित्तसे राग-द्वेष-मोहादिक विभावरूप परिणमना 'अशुद्ध परिणति है, इसको अशुद्धभाव कहते हैं। कर्मका निमित्त अनादिसे है इसलिये अशुद्धभावरूप अनादिहीसे परिणमन कर रहा है। इस भावसे शुभ अशुभ कर्मका बंध होता है, इस बंधके उदयसे फिर शुभ या अशुभ भावरूप (-अशुद्ध भावरूप) परिणमन करता है इसप्रकार अनादि संतान चला आता है। जब इष्टदेवतादिककी भक्ति, जीवोंकी दया, उपकार मंदकषायरूप परिणमन करता है तब तो शुभकर्मका बंध करता है। इसके निमित्तसे देवादिक पर्याय पाकर कुछ सुखी होता है। जब विषय-कषाय तीव्र परिणामरूप परिणमन करता है तब पापका बंध करता है, इसके उदयमें नरकादिक पर्याय पाकर दुःखी होता है।

इसप्रकार संसारमें अशुद्धभावसे अनादिकालसे यह जीव भ्रमण करता है। जब कोई काल ऐसा आवे जिसमें जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ वीतरागके उपदेशकी प्राप्ति हो और उसका श्रद्धान रुचि प्रतीति आचरण करे तब स्व और परका भेदज्ञान करके शुद्ध-अशुद्ध भावका स्वरूप जानकर अपने हित-अहितका श्रद्धान रुचि प्रतीति आचरण हो तब शुद्धदर्शनज्ञानमयी शुद्ध चेतना परिणमनको तो 'हित' जाने इसका फल संसारकी निवृत्ति है इसको जाने और अशुद्धभावका फल संसार है, इसको जाने, तब शुद्धभावके ग्रहणका और अशुद्धभावके त्यागका उपाय करे। उपायका स्वरूप जैसे सर्वज्ञ वीतरागके आगममें कहा है वैसे करे।

इसका स्वरूप निश्चयव्यवहारात्मक सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग कहा है। शुद्धस्वरूपके श्रद्धान ज्ञान चारित्रको **'निश्चय'** कहा है और जिनदेव सर्वज्ञ वीतराग तथा उसके वचन और उन वचनोंके अनुसार प्रवर्तनेवाले मुनि श्रावक उनकी भक्ति वन्दना विनय वैयावृत्य करना **'व्यवहार'** है, क्योंकि यह मोक्षमार्गमें प्रवर्तनेको उपकारी है। उपकारीका उपकार मानना न्याय है, उपकार लोपना अन्याय है। स्वरूपके साधक अहिंसा आदि महाव्रत तथा रत्नत्रयरूप प्रवृत्ति, समिति, गुप्तिरूप प्रवर्तना और इनमें दोष लगने पर अपनी निंदा गर्हादिक करना, गुरुओंका दिया हुआ प्रायश्चित्त लेना, शक्तिके अनुसार तप करना परिषह सहना, दसलक्षणधर्ममें प्रवर्तना इत्यादि शुद्धात्माके अनुकूल क्रियारूप प्रवर्तना, इनमें कुछ रागका अंश रहता है तबतक शुभकर्मका बंध होता है तो भी वह प्रधान नहीं है, क्योंकि इनमें प्रवर्तनेवालेके शुभ-कर्मके फलकी इच्छा नहीं है, इसलिये अबंधतुल्य है, इत्यादि प्रवृत्ति आगमोक्त 'व्यवहार मोक्षमार्ग' है। इसमें प्रवृत्तिरूप परिणाम हैं तो भी निवृत्तिप्रधान है, इसलिये निश्चय मोक्षमार्गमें विरोध नहीं है।

इसप्रकार निश्चय–व्यवहारस्वरूप मोक्षमार्गका संक्षेप है। इसीको [1]**'शुद्धभाव'** कहा है। इसमें भी सम्यग्दर्शनको प्रधान कहा है, क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना सब व्यवहार मोक्षका कारण नहीं है और सम्यग्दर्शनके व्यवहारमें जिनदेवकी भक्ति प्रधान है, यह सम्यग्दर्शनको बतानेके लिए मुख्य चिह्न है, इसलिये जिनभक्ति निरंतर करना और जिन आज्ञा मानकर आगमोक्त मार्गमें प्रवर्तना यह श्रीगुरुका उपदेश है। अन्य जिन–आज्ञा सिवाय सब कुमार्ग हैं, उनका प्रसंग छोड़ना, इसप्रकार करनेसे आत्म-कल्याण होता है।

* छप्पय *

जीव सदा चिदभाव एक अविनाशी धारै।
कर्म निमितकूं पाय अशुद्धभावनि विस्तारै॥

१—'शुद्धभाव' का निरूपण दो प्रकारसे किया गया है, जैसे 'मोक्षमार्ग दो नहीं है' किन्तु उसका निरूपण दो प्रकारका है इसी प्रकार शुद्धभावको जहाँ दो प्रकारके कहे हैं वहाँ निश्चयनयसे और व्यवहारनयसे कहा है ऐसा समझना चाहिये। निश्चय सम्यग्दर्शनादि है उसे ही व्य० मान्य है और उसे ही निरतिचार व्यवहार रत्नत्रयादिमें व्यवहारसे 'शुद्धत्व' अथवा 'शुद्ध संप्रयोगत्व' का आरोप आता है जिसको व्यवहारमें 'शुद्धभाव' कहा है, उसीको निश्चय अपेक्षा अशुद्ध कहा है—विरुद्ध कहा है, किन्तु व्यवहारनयसे व्यवहार विरुद्ध नहीं है।

कर्म शुभाशुभ बांधि उदै भरमै संसारै ।
पावै दुःख अनंत च्यारि गतिमैं डुलि सारैं ।।
सर्वज्ञदेशना पायकै तजै भाव मिथ्यात्व जब ।
निजशुद्धभाव धरि कर्महरि लहै मोक्ष भरमै न तब ।।

* दोहा *

मंगलमय परमातमा, शुद्धभाव अविकार ।
नमूं पाय पाऊं स्वपद, जाचूं यहै करार ।।

नि श्री कुन्दकुन्दस्वामिविरचित भावप्राभृतकी
जयपुरनिवासी पं० जयचन्द्रजी छाबड़ा कृत
देशभाषामय वचनिका समाप्त ।।५।।

अथ मोक्षपाहुड

— ६ —

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

अथ मोक्षपाहुडकी वचनिका लिख्यते ।

प्रथम ही मंगलके लिये सिद्धोंको नमस्कार करते हैं:—

* दोहा *

अष्ट कर्मको नाश करि, शुद्ध अष्ट गुण पाय ।
भये सिद्ध ध्यानतैं, नमूं मोक्षसुखदाय ॥१॥

इसप्रकार मंगलके लिये सिद्धोंको नमस्कार कर श्रीकुन्दकुन्द आचार्यकृत 'मोक्षपाहुड' ग्रंथ प्राकृत गाथाबन्ध है, उसकी देशभाषामय वचनिका लिखते हैं। प्रथम ही आचार्य मंगलके लिये परमात्माको नमस्कार करते हैं:—

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण ।
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥१॥

ज्ञानमय आत्मा उपलब्धः येन क्षरितकर्मणा ।
त्यक्त्वा च परद्रव्यं नमो नमस्तस्मै देवाय ॥१॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जिसने परद्रव्यको छोड़ करके द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म खिर गये हैं ऐसे होकर निर्मल ज्ञानमयी आत्माको प्राप्त कर लिया है इस प्रकारके देवको हमारा नमस्कार हो—नमस्कार हो । दो बार कहनेमें अति प्रीतियुक्त भाव बताये हैं ।

करीने क्षपण कर्मो तणुं, परद्रव्य परिहरी जेमणे ।
ज्ञानात्म आत्मा प्राप्त कीधो, नमुं नमुं ते देवने ॥१॥

भावार्थः—यह 'मोक्षपाहुड' का प्रारंभ है। यहाँ जिनने समस्त परद्रव्यको छोड़कर कर्मका अभाव करके केवलज्ञानानंदस्वरूप मोक्षपदको प्राप्त कर लिया है, उस देवको मंगलके लिये नमस्कार किया यह युक्त है। जहाँ जैसा प्रकरण वहाँ वैसी योग्यता। यहाँ भाव–मोक्ष तो अरहंतके है और द्रव्य–भाव दोनों प्रकारके मोक्ष सिद्ध परमेष्ठीके है, इसलिये दोनोंको नमस्कार जानो ॥१॥

आगे इसप्रकार नमस्कार कर ग्रंथ करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं:—

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥२॥

नत्वा च तं देवं अनंतवरज्ञानदर्शनं शुद्धम्।
वक्ष्ये परमात्मानं परमपदं परमयोगिनाम् ॥२॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि उस पूर्वोक्त देवको नमस्कार कर, परमात्मा जो उत्कृष्ट शुद्ध आत्मा उसको, परम योगीश्वर जो उत्कृष्ट योग्य ध्यानके करनेवाले मुनिराजोंके लिये कहूंगा। कैसा है पूर्वोक्त देव? जिसके अनन्त और श्रेष्ठ ज्ञान–दर्शन पाया जाता है, विशुद्ध है–कर्ममलसे रहित है, जिसका पद परम उत्कृष्ट है।

भावार्थः—इस ग्रंथमें मोक्षको जिस कारणसे पावे और जैसा मोक्षपद है वैसा वर्णन करेंगे, इसलिये उस रीति उसीकी प्रतिज्ञा की है। योगीश्वरोंके लिए कहेंगे, इसका आशय यह है कि ऐसे मोक्षपदको शुद्ध परमात्माके ध्यानके द्वारा प्राप्त करते हैं, उस ध्यानकी योग्यता योगीश्वरोंके ही प्रधानरूपसे पाई जाती है, गृहस्थोंके यह ध्यान प्रधान नहीं है ॥२॥

आगे कहते हैं कि जिस परमात्माको कहनेकी प्रतिज्ञा की है उसको योगी ध्यानी मुनि जानकर उसका ध्यान करके परम पदको प्राप्त करते हैं:—

जं जाणिऊण जोई जोअत्थो जोइऊण अणवरयं।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं लहइ णिव्वाणं ॥३॥

ते देवने नमी–अमित–वर–दृगज्ञानधरने शुद्धने।
कहुं परमपद–परमातमा–प्रकरण परमयोगीन्द्रने ॥२॥
जे जाणीने, योगस्थ योगी, सतत देखी जेहने।
उपमाविहीन अनंत अव्याबाध शिवपदने लहे ॥३॥

यत् ज्ञात्वा योगी योगस्थः दृष्ट्वा अनवरतम् ।
अव्याबाधमनंतं अनुपमं लभते निर्वाणम् ॥३॥

अर्थः—आगे कहेंगे कि परमात्माको जानकर योगी (–मुनि) योग (–ध्यान) में स्थित होकर निरन्तर उस परमात्माको अनुभवगोचर करके निर्वाणको प्राप्त होता है। कैसा है निर्वाण ? 'अव्याबाध' है,–जहाँ किसी प्रकारकी बाधा नहीं है। 'अनन्त' है– जिसका नाश नहीं है। 'अनुपम' है,—जिसको किसीकी उपमा नहीं लगती है।

भावार्थः—आचार्य कहते हैं कि ऐसे परमात्माको आगे कहेंगे जिसके ध्यानमें मुनि निरंतर अनुभव करके केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाणको प्राप्त करते हैं। यहाँ यह तात्पर्य है कि परमात्माके ध्यानसे मोक्ष होता है ॥३॥

आगे परमात्मा कैसा है ऐसा बतानेके लिए आत्माको तीन प्रकारका दिखाते हैं:—

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो [१]हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चइवि बहिरप्पा ॥४॥

त्रिप्रकारः स आत्मा परमन्तः बहिः स्फुटं देहिनाम् ।
तत्र परं ध्यायते अन्तरुपायेन त्यज बहिरात्मानम् ॥४॥

अर्थः—वह आत्मा प्राणियोंके तीन प्रकारका है; अंतरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। अंतरात्माके उपाय द्वारा बहिरात्मपनको छोड़कर परमात्माका ध्यान करना चाहिये।

भावार्थः—बहिरात्मपनको छोड़कर अंतरात्मारूप होकर परमात्माका ध्यान करना चाहिये, इससे मोक्ष होता है ॥४॥

आगे तीन प्रकारके आत्माका स्वरूप दिखाते हैं:—

१—मुद्रित सं० प्रतिमें 'हु हेऊणं' ऐसा पाठ है जिसकी संस्कृत 'तु हित्वा' की है।

ते आतमा छे परम–अंतर–बहिर त्रणधा देहीमां।
अंतर–उपाये परमने ध्याओ, तजो बहिरातमा ॥४॥

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥५॥

अक्षाणि बहिरात्मा अन्तरात्मा स्फुटं आत्मसंकल्पः ।
कर्मकलंकविमुक्तः परमात्मा भण्यते देवः ॥५॥

अर्थः—अक्ष अर्थात् स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ वह तो बाह्य आत्मा हैं क्योंकि इन्द्रियोंसे स्पर्श आदि विषयोंका ज्ञान होता है तब लोग कहते हैं, ऐसे ही जो इन्द्रियाँ हैं वही आत्मा है, इसप्रकार इन्द्रियोंको बाह्य आत्मा कहते हैं। **अंतरात्मा** है वह अंतरंगमें आत्माका प्रकट अनुभवगोचर संकल्प है, शरीर और इन्द्रियोंसे भिन्न मनके द्वारा देखने, जाननेवाला है वह मैं हूँ, इसप्रकार स्वसंवेदनगोचर संकल्प वही अन्तरात्मा है। तथा परमात्मा कर्म जो द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिक तथा भावकर्म जो—राग द्वेष मोहादिक और नोकर्म जो शरीरादिक कलंकमल उससे विमुक्त—रहित, अनंतज्ञानादिक गुण—सहित वही परमात्मा है, वही देव है, अन्यको देव कहना उपचार है।

भावार्थः—बाह्य आत्मा तो इन्द्रियोंको कहा तथा अंतरात्मा देहमें स्थित देखना जानना जिसके पाया जाता है ऐसा मनके द्वारा संकल्प है और परमात्मा कर्मकलंकसे रहित कहा। यहाँ ऐसा बताया है कि यह जीव ही जबतक बाह्य शरीरादिकको ही आत्मा जानता है तबतक तो बहिरात्मा है, संसारी है, जब यही जीव अंतरंगमें आत्माको जानता है तब यह सम्यग्दृष्टि होता है तब अन्तरात्मा है और यह जीव जब परमात्माके ध्यानसे कर्मकलंकसे रहित होता हैं तब पहिले तो केवलज्ञान प्राप्तकर अरहंत होता है, पीछे सिद्धपदको प्राप्त करता है, इन दोनोंहीको परमात्मा कहते हैं। अरहंत तो भाव कलंक रहित हैं और सिद्ध द्रव्य—भावरूप दोनों ही प्रकार के कलंकसे रहित हैं, इसप्रकार जानो ॥५॥

आगे उस परमात्माका विशेषण द्वारा स्वरूप कहते हैंः—

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा ।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥६॥

छे अक्षधी बहिरात्म, आतमबुद्धि अंतर—आतमा।
जे मुक्त कर्मकलंकथी ते देव छे परमातमा ॥५॥
ते छे विशुद्धात्मा, अनिंद्रिय, मलरहित, तनमुक्त छे।
परमेष्ठी, केवल, परमजिन, शाश्वत, शिवंकर, सिद्ध छे ॥६॥

मलरहितः कलत्यक्तः अनिंद्रियः केवलः विशुद्धात्मा ।
परमेष्ठी परमजिनः शिवंकरः शाश्वतः सिद्धः ॥६॥

अर्थः—परमात्मा ऐसा है—मलरहित है—द्रव्यकर्म भावकर्मरूप मलसे रहित है, कलत्यक्त (–शरीर रहित) है अनिंद्रिय (–इन्द्रिय रहित) है, अथवा अनिंदित अर्थात् किसीप्रकार निंदायुक्त नहीं है सब प्रकारसे प्रशंसा योग्य है, केवल (–केवलज्ञान-मयी) है, विशुद्धात्मा–जिसकी आत्माका स्वरूप विशेषरूपसे शुद्ध है, ज्ञानमें ज्ञेयोंके आकार झलकते हैं तो भी उनरूप नहीं होता है और न उनसे रागद्वेष है, परमेष्ठी है–परमपदमें स्थित है परम जिन है—सब कर्मोंको जीत लिये हैं, शिवंकर है–भव्यजीवोंको परम मंगल तथा मोक्षको करता है, शाश्वता (–अविनाशी) है, सिद्ध है—अपने स्व-रूपकी सिद्धि करके निर्वाणपदको प्राप्त हुआ है ।

भावार्थः—ऐसा परमात्मा है, जो इस प्रकारके परमात्माका ध्यान करता है वह ऐसा ही हो जाता है ॥६॥

आगे भी यही उपदेश करते हैंः—

आरुहवि अन्तरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥७॥

आरुह्य अंतरात्मानं बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।
ध्यायते परमात्मा उपदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥७॥

अर्थः—बहिरात्मपनको मन वचन कायसे छोड़कर अन्तरात्माका आश्रय लेकर परमात्माका ध्यान करो, यह जिनवरेन्द्र तीर्थंकर परमदेवने उपदेश दिया है ।

भावार्थ—परमात्माके ध्यान करनेका उपदेश प्रधान करके कहा है इसीसे मोक्ष पाते हैं ॥७॥

आगे बहिरात्माकी प्रवृत्ति कहते हैंः—

थई अंतरात्मारूढ, बहिरात्मा तजीने त्रणविधे ।
ध्यातव्य छे परमातमा–जिनवरवृषभ–उपदेश छे ॥७॥

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण [१]णियसरूवचुओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥८॥

बहिरर्थे स्फुरितमनाः इन्द्रियद्वारेण निजस्वरूपच्युतः ।
निजदेहं आत्मानं अध्यवस्यति मूढदृष्टिस्तु ॥८॥

अर्थः—मूढ़दृष्टि अज्ञानी मोही मिथ्यादृष्टि है वह बाह्य पदार्थ–धन, धान्य, कुटुम्ब आदि इष्ट पदार्थोंमें स्फुरित (–तत्पर) मनवाला है तथा इन्द्रियोंके द्वारसे अपने स्वरूपसे च्युत है और इन्द्रियोंको ही आत्मा जानता है ऐसा होता हुआ अपने देहको ही आत्मा जानता है निश्चय करता है, इसप्रकार मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है ।

भावार्थः—ऐसा बहिरात्माका भाव है उसको छोड़ना ॥८॥

आगे कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि अपनी देहके समान दूसरेकी देहको देखकर उसको दूसरेकी आत्मा मानता है:—

णियदेहसरिच्छं[२] पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण ।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभावेण ॥९॥

निजदेहसदृशं दृष्ट्वा परविग्रहं प्रयत्नेन ।
अचेतनं अपि गृहीतं ध्यायते परमभावेन ॥९॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टि पुरुष अपनी देहके समान दूसरेकी देहको देख करके यह देह अचेतन है तो भी मिथ्याभावसे आत्मभाव द्वारा बड़ा यत्न करके परकी आत्मा ध्याता है अर्थात् समझता है ।

भावार्थः—बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वकर्मके उदयसे (–उदयके वश होनेसे) मिथ्याभाव है इसलिये वह अपनी देहको आत्मा जानता है वैसे ही परकी देह

१—पाठान्तर 'चओ' के स्थान पर 'चुओ'

२—'सरित्थं' पाठान्तर 'सरिसं'

बाह्यार्थ प्रत्ये स्फुरितमन, स्वभ्रष्ट इंद्रियद्वारथी ।
निजदेह अध्यवसित करे आत्मापणे जीव मूढधी ॥८॥
निजदेह सम परदेह देखी मूढ त्यां उद्यम करे ।
ते छे अचेतन तोय माने तेहने आत्मापणे ॥९॥

अचेतन है तो भी उसको परकी आत्मा मानता है (अर्थात् परको भी देहात्मबुद्धिसे मान रहा है और ऐसे मिथ्याभाव सहित ध्यान करता है) और उसमें बड़ा यत्न करता है इसलिये ऐसे भावको छोड़ना यह तात्पर्य है ॥९॥

आगे कहते हैं कि ऐसी ही मान्यतासे पर मनूष्यादिमें मोहकी प्रवृत्ति होती हैः—

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥१०॥

स्वपराध्यवसायेन देहेषु च अविदितार्थमात्मानम्।
सुतदारादिविषये मनुजानां वर्द्धते मोहः ॥१०॥

अर्थः—इस प्रकार देहमें स्व–परके अध्यवसाय (निश्चय) के द्वारा मनुष्योंके सुत दारादिक जीवोंमें मोहकी प्रवृत्ति करते हैं कैसे हैं मनुष्य–जिनने पदार्थका स्वरूप (अर्थात् आत्मा) नहीं जाना है ऐसे हैं।

दूसरा अर्थ [अर्थः—इसप्रकार देहमें स्व–परके अध्यवसाय (निश्चय) के द्वारा जिन मनुष्योंके पदार्थके स्वरूपको नहीं जाना है उनके सुत दारादिक जीवोंमें मोहकी प्रवृत्ति होती है।] (भाषा परिवर्तनकारने यह अर्थ लिखा है)

भावार्थः—जिन मनुष्योंने जीव अजीव पदार्थका स्वरूप यथार्थ नहीं जाना उनके देहमें स्वपराध्यवसाय है। अपनी देहको अपनी आत्मा जानते हैं और परकी देहको परकी आत्मा जानते हैं, उनके पुत्र स्त्री आदि कुटुम्बियोंमें मोह (ममत्व) होता है। जब वे जीव अजीवके स्वरूपको जानें तब देहको अजीव मानें, आत्माको अमूर्तिक चैतन्य जानें, अपनी आत्माको अपनी मानें, और परकी आत्माको पर जानें, तब परमें ममत्व नहीं होता है। इसलिये जीवादिक पदार्थोंका स्वरूप अच्छी तरह जानकर मोह नहीं करना यह बतलाया है ॥१०॥

आगे कहते हैं कि मोहकर्मके उदयसे (–उदयमें युक्त होनेसे) मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव होते हैं उससे आगामी भावमें भी यह मनुष्य देहको चाहता हैः—

वस्तुस्वरूप जाण्या विना देह स्व-अध्यवसायथी।
अज्ञानी जनने मोह फाले पुत्रदारादिक महीं ॥१०॥

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदएण पुणरवि अंगं [1]सं मण्णए मणुओ ॥११॥

मिथ्याज्ञानेषु रतः मिथ्याभावेन भावितः सन् ।
मोहोदयेन पुनरपि अंगं मन्यते मनुजः ॥११॥

अर्थः—यह मनुष्य मोहकर्मके उदयसे (उदयके वश होकर) मिथ्याज्ञानके द्वारा मिथ्याभावसे भाया हुआ फिर आगामी जन्ममें इस अंग (देह) को अच्छा समझकर चाहता है।

भावार्थः—मोहकर्मकी प्रकृति मिथ्यात्वके उदयसे (–उदयके वश होनेसे) ज्ञान भी मिथ्या होता है परद्रव्यको अपना जानता है और उस मिथ्यात्वहीके द्वारा मिथ्या श्रद्धान होता है उससे निरन्तर परद्रव्यमें यह भावना रहती है कि यह मुझे सदा प्राप्त होवे, इससे यह प्राणी आगामी देहको भला जानकर चाहता है ॥११॥

आगे कहते हैं कि जो मुनि देहमें निरपेक्ष है, देहको नहीं चाहता है, इसमें ममत्व नहीं करता है वह निर्वाणको पाता है:—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥१२॥

यः देहे निरपेक्षः निर्द्वन्द्वः निर्ममः निरारंभः।
आत्मस्वभावे सुरतः योगी स लभते निर्वाणम् ॥१२॥

अर्थः—जो योगी ध्यानी मुनि, देहमें निरपेक्ष है अर्थात् देहको नहीं चाहता है उदासीन है, निर्द्वन्द है—रागद्वेषरूप इच्छा अनिष्ट मान्यता से रहित है, निर्ममत्त्व है–देहादिकमें 'यह मेरा' ऐसो बुद्धिसे रहित है, निरारंभ है—इस शरीरके लिये तथा अन्य

१—मुद्रित सं० प्रतिमें 'सं मण्णए' ऐसा प्राकृत पाठ है जिसका 'स्वं मान्यते' ऐसा संस्कृत पाठ है।

रही लीन मिथ्याज्ञानमां, मिथ्यात्वभावे परिणमी।
ते देह माने 'हुं' पणे फरीनेय मोहोदय थकी ॥११॥
निर्द्वंद्व, निर्मम, देहमां निरपेक्ष, मुक्तारंभ जे।
जे लीन आत्मस्वभावमां, ते योगी पामे मोक्षने ॥१२॥

लौकिक प्रयोजनके लिए आरंभसे रहित है और आत्मस्वभावमें रत है, लीन है, निरंतर स्वभावकी भावना सहित है वह मुनि निर्वाणको प्राप्त करता है।

भावार्थः—जो बहिरात्माके भावको छोड़कर अन्तरात्मा बनकर परमात्मामें लीन होता है वह मोक्ष प्राप्त करता है। यह उपदेश बताया है ॥१२॥

आगे वंध और मोक्षके कारणका संक्षेपरूप आगमका वचन कहते हैं:—

परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं।
एसो जिणउवदेसो [1]समासदो बंधमुक्खस्स ॥१३॥

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुच्यते विविधकर्मभिः।
एषः जिनोपदेशः समासतः बंधमोक्षस्य ॥१३॥

अर्थः—जो जीव परद्रव्यमें रत है, रागी है वह तो अनेक प्रकारके कर्मोंसे बँधता है, कर्मोंका वन्ध करता है और जो परद्रव्यसे विरत है—रागी नहीं है वह अनेक प्रकारके कर्मोंसे छूटता है, यह वन्धका और मोक्षका संक्षेपमें जिनदेवका उपदेश है।

भावार्थः—बंध-मोक्षके कारणकी कथनी अनेक प्रकारसे है उसका यह संक्षेप है:—जो परद्रव्यसे रागभाव तो बंधका कारण और विरागभाव मोक्षका कारण है, इस प्रकार संक्षेपसे जिनेन्द्र का उपदेश है ॥१३॥

आगे कहते हैं कि जो स्वद्रव्यमें रत है वह सम्यग्दृष्टि होता है और कर्मोंका नाश करता है:—

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण[2]।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ [3]दुट्ठट्ठकम्माइं ॥१४॥

---

१ 'सदो' के स्थान पर 'सओ' पाठान्तर। २ पाठान्तरः—सो साहू।
३ मु० सं० प्रतिमें 'दुट्ठट्ठकम्माणि' पाठ है।

परद्रव्यरत बंधाय, विरत मुकाय विधविध कर्मथी।
–आ, बंधमोक्ष विषे जिनेश्वरदेशना संक्षेपथी ॥१३॥
रे! नियमथी निजद्रव्यरत साधु सुदृष्टि होय छे।
सम्यक्त्वपरिणत वर्ततो दुष्टाष्ट कर्मो क्षय करे ॥१४॥

स्वद्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टि भवति नियमेन[1]।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः [2]क्षपयति दुष्टाष्टकर्माणि ॥१४॥

अर्थः—जो मुनि स्वद्रव्य अर्थात् अपनी आत्मामें रत है, रुचि सहित है वह नियमसे सम्यग्दृष्टि है और वह ही सम्यक्त्व भावरूप परिणमन करता हुआ दुष्ट आठ कर्मोंका क्षय–नाश करता है।

भावार्थः—यह भी कर्मके नाश करनेके कारणका संक्षेप कथन है। जो अपने स्वरूपकी श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, आचरणसे युक्त है वह नियमसे सम्यग्दृष्टि है, इस सम्यक्त्वभावसे परिणमन करता हुआ मुनि आठ कर्मोंका नाश करके निर्वाणको प्राप्त करता है ॥१४॥

आगे कहते है कि जो परद्रव्यमें रत है वह मिथ्यादृष्टि होकर कर्मोंको बाँधता है:—

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥१५॥

यः पुनः परद्रव्यरतः मिथ्यादृष्टिः भवति सः साधु।
मिथ्यात्वपरिणतः पुनः बध्यते दुष्टाष्टकर्मभिः ॥१५॥

अर्थः—पुनः अर्थात् फिर जो साधु परद्रव्यमें रत है रागी है वह मिथ्यादृष्टि होता है और वह मिथ्यात्वभावरूप परिणमन करता हुआ दुष्ट अष्ट कर्मोंसे बँधता है।

भावार्थः—यह बंधके कारणका संक्षेप है। यहाँ साधु कहनेसे ऐसा बताया है कि जो बाह्य परिग्रह छोड़कर निर्ग्रंथ हो जावे तो भी मिथ्यादृष्टि होता हुआ संसारके दुःख देनेवाले अष्ट कर्मोंसे बँधता है ॥१५॥

आगे कहते हैं कि परद्रव्यहीसे दुर्गति होती है और स्वद्रव्यहीसे सुगति होती है:—

---

१ पाठान्तरः—स साधुः।

२ मु० सं० प्रतिमें 'क्षिपते' ऐसा पाठ है।

परद्रव्यमां रत साधु तो मिथ्यादरशयुत होय छे।
मिथ्यात्वपरिणत वर्ततो बांधे करम दुष्टाष्टने ॥१५॥

परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई होइ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरह इयरम्मि ॥१६॥

परद्रव्यात् दुर्गतिः स्वद्रव्यात् स्फुटं सुगतिः भवति।
इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये कुरुत रतिं विरतिं इतरस्मिन् ॥१६॥

अर्थः—परद्रव्यसे दुर्गति होती है और स्वद्रव्यसे सुगति होती है यह स्पष्ट (-प्रगट) जानो, इसलिये हे भव्यजीवो! तुम इस प्रकार जानकर स्वद्रव्यमें रति करो और अन्य जो परद्रव्य उनसे विरति करो।

भावार्थः—लोकमें भी यह रीति है कि अपने द्रव्यसे रति करके अपना ही भोगता है वह तो सुख पाता है, उस पर कुछ आपत्ति नहीं आती है और परद्रव्यसे प्रीति करके चाहे जैसे लेकर भोगता है उसको दुःख होता है आपत्ति उठानी पड़ती है। इसलिये आचार्यने संक्षेपमें उपदेश दिया है कि अपने आत्मस्वभावमें रति करो इससे सुगति है, स्वर्गादिक भी इसीसे होते हैं और मोक्ष भी इसीसे होता है और परद्रव्यसे प्रीति मत करो इससे दुर्गति होती है, संसारमें भ्रमण होता है।

यहाँ कोई कहता है कि स्वद्रव्यमें लीन होनेसे मोक्ष होता है और सुगति दुर्गति तो परद्रव्यकी प्रीतिसे होती है? उसको कहते हैं कि—यह सत्य है परन्तु यहाँ इस आशयसे कहा है कि परद्रव्यसे विरक्त होकर स्वद्रव्यमें लीन होवे तब विशुद्धता बहुत होती है, उस विशुद्धताके निमित्तसे शुभकर्म भी बँधते हैं और जब अत्यंत विशुद्धता होती है तब कर्मोंकी निर्जरा होकर मोक्ष होता है इसलिये सुगति दुर्गतिका होना कहा वह युक्त है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥१६॥

आगे शिष्य पूछता है कि परद्रव्य कैसा है? उसका उत्तर आचार्य कहते हैं:—

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहिं ॥१७॥

परद्रव्यथी दुर्गति, खरे सुगति स्वद्रव्यथी थाय छे।
—ए जाणो, निजद्रव्ये रमो, परद्रव्यथी विरमो तमे ॥१६॥

आत्मस्वभावेतर सचित्त, अचित्त, तेम ज मिश्र जे।
ते जाणवुं परद्रव्य—सर्वज्ञे कह्युं अवितथपणे ॥१७॥

आत्मस्वभावादन्यत् सच्चित्ताचित्तमिश्रितं भवति ।
तत् परद्रव्यं भणितं अवितत्थं सर्वदर्शिभिः ॥१७॥

अर्थः—आत्मस्वभावसे अन्य सचित्त तो स्त्री, पुत्रादिक, जीवसहित वस्तु तथा अचित्त धन, धान्य, हिरण्य सुवर्णादिक अचेतन वस्तु और मिश्र आभूषणादि सहित मनुष्य तथा कुटुम्ब सहित गृहादिक ये सब परद्रव्य हैं, इसप्रकार जिसने जीवादिक पदार्थोंका स्वरूप नहीं जाना उसको समझानेके लिये सर्वदर्शी सर्वज्ञ भगवानने कहा है अथवा 'अवितत्थं' अर्थात् सत्यार्थ कहा है ।

भावार्थः—अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा सिवाय अन्य चेतन अचेतन मिश्र वस्तु हैं वे सबही परद्रव्य हैं इसप्रकार अज्ञानीको समझानेके लिये सर्वज्ञदेवने कहा है ॥१७॥

आगे कहते हैं कि आत्मस्वभाव स्वद्रव्य कहा वह इस प्रकार है:—

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणां हवदि सद्दव्वं ॥१८॥

दुष्टाष्टकर्मरहितं अनुपमं ज्ञानविग्रहं नित्यम् ।
शुद्धं जिनैः भणितं आत्मा भवति स्वद्रव्यम् ॥१८॥

अर्थः—संसारके दुःख देनेवाले ज्ञानावरणादिक दुष्ट अष्टकर्मोंसे रहित और जिसको किसीकी उपमा नहीं ऐसा अनुपम, जिसको ज्ञान ही शरीर है और जिसका नाश नहीं है ऐसा अविनाशी नित्य है और शुद्ध अर्थात् विकाररहित केवलज्ञानमयी आत्मा जिन भगवान् सर्वज्ञने कहा है वह ही स्वद्रव्य है ।

भावार्थः—ज्ञानानन्दमय, अमूर्तिक, ज्ञानमूर्ति अपनी आत्मा है वही एक स्वद्रव्य है अन्य सब चेतन, अचेतन, मिश्र परद्रव्य हैं ॥१८॥

आगे कहते हैं कि जो ऐसे निजद्रव्यका ध्यान करते हैं वे निर्वाण पाते हैं:—

जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता ।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहहिं णिव्वाणं ॥१९॥

दुष्टाष्टकर्मविहीन, अनुपम, ज्ञानविग्रह, नित्य ने ।
जे शुद्ध भाख्यो जिनवरे, ते आतमा स्वद्रव्य छे ॥१८॥
परविमुख थई निजद्रव्य जे ध्यावे सुचारित्रीपणे ।
जिनदेवना मारग महीं संलग्न ते शिवपद लहे ॥१९॥

ये ध्यायंति स्वद्रव्यं परद्रव्य पराङ्मुखास्तु सुचरित्राः ।
ते जिनवराणां मार्गे अनुलग्नाः लभते निर्वाणम् ॥१९॥

अर्थः—जो मुनि परद्रव्यसे पराङ्मुख होकर स्वद्रव्य जो निज आत्म-द्रव्यका ध्यान करते हैं वे प्रगट सुचरित्रा अर्थात् निर्दोष चारित्रयुक्त होते हुए जिनवर तीर्थंकरोंके मार्गका अनुलग्न—(अनुसंधान; अनुसरण) करते हुए निर्वाणको प्राप्त करते हैं।

भावार्थः—परद्रव्यका त्याग कर जो अपने स्वरूपका ध्यान करते है वे निश्चय चारित्ररूप होकर जिनमार्गमें लगते हैं वे मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥१९॥

आगे कहते है कि जिनमार्गमें लगा हुआ योगी शुद्धात्माका ध्यान कर मोक्षको प्राप्त करता है तो क्या उससे स्वर्ग नहीं प्राप्त कर सकता है ? अवश्य ही प्राप्त कर सकता है:—

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं ।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ॥२०॥

जिनवरमतेन योगी ध्याने ध्यायति शुद्धमात्मानम् ।
येन लभते निर्वाणं न लभते किं तेन सुरलोकम् ॥२०॥

अर्थः—योगी ध्यानी मुनि है वह जिनवर भगवानके मतसे शुद्ध आत्माको ध्यानमें ध्याता है उससे निर्वाणको प्राप्त करता है तो उससे क्या स्वर्गलोक नहीं प्राप्त कर सकते हैं ? अवश्य ही प्राप्त करते हैं ॥२०॥

भावार्थः—कोई जानता होगा कि जो जिनमार्गमें लगकर आत्माका ध्यान करता है वह मोक्षको प्राप्त करता है और स्वर्ग तो इससे होता नहीं है, उसको कहा है कि जिनमार्गमें प्रवर्तनेवाला शुद्ध आत्माका ध्यान कर मोक्ष प्राप्त करता ही है तो उससे स्वर्गलोक क्या कठिन है ? यह तो उसके मार्गमें ही है ॥२०॥

आगे इस अर्थको दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं:—

जिनदेवमत–अनुसार ध्यावे योगी निजशुद्धात्मने ।
जेथी लहे निर्वाण, तो शुं नव लहे सुरलोकने ॥२०॥

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाउ भुवणयले ॥२१॥

यः याति योजनशतं दिवसेनैकेन लात्वा गुरुभारम् ।
स किं क्रोशार्द्धमपि स्फुटं न शक्नोति यातुं भुवनतले ॥२१॥

अर्थः—जो पुरुष बड़ा भार लेकर एक दिनमें सौ योजन चला जावे वह इस पृथ्वीतलपर आधा कोश क्या न चला जावे? यह प्रगट—स्पष्ट जानो।

भावार्थ—जो पुरुष बड़ा भार लेकर एक दिनमें सौ योजन चले उसके आधा कोश चलना तो अत्यंत सुगम हुआ, ऐसे ही जिनमार्गसे मोक्ष पावे तो स्वर्ग पाना तो अत्यंत सुगम है ॥२१॥

आगे इसी अर्थका अन्य दृष्टान्त कहते हैं:—

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं।
सो किं जिप्पइ इक्किं णरेण संगामए सुहडो ॥२२॥

यः कोटया न जीयते सुभटः संग्रामकैः सर्वैः ।
स किं जीयते एकेन नरेण संग्रामे सुभटः ॥२२॥

अर्थः—जो कोई सुभट संग्राममें सब ही संग्रामके करनेवालोंके साथ करोड़ मनुष्योंको भी सुगमतासे जीते वह सुभट एक मनुष्यको क्या न जीते? अवश्य ही जीते।

भावार्थः—जो जिनमार्गमें प्रवर्ते वह कर्मका नाश करे ही तो क्या स्वर्गके रोकने वाले एक पापकर्मका नाश न करे? अवश्य ही करे ॥२२॥

आगे कहते हैं कि स्वर्ग तो तपसे (शुभरागरूपी तप द्वारा) सब ही प्राप्त करते हैं परन्तु, ध्यानके योगसे स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे उस ध्यानके योगसे मोक्ष भी प्राप्त करते हैं:—

बहु भार लई दिन एकमां जे गमन सो योजन करे।
ते व्यक्तिथी क्रोशार्ध पण नव जई शकाय शुं भूतले ॥२१॥
जे सुभट होय अजेय कोटि नरोथी—सैनिक सर्वथी।
ते वीर सुभट जिताय शुं संग्राममां नर एकथी ॥२२॥

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तहिं वि झाणजोएण।
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ॥२३॥

स्वर्गं तपसा सर्वः अपि प्राप्नोति किन्तु ध्यानयोगेन।
यः प्राप्नोति सः प्राप्नोति परलोके शाश्वतं सौख्यम् ॥२३॥

अर्थः—शुभरागरूपी तप द्वारा स्वर्ग तो सब ही पाते हैं तथापि जो ध्यानके योगसे स्वर्ग पाते हैं वे ही ध्यानके योगसे परलोकमें शाश्वत सुखको प्राप्त करते हैं।

भावार्थः—कायक्लेशादिक तप तो सब ही मतके धारक करते हैं वे तपस्वी मंदकषायके निमित्तसे सब ही स्वर्गको प्राप्त करते हैं परन्तु जो ध्यानके द्वारा स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे जिनमार्गमें कहे हुए ध्यानके योगसे परलोकमें जिसमें शाश्वत सुख है ऐसे निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२३॥

आगे ध्यानके योगसे मोक्षको प्राप्त करते हैं उसको दृष्टांत दार्ष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं:—

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥

अतिशोभनयोगेनं शुद्धं हेमं भवति यथा तथा च।
कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति ॥२४॥

अर्थः—जैसे सुवर्ण पाषाण सोधनेकी सामग्रीके सबंधसे शुद्ध सुवर्ण हो जाता है वैसे ही काल आदि लब्धि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप सामग्रीकी प्राप्तिसे यह आत्मा कर्मके संयोगसे अशुद्ध है वही परमात्मा हो जाता है ॥२४॥ भावार्थ-सुगम है।

आगे कहते हैं कि संसारमें व्रत, तपसे स्वर्ग होता है वह व्रत तप भला है परन्तु अव्रतादिकसे नरकादिक गति होती है वह अव्रतादिक श्रेष्ठ नहीं है:—

तपथी लहे सुरलोक सौ, पण ध्यानयोगे जे लहे।
ते आतमा परलोकमां पामे सुशाश्वत सौख्यने ॥२३॥
ज्यम शुद्धता पामे सुवर्ण अतीव शोभन योगथी।
आत्मा बने परमातमा त्यम काल-आदिक लब्धिथी ॥२४॥

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥२५॥

वर व्रततपोभिः स्वर्गः मा दुःखं भवतु नरके इतरैः।
छायातपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरुभेदः ॥२५॥

अर्थः—व्रत और तपसे स्वर्ग होता है वह श्रेष्ठ है परन्तु अव्रत और अतपसे प्राणीको नरकगति में दुःख होता है वह मत होवे, श्रेष्ठ नहीं है। छाया और आतपमें वैठनेवालेके प्रतिपालक कारणोंमें बड़ा भेद है।

भावार्थः—जैसे छायाका कारण तो वृक्षादिक है इनकी छायामें जो बैठे वह सुख पावे और आतापका कारण सूर्य, अग्नि आदिक है इनके निमित्तसे आताप होता है जो उसमें बैठता है वह दुखको प्राप्त करता है इसप्रकार इनमें बड़ा भेद है, इसप्रकार हो जो व्रत, तपका आचरण करता है वह स्वर्गके सुखको प्राप्त करता है और जो इनका आचरण नहीं करता है, विषय कषायादिकका सेवन करता है वह नरकके दुःख को प्राप्त करता है; इसप्रकार इनमें बड़ा भेद है। इसलिये यहाँ कहनेका यह आशय है कि जबतक निर्वाण न हो तबतक व्रत-तप आदिकमें प्रवर्तना श्रेष्ठ है इसमे सांसारिक सुखकी प्राप्ति है और निर्वाणके साधनेमें भी ये सहकारी हैं। विषय कषायादिककी प्रवृत्तिका फल तो केवल नरकादिकके दुःख हैं उन दुःखोंके कारणोंका सेवन करना यह तो बड़ी भूल है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥२५॥

आगे कहते हैं कि संसारमें रहे तबतक व्रत, तप पालना श्रेष्ठ कहा परन्तु जो संसारसे निकलना चाहे वह आत्माका ध्यान करे:—

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुंद्दाओ[1]।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥२६॥

१—मुद्रित सं० प्रतिमें 'संसारमहण्णवस्स रुद्दस्स' ऐसा पाठ है जिसकी संस्कृत 'संसारमहार्णवस्य रुद्रस्य' ऐसी है।

दिव ठीक व्रततपथी, न हो दुख इतरथी नरकादिके।
छांये अने तडके प्रतीक्षाकरणमां बहु भेद छे ॥२५॥
संसार-अर्णव रुद्रथी निःसरण इच्छे जीव जे।
ध्यावे करम-ईन्धन तणा दहनार निज शुद्धात्मने ॥२६॥

यः इच्छति निःसत्तुं संसारमहार्णवात् रुद्रात् ।
कर्मेन्धनानां दहनं सः ध्यायति आत्मानं शुद्धम् ॥२६॥

अर्थः—जो जीव रुद्र अर्थात् बड़े विस्ताररूप संसाररूपी समुद्र उससे निकलना चाहता है वह जीव कर्मरूपी ईंधनको दहन करनेवाले शुद्ध आत्मा उसके ध्यानको करता है।

भावार्थः—निर्वाणकी प्राप्ति कर्मका नाश हो तब होती है और कर्मका नाश शुद्धात्माके ध्यानसे होता है अतः जो संसारसे निकलकर मोक्षको चाहे वह शुद्ध आत्मा जो कि—कर्ममलसे रहित अनन्त चतुष्टय सहित [निज निश्चय] परमात्मा है उसका ध्यान करता है। मोक्षका उपाय इसके बिना अन्य नहीं है ॥२६॥

आगे आत्माका ध्यान करनेकी विधि बताते हैंः—

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं ।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएह झाणत्थो ॥२७॥

सर्वान् कषायान् मुक्त्वा गारवमदरागदोषव्यामोहम् ।
लोकव्यवहारविरतः आत्मानं ध्यायति ध्यानस्थः ॥२७॥

अर्थः—मुनि सब कषायोंको छोड़कर तथा गारव, मद, राग, द्वेष तथा मोह इनको छोड़कर और लोकव्यवहारसे विरक्त होकर ध्यानमें स्थित हुआ आत्माका ध्यान करता है ॥२७॥

भावार्थः—मुनि आत्माका ध्यान ऐसा होकर करे—प्रथम तो क्रोध, मान, माया, लोभ इन सब कषायोंको छोड़े, गारवको छोड़े, मद जाति आदिके भेदसे आठ प्रकारका है उसको छोड़े, रागद्वेष छोड़े और लोकव्यवहार जो संघमें रहनेमे परस्पर विनयाचार, वैयावृत्य, धर्मोपदेश, पढ़ना, पढ़ाना है उसको भी छोड़े ध्यानमें स्थित हो जावे इसप्रकार आत्माका ध्यान करे।

यहाँ कोई पूछे कि—सब कषायोंका छोड़ना कहा है उसमें तो सब गारव मदादिक आगये फिर इनको भिन्न भिन्न क्यों कहे ? उसका समाधान इसप्रकार है कि—ये सब कषायोंमें तो गर्भित हैं किन्तु विशेषरूपसे बतलानेके लिए भिन्न भिन्न कहे हैं।

सघला कषायो, मोहरागविरोध-मद-गारव तजी ।
ध्यानस्थ ध्यावे आत्मने, व्यवहार लौकिकथी छूटी ॥२७॥

कषायकी प्रवृत्ति इसप्रकार है—जो अपने लिये अनिष्ट हो उससे क्रोध करे, अन्यको नीचा मानकर मान करे किसी कार्य निमित्त कपट करे, आहारादिकमें लोभ करे। यह गारव है वह रस, ऋद्धि और सात ऐसे तीन प्रकारका है ये यद्यपि मानकषायमें गर्भित हैं तो भी प्रमादकी बहुलता इनमें है इसलिये भिन्नरूपसे कहे हैं।

मद-जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या ऐश्वर्य इनका होता है वह न करे। राग-द्वेष प्रीति-अप्रीतिको कहते हैं, किसीसे प्रीति करना किसीसे अप्रीति करना इसप्रकार लक्षणके भेदसे भेद करके कहा। मोह नाम परसे ममत्वभावका है, संसारका ममत्व तो मुनिके है ही नहीं परन्तु धर्मानुरागसे शिष्य आदिमें ममत्वका व्यवहार है वह भी छोड़े। इसप्रकार भेद विवक्षासे भिन्न भिन्न कहे हैं, ये ध्यानके घातक भाव हैं इनको छोड़े बिना ध्यान होता नहीं है इसलिये जैसे ध्यान हो वैसे करे ॥२७॥

आगे इसीको विशेषरूपसे कहते हैं:—

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

मिथ्यात्वं अज्ञानं पापं पुण्यं त्यक्त्वा त्रिविधेन।
मौनव्रतेन योगी योगस्थः द्योतयति आत्मानम् ॥२८॥

अर्थः—योगी ध्यानी मुनि है वह मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप-पुण्य इनको मन-वचन-कायसे छोड़कर मौनव्रतके द्वारा ध्यानमें स्थित होकर आत्माका ध्यान करता है।

भावार्थः—कई अन्यमती योगी ध्यानी कहलाते हैं इसलिये जैनलिंगी भी किसी द्रव्यलिंगके धारण करनेसे ध्यानी माना जाय तो उसके निषेधके निमित्त इसप्रकार कहा है कि— मिथ्यात्व और अज्ञानको छोड़कर आत्माके स्वरूपको यथार्थ जानकर सम्यक् श्रद्धान तो जिसने नहीं किया उसके मिथ्यात्व अज्ञान तो लगा रहा तब ध्यान किसका हो तथा पुण्य पाप दोनों बंधस्वरूप हैं इनमें प्रीति अप्रीति रहती है जब तक मोक्षका स्वरूप भी जाना नहीं है तब ध्यान किसका हो और (—सम्यक् प्रकार स्वरूप गुप्त स्व-अस्तिमें ठहरकर) मन वचनकी प्रवृत्ति छोड़कर मौन न करे तो एकाग्रता कैसे हो?

त्रिविधे तजी मिथ्यात्वने, अज्ञानने, अघ-पुण्यने।
योगस्थ योगी मौनव्रतसंपन्न ध्यावे आत्मने ॥२८॥

इसलिये मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य, पाप, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति छोड़ना ही ध्यानमें युक्त कहा है इसप्रकार आत्माका ध्यान करनेसे मोक्ष होता है ।।२८।।

आगे ध्यान करनेवाला मौन धारण करके रहता है वह क्या विचार कर रहता है, यह कहते हैं:—

जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे [1]णेव तम्हा जंपेमि केण हं ।।२९।।

यत् मया दृश्यते रूपं तत् न जानाति सर्वथा।
ज्ञायकं दृश्यते न तत् तस्मात् जल्पामि केन अहम् ।।२९।।

अर्थः—जिस रूपको मैं देखता हूँ वह रूप मूर्तिक वस्तु है, जड़ है, अचेतन है, सब प्रकारसे कुछ भी जानता नहीं है और मैं ज्ञायक हूँ, अमूर्तिक हूँ। यह तो जड़ अचेतन है सब प्रकारसे कुछ भी जानता नहीं है, इसलिये मैं किससे बोलूँ ?

भावार्थः—यदि दूसरा कोई परस्पर बात करनेवाला हो तब परस्पर बोलना संभव है, किन्तु आत्मा तो अमूर्तिक है उसको वचन बोलना नहीं है और जो रूपी पुद्गल है वह अचेतन है, किसीको जानता नहीं देखता नहीं। इसलिये ध्यान करनेवाला कहता है कि—मैं किससे बोलूँ ? इसलिये मेरे मौन है ।।२९।।

आगे कहते हैं कि इसप्रकार ध्यान करनेसे सब कर्मोंके आस्रवका निरोध करके संचित कर्मोंका नाश करता है:—

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं।
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ।।३०।।

सर्वास्रवनिरोधेन कर्म क्षपयति संचितम्।
योगस्थः जानाति योगी जिनदेवेन भाषितम् ।।३०।।

---

१. पाठान्तरः—णं तं, णंत।

देखाय मुजने रूप जे ते जाणतुं नहि सर्वथा।
ने जाणनार न दृश्यमान; हूं बोलुं कोनी साथमां ।।२९।।
आस्रव समस्त निरोधीने क्षय पूर्वकर्म तणो करे।
ज्ञाता ज बस रही जाय छे योगस्थ योगी;—जिन कहे ।।३०।।

अर्थः—योग ध्यानमें स्थित हुआ योगी मुनि सब कर्मोंके आस्रवका निरोध करके संवरयुक्त होकर पहिले बांधे हुए कर्म जो संचयरूप हैं उनका क्षय करता है इस प्रकार जिनदेवने कहा है वह जानो।

भावार्थः—ध्यानसे कर्मका आस्रव रुकता है इससे आगामी बंध नहीं होता है और पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है तब केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष प्राप्त होता है, यह आत्माके ध्यानका माहात्म्य है ॥१०॥

आगे कहते हैं कि जो व्यवहारमें तत्पर है उसके यह ध्यान नहीं होता हैः—

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥३१॥

यः सुप्तः व्यवहारे सः योगी जागर्ति स्वकार्ये।
यः जागर्ति व्यवहारे सः सुप्तः आत्मनः कार्ये ॥३१॥

अर्थः—जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहारमें सोता है वह अपने स्वरूपके काममें जागता है और जो व्यवहारमें जागता है वह अपने आत्मकार्यमें सोता है।

भावार्थः—मुनिके संसारी व्यवहार तो कुछ है नहीं और यदि है तो मुनि कैसा? वह तो पाखंडी है। धर्मका व्यवहार संघमें रहना, महाव्रतादिक पालना ऐसे व्यवहारमें भी तत्पर नहीं है, सब प्रवृत्तियोंकी निवृत्ति करके ध्यान करता है वह व्यवहारमें सोता हुआ कहलाता है और अपने आत्मस्वरूपमें लीन होकर देखता है जानता है वह अपने आत्मकार्यमें जागता है। परन्तु जो इस व्यवहारमें तत्पर है सावधान है, स्वरूपकी दृष्टि नहीं है वह व्यवहारमें जागता हुआ कहलाता है ॥३१॥

आगे यह कहते हैं कि योगी पूर्वोक्त कथनको जानके व्यवहारको छोड़कर आत्मकार्य करता हैः—

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं [1]जिणवरिंदेहिं ॥३२॥

१—पाठान्तरः—जिणवरिंदेण।

योगी सूता व्यवहारमां ते जागता निजकार्यमां।
जे जागता व्यवहारमां ते सुप्त आतमकार्यमां ॥३१॥

इम जाणी योगी सर्वथा छोडे सकल व्यवहारने।
परमात्मने ध्यावे यथा उपदिष्ट जिनदेवो वडे ॥३२॥

इति ज्ञात्वा योगी व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वम् ।
ध्यायति परमात्मानं यथा भणितं [1]जिनवरेन्द्रैः ॥३२॥

अर्थः—इस प्रकार पूर्वोक्त कथनको जानकर योगी ध्यानी मुनि है वह सर्व व्यवहारको सब प्रकारसे ही छोड़ देता है और परमात्माका ध्यान करता है—जैसे जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेवने कहा है वैसे ही परमात्माका ध्यान करता है।

भावार्थः—सर्वथा सर्व व्यवहारको छोड़ना कहा, उसका आशय इस प्रकार है कि—लोकव्यवहार तथा धर्मव्यवहार सब ही छोड़ने पर ध्यान होता है इसलिये जैसे जिनदेवने कहा है वैसे ही परमात्माका ध्यान करना। अन्यमती परमात्माका स्वरूप अनेक प्रकारसे अन्यथा कहते हैं उसके ध्यानका भी वे अन्यथा उपदेश करते हैं उसका निषेध किया है। जिनदेवने परमात्माका तथा ध्यानका स्वरूप कहा वह सत्यार्थ है, प्रमाणभूत है वैसे ही जो योगीश्वर करते हैं वे ही निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥३२॥

आगे जिनदेवने जैसे ध्यान अध्ययनकी प्रवृत्ति कही है वैसे ही उपदेश करते हैं:—

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥३३॥

पंचमहाव्रतयुक्तः पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु ।
रत्नत्रयसंयुक्तः ध्यानाध्ययनं सदा कुरु ॥३३॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जो पाँच महाव्रत युक्त हो गया तथा पांच समिति व तीन गुप्तियोंसे युक्त हो गया और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नत्रयसे संयुक्त हो गया, ऐसे बनकर हे मुनिजनों! तुम ध्यान और अध्ययन शास्त्रके अभ्यासको सदा करो।

भावार्थः— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग ये पाँच महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापना ये पांच समिति और मन, वचन, कायके

---

१ पाठान्तरः—जिनवरेन्द्रैः।

तुं पंचसमित, त्रिगुप्त ने संयुक्त पंचमहाव्रते ।
रत्नत्रयीसंयुतपणे कर नित्य ध्यानाध्ययनने ॥३३॥

निग्रहरूप तीन गुप्ति यह तेरह प्रकारका चारित्र जिनदेवने कहा है उससे युक्त हो और निश्चय व्यवहाररूप, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र कहा है इनसे युक्त होकर ध्यान और अध्ययन करनेका उपदेश है। इनमें भी प्रधान तो ध्यान ही है और यदि इसमें मन न रुके तो शास्त्रके अभ्यासमें मनको लगावे यह भी ध्यानतुल्य ही है क्योंकि शास्त्रमें परमात्माके स्वरूपका निर्णय है सो यह ध्यानका हीं अंग है ॥३३॥

आगे कहते हैं कि जो रत्नत्रयकी आराधना करता है वह जीव आराधक ही है:—

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो।
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥३४॥

रत्नत्रयमाराधयन् जीवः आराधकः ज्ञातव्यः।
आराधनाविधानं तस्य फलं केवलं ज्ञानम् ॥३४॥

अर्थः—रत्नत्रय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी आराधना करते हुए जीवको आराधक जानना और आराधनाके विधानका फल केवलज्ञान है।

भावार्थः—जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी आराधना करता है वह केवलज्ञानको प्राप्त करता है वह जिनमार्गमें प्रसिद्ध है ॥३४॥

आगे कहते हैं कि शुद्धात्मा है वह केवलज्ञान है और केवलज्ञान है वह शुद्धात्मा है:—

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य।
सो जिणवरेहिं भणिओ जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

सिद्धः शुद्धः आत्मा सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च।
सः जिनवरैः भणितः जानीहि त्वं केवलं ज्ञानं ॥३५॥

रत्नत्रयी आराधनारो जीव आराधक कह्यो।
आराधनानुं विधान केवलज्ञानफलदायक अहो ॥३४॥

छे सिद्ध, आत्मा शुद्ध छे ने सर्वज्ञानीदर्शी छे।
तुं जाणरे!—जिनवरकथित आ जीव केवल ज्ञान छे ॥३५॥

अर्थः—आत्मा जिनवर सर्वज्ञदेवने ऐसा कहा है, कैसा है? सिद्ध है–किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है स्वयंसिद्ध है, शुद्ध है–कर्ममलसे रहित है, सर्वज्ञ है–सब लोकालोक को जानता है और सर्वदर्शी है—सब लोक अलोकको देखता है, इसप्रकार आत्मा है वह हे मुने! उसही को तू केवलज्ञान जान अथवा उस केवलज्ञानहीको आत्मा जान। आत्मामें और ज्ञानमें कुछ प्रदेशभेद नहीं है, गुण गुणी भेद है वह गौण है। यह आराधनाका फल पहिले केवलज्ञान कहा, वही है ।।३५।।

आगे कहते हैं कि जो योगी जिनदेवके मतसे रत्नत्रयकी आराधना करता है वह आत्माका ध्यान करता है:–

रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण।
सो झायदि अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो ।।३६।।

रत्नत्रयमपि योगी आराधयति यः स्फुटं जिनवरमतेन।
सः ध्यायति आत्मानं परिहरति परं न सन्देहः ।।३६।।

अर्थः—जो योगी ध्यानी मुनि जिनेश्वरदेवके मतकी आज्ञासे रत्नत्रय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी निश्चयसे आराधना करता है वह प्रगटरूपसे आत्माका ही ध्यान करता है, क्योंकि रत्नत्रय आत्माका गुण है और गुण गुणीमें भेद नहीं है। रत्नत्रयकी आराधना है वह आत्माकी ही आराधना है वह ही परद्रव्यको छोड़ता है इसमें सन्देह नहीं है ।।३६।।

भावार्थः—सुगम है ।।३६।।

पहिले पूछा था कि आत्मामें रत्नत्रय कैसे है उसका उत्तर अब आचार्य कहते हैं:—

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ।।३७।।

जे योगी आराधे रतनत्रय प्रगट जिनवरमार्गथी।
ते आत्मने ध्यावे अने पर परिहरे;–शंका नथी ।।३६।।
जे जाणतुं ते ज्ञान, देखे तेह दर्शन जाणवुं।
जे पाप तेम ज पुण्यनो परिहार ते चारित कह्युं ।।३७।।

यत् जानाति तत् ज्ञानं यत्पश्यति तच्च दर्शनं ज्ञेयम् ।
तत् चारित्रं भणितं परिहारः पुण्यपापानाम् ।।३७।।

अर्थः—जो जाने वह ज्ञान है, जो देखे वह दर्शन है और जो पुण्य तथा पापका परिहार है वह चारित्र है, इस प्रकार जानना चाहिये ।

भावार्थः—यहाँ जाननेवाला तथा देखनेवाला और त्यागनेवाला दर्शन, ज्ञान, चारित्रको कहा ये तो गुणीके गुण हैं, ये कर्त्ता नहीं होते हैं इसलिये जानन, देखन, त्यागन क्रियाका कर्त्ता आत्मा है, इसलिये ये तीनों आत्मा ही है, **गुण गुणीमें कोई प्रदेशभेद नहीं होता** है । इसप्रकार रत्नत्रय है वह आत्मा ही है, इस प्रकार जानना ।।३७।।

आगे इसी अर्थको अन्य प्रकारसे कहते हैं:—

तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिंदेहिं ।।३८।।

तत्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वग्रहणं च भवति संज्ञानम् ।
चारित्रं परिहारः प्रजल्पितं जिनवरेन्द्रैः ।।३८।।

अर्थः—तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है, तत्त्वका ग्रहण सम्यग्ज्ञान है, परिहार चारित्र है, इस प्रकार जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेवने कहा है ।

भावार्थः—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन तत्त्वोंका श्रद्धान रुचि प्रतीति सम्यग्दर्शन है, इनहीको जानना सम्यग्ज्ञान है और परद्रव्यके परिहार संबंधी क्रियाकी निवृत्ति चारित्र है, इसप्रकार जिनेश्वरदेवने कहा है, इनको निश्चय-व्यवहारनयसे आगमके अनुसार साधना ।।३८।।

आगे सम्यग्दर्शनको प्रधान कर कहते हैं:—

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।
दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं ।।३९।।

छे तत्त्वरुचि सम्यक्त्व तत्त्व तणुं ग्रहण सद्‌ज्ञान छे ।
परिहार ते चारित्र छे;—जिनवरवृषभनिर्दिष्ट छे ।।३८।।
दृगशुद्ध आत्मा शुद्ध छे, दृगशुद्ध ते मुक्ति लहे ।
दर्शनरहित जे पुरुष ते पामे न इच्छित लाभने ।।३९।।

दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणम् ।
दर्शनविहीनपुरुषः न लभते तं इष्टं लाभम् ॥३९॥

अर्थः—जो पुरुष दर्शनसे शुद्ध है वह ही शुद्ध है क्योंकि जिसका दर्शन शुद्ध है वही निर्वाणको पाता है और जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे रहित है वह पुरुष ईप्सित लाभ अर्थात् मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकता है ।

भावार्थः—लोकमें प्रसिद्ध है कि कोई पुरुष कोई वस्तु चाहे और उसकी रुचि प्रतीति श्रद्धा न हो तो उसकी प्राप्ति नहीं होती है इसलिये सम्यग्दर्शन ही निर्वाणकी प्राप्तिमें प्रधान है ॥३९॥

आगे कहते हैं कि ऐसा सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेका उपदेश सार है उसको जो मानता है वह सम्यक्त्व है:—

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु ।
तं सम्मत्तं भणियं सवणाणं सावयाणं पि ॥४०॥

इति उपदेशं सारं जरामरणहरं स्फुटं मन्यते यत्तु ।
तत् सम्यक्त्वं भणितं श्रमणानां श्रावकाणामपि ॥४०॥

अर्थः—इस प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका उपदेश सार है, जो जरा व मरणको हरनेवाला है, इसको जो मानता है श्रद्धान करता है वह ही सम्यक्त्व कहा है । वह मुनियोंको तथा श्रावकोंको सभीको कहा है इसलिये सम्यक्त्वपूर्वक ज्ञान चारित्रको अंगीकार करो ।

भावार्थः—जीवके जितने भाव हैं उनमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र सार हैं उत्तम हैं जीवके हित हैं, और इनमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है क्योंकि इसके बिना ज्ञान, चारित्र भी मिथ्या कहलाते हैं इसलिये सम्यग्दर्शनको प्रधान जानकर पहिले अंगीकार करना, यह उपदेश मुनि तथा श्रावक सभीको है ॥४०॥

आगे सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कहते हैं:—

जरमरणहर आ सारभूत उपदेश श्रद्धे स्पष्ट जे ।
सम्यक्त्व भाख्युं तेहने, हो श्रमण के श्रावक भले ॥४०॥

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण ।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं ॥४१॥

जीवाजीवविभक्ति योगी जानाति जिनवरमतेन ।
तत् संज्ञानं भणितं अवितथं सर्वदर्शिभिः ॥४१॥

अर्थः—जो योगी मुनि जीव अजीव पदार्थके भेद जिनवरके मतसे जानता है वह सम्यग्ज्ञान है ऐसा सर्वदर्शी–सबको देखने वाले सर्वज्ञदेवने कहा है अतः वह ही सत्यार्थ है, अन्य छद्मस्थका कहा हुआ सत्यार्थ नहीं है असत्यार्थ है, सर्वज्ञका कहा हुआ ही सत्यार्थ है ।

भावार्थः—सर्वज्ञदेवने जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये जाति अपेक्षा छह द्रव्य कहे हैं । [संख्या अपेक्षा एक, एक, असंख्य और अनंतानंत है ।] इनमें जीवको दर्शन–ज्ञानमयी चेतनास्वरूप कहा है, यह सदा अमूर्तिक है अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे रहित है । पुद्‌गल आदि पांच द्रव्योंको अजीव कहे हैं ये अचेतन हैं जड़ हैं । इनमें पुद्‌गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दसहित मूर्तिक (–रूपी) है इन्द्रियगोचर है, अन्य अमूर्तिक हैं । आकाश आदि चार तो जैसे हैं वैसे ही रहते हैं । जीव और पुद्‌गल के अनादिसंबंध है । छद्मस्थके इन्द्रियगोचर पुद्‌गलस्कंध हैं उनको ग्रहण करके जीव रागद्वेष मोहरूप परिणमन करता है शरीरादिको अपना मानता है तथा इष्ट अनिष्ट मानकर रागद्वेषरूप होता है इससे नवीन पुद्‌गल कर्मरूप होकर बंधको प्राप्त होता है, यह निमित्त नैमित्तिक भाव है, इसप्रकार यह जीव अज्ञानी होता हुआ जीव–पुद्‌गलके भेदको न जानकर मिथ्याज्ञानी होता है । इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिनदेवके मतसे जीव अजीवका भेद जानकर सम्यग्दर्शनका स्वरूप जानना । इस प्रकार जिनदेवने कहा वह ही सत्यार्थ है, प्रमाण नयके द्वारा ऐसे ही सिद्ध होता है इसलिये जिनदेव सर्वज्ञने सब वस्तुको प्रत्यक्ष देखकर कहा है ।

अन्यमती छद्मस्थ हैं, इन्होंने अपनी बुद्धिमें आया वैसे ही कल्पना करके कहा है वह प्रमाण सिद्ध नहीं है । इनमें कई वेदान्ती तो एक ब्रह्ममात्र कहते हैं अन्य कुछ वस्तुभूत नहीं है मायारूप अवस्तु है ऐसा मानते हैं । कई नैयायिक, वैशेपिक जीवको

जीव–अजीव केरो भेद जाणे योगी जिनवरमार्गथी ।
सर्वज्ञदेवे तेहने सद्‌ज्ञान भाख्युं तथ्यथी ॥४१॥

सर्वथा नित्य सर्वगत कहते हैं, जीवके और ज्ञान गुणके सर्वथा भेद मानते हैं और अन्य कार्यमात्र है उनको ईश्वर करता है इसप्रकार मानते हैं। कई सांख्यमती पुरुषको उदासीन चैतन्यस्वरूप मानकर सर्वथा अकर्त्ता मानते हैं ज्ञानको प्रधानका धर्म मानते हैं।

कई बौद्धमती सर्व वस्तुको क्षणिक मानते हैं, सर्वथा अनित्य मानते हैं इनमें भी अनेक मतभेद हैं, कई विज्ञानमात्र तत्त्व मानते हैं, कई सर्वथा शून्य मानते हैं, कोई अन्यप्रकार मानते हैं। मीमांसक कर्मकांडमात्रही तत्त्व मानते हैं, जीवको अणुमात्र मानते हैं तो भी कुछ परमार्थ नित्य वस्तु नहीं है इत्यादि मानते हैं। चार्वाकमती जीवको तत्त्व नहीं मानते हैं, पंचभूतोंसे जीवकी उत्पत्ति मानते हैं।

इत्यादि बुद्धिकल्पित तत्त्व मानकर परस्परमें विवाद करते हैं, वह युक्त ही है— वस्तुका पूर्णरूप दिखता नहीं है तब जैसे अंधे हस्तीका विवाद करते हैं वैसे विवाद ही होना है, इसलिये जिनदेव सर्वज्ञने ही वस्तुका पूर्णरूप देखा है वही कहा है। यह प्रमाण और नयोंके द्वारा अनेकान्तरूप सिद्ध होता है। इनकी चर्चा हेतुवादके जैनके न्याय-शास्त्रोंसे जानी जाती है, इसलिये यह उपदेश है-जिनमतमें जीवाजीवका स्वरूप सत्यार्थ कहा है उसको जानना सम्यग्ज्ञान है इस प्रकार जानकर जिनदेवकी आज्ञा मानकर सम्यग्ज्ञानको अंगीकार करना, इसीसे सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होती है, ऐसे जानना।

आगे सम्यक्चारित्रका स्वरूप कहते हैं:—

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं।
तं चारित्तं भणियं अवियप्प कम्मरहिएहिं ॥४२॥

यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्यपापानाम्।
तत् चारित्रं भणितं अविकल्पं कर्मरहितैः ॥४२॥

अर्थः—योगी ध्यानी मुनि उस पूर्वोक्त जीवाजीवके भेदरूप सत्यार्थ सम्यग्ज्ञानको जानकर पुण्य तथा पाप इन दोनोंका परिहार करता है, त्याग करता है वह

ते जाणी योगी परिहरे छे पाप तेम ज पुण्यने।
चारित्र ते अविकल्प भाख्युं कर्मरहित जिनेश्वरे ॥४२॥

चारित्र है, जो निर्विकल्प है अर्थात् प्रवृत्तिरूपक्रियाके विकल्पोंसे रहित है वह चारित्र घातिकर्मसे रहित ऐसे सर्वज्ञदेवने कहा है।

भावार्थः—चारित्र निश्चय–व्यवहारके भेदसे दो भेदरूप है, महाव्रत-समिति-गुप्तिके भेदसे कहा है वह व्यवहार है। इसमें प्रवृत्तिरूप क्रिया शुभकर्मरूप बंध करती है और इन क्रियाओंमें जितने अंश निवृत्ति है [अर्थात् उसीसमय स्वाश्रयरूप आंशिक निश्चय–वीतराग भाव है] उसका फल बंध नहीं है, उसका फल कर्मकी एकदेश निर्जरा है। सब कर्मोंसे रहित अपने आत्मस्वरूपमें लीन होना वह निश्चय चारित्र है, इसका फल कर्मका नाश ही है. यह पुण्य–पापके परिहाररूप निर्विकल्प है। पापका तो त्याग मुनिके है ही और पुण्यका त्याग इस प्रकार है—

शुभक्रियाका फल पुण्यकर्मका बंध है उसकी वांछा नहीं है, बंधके नाशका उपाय निर्विकल्प निश्चय चारित्रका प्रधान उद्यम है। इस प्रकार यहाँ निर्विकल्प अर्थात् पुण्य–पापसे रहित ऐसा निश्चय चारित्र कहा है। चौदहवें गुणस्थानके अंतसमयमें पूर्ण चारित्र होता है, उससे लगता ही मोक्ष होता है ऐसा सिद्धांत है ।।४२।।

आगे कहते हैं कि इस प्रकार रत्नत्रयसहित होकर तप संयम समितिको पालते हुए शुद्धात्माका ध्यान करनेवाला मुनि निर्वाणको प्राप्त करता है:—

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ।।४३।।

यः रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या ।
सः प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मानं शुद्धम् ।।४३।।

अर्थः—जो मुनि रत्नत्रयसंयुक्त होता हुआ संयमी बनकर अपनी शक्तिके अनुसार तप करता है वह शुद्ध आत्माका ध्यान करता हुआ परमपद निर्वाणको प्राप्त करता है।

भावार्थः—जो मुनि संयमी पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति यह तेरह प्रकारका चारित्र वही प्रवृत्तिरूप व्यवहार चारित्र संयम है उसको अंगीकार करके और

रत्नत्रयीयुत संयमी निजशक्तितः तपने करे।
शुद्धात्मने ध्यातो थको उत्कृष्ट पदने ते वरे ।।४३।।

पूर्वोक्त प्रकार निश्चय चारित्रसे युक्त होकर अपनी शक्तिके अनुसार उपवास काय-क्लेशादि बाह्य तप करता है वह मुनि अंतरंग तप ध्यानके द्वारा शुद्ध आत्माका एकाग्र चित्त करके ध्यान करता हुआ निर्वाणको प्राप्त करता है ।।४३।।

[नोंध—जो छठवें गुणस्थानके योग्य स्वाश्रयरूप निश्चय रत्नत्रय सहित है उसीको व्यवहार संयम–व्रतादिको व्यवहार चारित्र माना है।]

आगे कहते हैं कि ध्यानी मुनि ऐसा बनकर परमात्माका ध्यान करता है:—

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ।।४४।।

त्रिभिः त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेण परिकरितः ।
द्विदोषविप्रमुक्तः परमात्मानं ध्यायते योगी ॥ ४४ ॥

अर्थः—'त्रिभिः' मन वचन कायसे 'त्रीन्' वर्षा, शीत, उष्ण तीन कालयोगोंको धारणकर 'त्रिकरहितः' माया, मिथ्या, निदान तीन शल्योंसे रहित होकर 'त्रिकेण परिकरितः' दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे मंडित होकर और 'द्विदोषविप्रमुक्तः' दो दोष अर्थात् राग–द्वेष इनसे रहित होता हुआ योगी ध्यानी मुनि है वह परमात्मा अर्थात् सर्वकर्म रहित शुद्ध परमात्मा उनका ध्यान करता है।

भावार्थः—मन वचन कायसे तीन काल योग धारणकर परमात्माका ध्यान करे इसप्रकार कष्टमें दृढ़ रहे तब ज्ञात होता है कि इसके ध्यानकी सिद्धि है, कष्ट आने-पर चलायमान हो जाय तब ध्यानकी सिद्धि कैसी ? कोई प्रकारकी चित्तमें शल्य रहनेसे चित्त एकाग्र नहीं होता है तब ध्यान कैसे हो ? इसलिये शल्य रहित कहा, श्रद्धान, ज्ञान, आचरण यथार्थ न हो तब ध्यान कैसा ? इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र मंडित कहा और राग–द्वेष–इष्ट–अनिष्ट बुद्धि रहे तब ध्यान कैसे हो ? इसलिए परमात्माका ध्यान करे वह ऐसा होकर करे, यह तात्पर्य है ।।४४।।

आगे कहते हैं कि जो इस प्रकार होता है वह उत्तम सुखको पाता है:—

त्रणथी धरी त्रण, नित्य त्रिकविरहितपणे त्रिकयुतपणे ।
रही दोषयुगलविमुक्त ध्यावे योगी निज परमात्मने ।।४४।।

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४५॥

मदमायाक्रोधरहितः लोभेन विवर्जितश्च यः जीवः ।
निर्मलस्वभावयुक्तः यः प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥४५॥

अर्थः—जो जीव मद, माया, क्रोध इनसे रहित हो और लोभसे विशेषरूपसे रहित हो वह जीव निर्मल विशुद्ध स्वभावयुक्त होकर उत्तम सुखको प्राप्त करता है।

भावार्थः—लोकमें भी ऐसा है कि जो मद अर्थात् अति मानी और-माया कपट और क्रोध इनसे रहित हो और लोभसे विशेष रहित हो वह सुख पाता है, तीव्र कषायी अति आकुलतायुक्त होकर निरन्तर दुखी रहता है, अतः यही रीति मोक्षमार्गमें भी जानो—जो क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषायोंसे रहित होता है तब निर्मल भाव होते हैं और तब ही यथाख्यातचारित्र पाकर उत्तम सुखको प्राप्त करता है ॥४५॥

आगे कहते हैं कि जो विषय कषायोंमें आसक्त है, परमात्माकी भावनासे रहित है, रौद्रपरिणामी है वह जिनमतसे पराङ्मुख है अतः वह मोक्षके सुखोंको प्राप्त नहीं कर सकता:—

विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो ।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥४६॥

विषयकषायैः युक्तः रुद्रः परमात्मभावरहितमनाः ।
सः न लभते सिद्धिसुखं जिनमुद्रापराङ्मुखः जीवः ॥४६॥

अर्थः—जो जीव विषय-कषायोंसे युक्त है, रौद्रपरिणामी है, हिंसादिक विषय-कषायादिक पापोंमें हर्षसहित प्रवृत्ति करता है और जिसका चित्त परमात्माकी भावनासे

जे जीव माया-क्रोध-मद परिवर्जीने तजी लोभने ।
निर्मल स्वभावे परिणमे, ते सौख्य उत्तमने लहे ॥४५॥

परमात्मभावनहीन, रुद्र, कषायविषये युक्त जे ।
ते जीव जिनमुद्राविमुख पामे नहीं शिवसौख्यने ॥४६॥

रहित है ऐसा जीव जिनमुद्रासे पराङ्मुख है वह ऐसे सिद्धिसुख जो मोक्षके सुखको प्राप्त नहीं कर सकता।

भावार्थः—जिनमतमें ऐसा उपदेश है कि जो हिंसादिक पापोंसे विरक्त हो, विषयकषायोंमें आसक्त न हो और परमात्माका स्वरूप जानकर उसकी भावनासहित जीव होता है वह मोक्षको प्राप्त कर सकता है इसलिये जिनमतकी मुद्रासे जो पराङ्मुख है उसको मोक्ष कैसे हो? वह तो संसारमें ही भ्रमण करता है। यहाँ रुद्रका विशेषण दिया है उसका ऐसा भी आशय है कि रुद्र ग्यारह होते हैं, ये विषय-कषायोंमें आसक्त होकर जिनमुद्रासे भ्रष्ट होते हैं, इनको मोक्ष नहीं होता है, इनकी कथा पुराणोंसे जानना ॥४६॥

आगे कहते हैं कि जिनमुद्रासे मोक्ष होता है किन्तु यह मुद्रा जिन जीवोंको नहीं रुचती है वे संसारमें ही रहते हैंः—

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण [1]जिणवरुद्दिट्ठं।
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥४७॥

जिनमुद्रा सिद्धिसुखं भवति नियमेन जिनवरोद्दिष्टा।
स्वप्नेऽपि न रोचते पुनः जीवाः तिष्ठंति भवगहने ॥४७॥

अर्थः—जिन भगवानके द्वारा कही गई जिनमुद्रा है वही सिद्धिसुख है मुक्तिसुख ही है, यह कारणमें कार्यका उपचार जानना, जिनमुद्रा मोक्षका कारण है मोक्षसुख उसका कार्य है। ऐसी जिनमुद्रा जिनभगवानने जैसी कही है वैसी ही है। तो ऐसी जिनमुद्रा जिस जीवको साक्षात् तो दूर ही रहो, स्वप्नमें भी कदाचित् भी नहीं रुचती है उसका स्वप्न आता है तो भी अवज्ञा आती है तो वह जीव संसाररूप गहन वनमें रहता है मोक्षके सुखको प्राप्त नहीं कर सकता।

भावार्थः—जिनदेवभाषित जिनमुद्रा मोक्षका कारण है वह मोक्षरूप ही है क्योंकि जिनमुद्राके धारक वर्तमानमें भी स्वाधीन सुखको भोगते हैं और पीछे मोक्षके

---

१ पाठान्तरः—जिणवरुद्दिट्ठा।

जिनवरवृषभ-उपदिष्ट जिनमुद्रा ज शिवसुख नियमथी।
ते नव रुचे स्वप्नेय जेने, ते रहे भववन महीं ॥४७॥

सुखको प्राप्त करते हैं। जिस जीवको यह नहीं रुचती है वह मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकता, संसारहोमें रहता है ।।४७।।

आगे कहते है कि जो परमात्माका ध्यान करता है वह योगी लोभरहित होकर नवीन कर्मका आस्रव नहीं करता है:—

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ।।४८।।

परमात्मानं ध्यायन् योगी मुच्यते मलदलोभेन।
नाद्रियते नवं कर्म निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ।।४८।।

अर्थः—जो योगी ध्यानी परमात्माका ध्यान करता हुआ रहता है वह मल देनेवाले लोभकषायसे छूटता है उसके लोभ मल नहीं लगता है इसीसे नवीन कर्मका आस्रव उसके नहीं होता है यह जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेवने कहा है।

भावार्थः—मुनि भी हो और परजन्मसंबंधी प्राप्तिका लोभ होकर निदान करे उसके परमात्माका ध्यान नहीं होता है इसलिये जो परमात्माका ध्यान करे उसके इस लोक परलोक संबंधी परद्रव्यका कुछ भी लोभ नहीं होता है इसलिये उसके नवीन कर्मका आस्रव नहीं होता ऐसा जिनदेवके कहा है। यह लोभ कषाय ऐसा है कि दसवें गुणस्थान तक पहुँच जाने पर भी अव्यक्त होकर आत्माके मल लगाता है। इसलिये इसको काटना ही युक्त है अथवा जब तक मोक्षकी चाहरूप लोभ रहता है तब तक मोक्ष नहीं होता इसलिये लोभका अत्यंत निषेध है ।।४८।।

आगे कहते हैं कि जो ऐसा निर्लोभी बनकर दृढ़ सम्यक्त्व ज्ञान चारित्रवान होकर परमात्माका ध्यान करता है वह परमपदको पाता है:—

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ।।४९।।

परमात्मने ध्यातां श्रमण मलजनक लोभ थकी छूटे।
नूतन करम नहि आस्रवे—जिनदेवथी निर्दिष्ट छे ।।४८।।
परिणत सुदृढ—सम्यक्त्वरूप, लही सुदृढ—चारित्रने।
निज आत्मने ध्यातां थकां योगी परम पदने लहे ।।४९।।

भूत्वा दृढचरित्रः दृढसम्यक्त्वेन भावितमतिः ।
ध्यायन्नात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी ॥४९॥

अर्थः—पूर्वोक्त प्रकार जिसकी मति दृढ़ सम्यक्त्वसे भावित है ऐसे योगी ध्यानी मुनि दृढ़चारित्रवान होकर आत्माका ध्यान करता हुआ परमपद अर्थात् परमात्मपदको प्राप्त करता है ।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप दृढ़ होकर परिषह आने पर भी चलायमान न हो, इस प्रकारसे आत्माका ध्यान करता है वह परमपदको प्राप्त करता है ऐसा तात्पर्य है ॥४९॥

आगे दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे निर्वाण होता है ऐसा कहते आये वह दर्शन, ज्ञान तो जीवका स्वरूप है, वे जाने परन्तु चारित्र क्या है? ऐसी आशंकाका उत्तर कहते हैं:—

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥५०॥

चरणं भवति स्वधर्मः धर्मः सः भवति आत्मसमभावः ।
सः रागरोषरहितः जीवस्य अनन्यपरिणामः ॥५॥

अर्थः—स्वधर्म अर्थात् आत्माका धर्म है वह चरण अर्थात् चारित्र है । धर्म है वह आत्मसमभाव है सब जीवोंमें समानभाव है । जो अपना धर्म है वही सब जीवोंमें है अथवा सब जीवोंको अपने समान मानना है और जो आत्मस्वभावसे ही (-स्वाश्रयके द्वारा) रागद्वेष रहित है, किसीसे इष्ट–अनिष्ट बुद्धि नहीं है ऐसा चारित्र है वह जैसे जीवके दर्शन–ज्ञान है वैसे ही अनन्य परिणाम है, जीवका ही भाव है ।

भावार्थः—चारित्र है वह ज्ञानमें रागद्वेष रहित निराकुलतारूप स्थिरताभाव है वह जीवका ही अभेदरूप परिणाम है, कुछ अन्य वस्तु नहीं है ॥५०॥

आगे जीवके परिणामकी स्वच्छताको दृष्टांत पूर्वक दिखाते हैं:—

चारित्र ते निज धर्म छे ने धर्म निज समभाव छे।
ते जीवना वणरागरोष अनन्यमय परिणाम छे ॥५०॥

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो।
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥५१॥

यथा स्फटिकमणिः विशुद्धः परद्रव्ययुतः भवत्यन्यः सः।
तथा रागादिवियुक्तः जीवः भवति स्फुटमन्यान्यविधः ॥५१॥

अर्थः—जैसे स्फटिकमणि विशुद्ध है, निर्मल है, उज्ज्वल है वह परद्रव्य जो पीत, रक्त, हरित पुष्पादिकसे युक्त होने पर अन्य सा दिखता है, पीतादिवर्णमयी दिखता है वैसे ही जीव विशुद्ध है, स्वच्छस्वभाव है परन्तु यह [अनित्य पर्यायमें अपनी भूल द्वारा स्वसे च्युत होता है तो] रागद्वेषादिक भावोंसे युक्त होने पर अन्य अन्य प्रकार हुआ दिखता है यह प्रगट है।

भावार्थः—यहाँ ऐसा जानना कि रागादि विकार है वह पुद्गलके हैं और ये जीवके ज्ञानमें आकर झलकते हैं तब उनसे उपयुक्त होकर इस प्रकार जानता है कि ये भाव मेरे ही हैं, जब तक इनका भेदज्ञान नहीं होता है तब तक जीव अन्य अन्य प्रकार-रूप अनुभवमें आता है। यहाँ स्फटिकमणिका दृष्टांत है उसके अन्यद्रव्य पुष्पादिकका डांक लगता है तब अन्यसा दिखता है, इस प्रकार जीवके स्वच्छभावकी विचित्रता जानना ॥५१॥

इसीलिये आगे कहते हैं कि जब तक मुनिके [मात्र चारित्र दोषमें] राग-द्वेषका अंश होता है तब तक सम्यग्दर्शनको धारण करता हुआ भी ऐसा होता हैः—

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मियसंजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होदि जोई सो ॥५२॥

देवे गुरौ च भक्तः सार्धमिके च संयतेषु अनुरक्तः।
सम्यक्त्वमुद्वहन् ध्यानरतः भवति योगी सः ॥५२॥

निर्मल स्फटिक परद्रव्यसंगे अन्यरूपे थाय छे।
त्यम जीव छे नीराग पण अन्यान्यरूपे परिणमे ॥५१॥

जे देव-गुरुना भक्त ने सहधर्मीमुनि-अनुरक्त छे।
सम्यक्त्वना वहनार योगी ध्यानमां रत होय छे ॥५२॥

अर्थः—जो योगी ध्यानी मुनि सम्यक्त्वको धारण करता है और जब तक यथाख्यात चारित्रको प्राप्त नहीं होता है तबतक अरहंत सिद्ध देवमें, और शिक्षा दीक्षा देनेवाले गुरुमें तो भक्तियुक्त होता ही है इनकी भक्ति विनय सहित होती है और अन्य संयमी मुनि अपने समान धर्म सहित हैं उनमें भी अनुरक्त है, अनुरागसहित होता है वही मुनि ध्यानमें प्रीतिवान् होता है और मुनि होकर भी देव-गुरु-साधर्मियोंमें भक्ति व अनुराग सहित न हो उसको ध्यानमें रुचिवान नहीं कहते हैं क्योंकि ध्यान होनेवालेके, ध्यानवालेसे रुचि प्रीति होती है, ध्यानवाले न रुचें तब ज्ञात होता है कि इसको ध्यान भी नहीं रुचता है इस प्रकार जानना चाहिये ॥५२॥

आगे कहते हैं कि जो ध्यान सम्यग्ज्ञानीके होता है वही तप करके कर्मका क्षय करता हैः—

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥५३॥

उग्रतपसाऽज्ञानी यत् कर्म क्षपयति भवैर्बहुकैः।
तज्ज्ञानी त्रिभिः गुप्तः क्षपयति अन्तर्मुहूर्त्तेन ॥५३॥

अर्थः—अज्ञानी तीव्र तपके द्वारा बहुत भवोंमें जितने कर्मोंका क्षय करता है उतने कर्मोंका ज्ञानी मुनि तीन गुप्ति सहित होकर अंतर्मुहूर्तमें ही क्षय कर देता है।

भावार्थः—जो ज्ञानका सामर्थ्य है वह तीव्र तपका भी सामर्थ्य नहीं है क्योंकि ऐसा है कि—अज्ञानी अनेक कष्टोंको सह कर तीव्र तपको करता हुआ करोड़ों भवोंमें जितने कर्मोंका क्षय करता है वह आत्मभावना सहित ज्ञानी मुनि उतने कर्मोंका अंतर्मुहूर्तमें क्षय कर देता है, यह ज्ञानका सामर्थ्य है ॥५३॥

आगे कहते हैं कि जो इष्ट वस्तुके संबंधसे परद्रव्यमें रागद्वेष करता है वह उस भावके अज्ञानी होता है, ज्ञानी इससे उल्टा हैः—

तप उग्रथी अज्ञानी जे कर्मो खपावे बहु भवे।
ज्ञानी त्रिगुप्तिक ते करम अंतर्मुहूर्ते क्षय करे ॥५३॥

सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीओ ॥५४॥

शुभयोगेन सुभावं परद्रव्ये करोति रागतः साधुः।
सः तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्मात्तु विपरीतः ॥५४॥

अर्थः—शुभ योग अर्थात् अपने इष्ट वस्तुके सम्बन्धसे परद्रव्यमें सुभाव अर्थात् प्रीतिभावको करता है वह प्रगट राग द्वेष है, इष्टमें राग हुआ तब अनिष्ट वस्तुमें द्वेषभाव होता ही है, इसप्रकार जो राग–द्वेष करता है वह उस कारणसे रागी द्वेषी अज्ञानी है और जो इससे विपरीत अर्थात् उलटा है परद्रव्यमें राग द्वेष नहीं करता है वह ज्ञानी है।

भावार्थः—ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मुनिके परद्रव्यमें रागद्वेष नहीं है क्योंकि राग उसको कहते हैं कि—जो परद्रव्यको सर्वथा इष्ट मानकर राग करता है वैसे ही अनिष्ट मानकर द्वेष करता है, परन्तु सम्यग्ज्ञानी परद्रव्यमें इष्ट अनिष्टकी कल्पना ही नहीं करता है तब राग–द्वेष कैसे हों? चारित्रमोहके उदय–वश होनेसे कुछ धर्मराग होता है उसको भी रोग जानता है भला नहीं समझता है तब अन्यसे कैसे राग हो? परद्रव्यसे राग–द्वेष करता है वह तो अज्ञानी है, ऐसे जानना ॥५४॥

आगे कहते हैं कि जैसे परद्रव्यमें रागभाव होता है वैसे मोक्षके निमित्त भी राग हो तो वह राग भी आस्रवका कारण है, उसे भी ज्ञानी नहीं करता है:—

आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि।
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावा दु विवरीदु ॥५५॥

आस्रवहेतुश्च तथा भावः मोक्षस्य कारणं भवति।
सः तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात्तु विपरीतः ॥५५॥

शुभ अन्य द्रव्ये रागथी मुनि जो करे रुचिभावने।
तो तेह छे अज्ञानी, ने विपरीत तेथी ज्ञानी छे ॥५४॥
आसरवहेतु भाव ते शिवहेतु छे तेना मते।
तेथी ज ते छे अज्ञ, आत्मस्वभावथी विपरीत छे ॥५५॥

अर्थः—जैसे परद्रव्यमें रागको कर्मबंधका कारण पहिले कहा वैसे ही राग भाव यदि मोक्षके निमित्त भी हो तो आस्रवका ही कारण है, कर्मका बंध ही करता है, इस कारणसे जो मोक्षको परद्रव्यकी तरह इष्ट मानकर वैसे ही रागभाव करता है तो वह जीव मुनि भी अज्ञानी है क्योंकि वह आत्मस्वभावसे विपरीत है, उसने आत्म-स्वभावको नहीं जाना है।

भावार्थः—मोक्ष तो सब कर्मोंसे रहित अपना ही स्वभाव है अपनेको सब कर्मोंसे रहित होना है इसलिये यह भी रागभाव ज्ञानीके नहीं होता है, यदि चारित्र-मोहका उदयरूप राग हो तो उस रागको भी बंधका कारण जानकर रोगके समान छोड़ना चाहे तो वह ज्ञानी है ही और इस रागभावको भला समझकर प्राप्त करता है तो अज्ञानी है। आत्माका स्वभाव सब रागादिकोंसे रहित है उसको इसने नहीं जाना, इसप्रकार रागभावको मोक्षका कारण और अच्छा समझकर करते हैं उसका निषेध है ॥५५॥

आगे कहते है कि जो कर्ममात्रसे ही सिद्धि मानता है उसने आत्म-स्वभावको नहीं जाना है वह अज्ञानी है जिनमतसे प्रतिकूल हैः—

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो।
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥५६॥

यः कर्मजातमतिकः स्वभावज्ञानस्य खंडदूषणकरः।
सः तेन तु अज्ञानी जिनशासनदूषकः भणितः ॥५६॥

अर्थः—जिसकी बुद्धि कर्महीमें उत्पन्न होती है ऐसा पुरुष स्वभाव ज्ञान जो केवलज्ञान उसको खंडरूप दूषण करनेवाला है, इन्द्रियज्ञान खंडखंडरूप है, अपने अपने विषयको जानता है जो जीव इतना मात्रही ज्ञानको मानता है इस कारणसे ऐसा मानने-वाला अज्ञानी है जिनमतको दूषण करता है। (अपनेमें महादोष उत्पन्न करता है)

भावार्थः—मीमांसक मतवाला कर्मवादी है, सर्वज्ञको नहीं मानता है, इन्द्रिय-ज्ञानमात्रही ज्ञानको मानता है, केवलज्ञानको नहीं मानता है, इसका यहाँ निषेध किया

कर्मजमतिक जे खंडदूषणकर स्वभाविकज्ञानमां।
ते जीवने अज्ञानी, जिनशासन तणा दूषक कह्या ॥५६॥

है क्योंकि जिनमतमें आत्माका स्वभाव सबको जाननेवाला केवलज्ञानस्वरूप कहा है। परन्तु वह कर्मके निमित्तसे आच्छादित होकर इन्द्रियोंके द्वारा क्षयोपशमके निमित्तसे खंडरूप हुआ, खंड खंड विषयोंको जानता है, [निज बलद्वारा] कर्मोंका नाश होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है तब आत्मा सर्वज्ञ होता है, इसप्रकार मीमांसक मतवाला नहीं मानता है अतः वह अज्ञानी है, जिनमतसे प्रतिकूल है, कर्ममात्रमेंही उसकी बुद्धि गत हो रही है, ऐसे कोई और भी मानते हैं वह ऐसा ही जानना ॥५६॥

आगे कहते हैं कि जो ज्ञान-चारित्र रहित हो और तप सम्यक्त्व रहित हो तथा अन्य भी क्रिया भावपूर्वक न हो तो इसप्रकार केवल लिंग भेषमात्रहीसे क्या सुख है? अर्थात् कुछ भी नहीं है:—

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ॥५७॥

ज्ञानं चारित्रहीनं दर्शनहीनं तपोभिः संयुक्तम्।
अन्येषु भावरहितं लिंगग्रहणेन किं सौख्यम् ॥५७॥

अर्थः—जहाँ ज्ञान तो चारित्र रहित है, तपयुक्त भी है परन्तु वह दर्शन अर्थात् सम्यक्त्वसे रहित है, अन्य भी आवश्यक आदि क्रियायें हैं परन्तु उनमें भी शुद्ध-भाव नहीं है, इसप्रकार लिंग-भेष ग्रहण करनेमें क्या सुख है?

भावार्थः—कोई मुनि भेषमात्रसे तो मुनि हुआ और शास्त्र भी पढ़ता है। उसको कहते हैं कि-शास्त्र पढ़ कर ज्ञान तो किया परन्तु निश्चय चारित्र जो शुद्ध आत्माका अनुभवरूप तथा बाह्य चारित्र निर्दोष नहीं किया, तपका क्लेश बहुत किया, सम्यक्त्व भावना नहीं हुई और आवश्यक आदि बाह्य क्रिया की, परन्तु भाव शुद्ध नहीं लगाये तो ऐसे बाह्य भेषमात्रसे तो क्लेश ही हुआ, कुछ शांतभावरूप सुख तो हुआ नहीं और यह भेष परलोकके सुखमें भी कारण नहीं हुआ; इसलिये सम्यक्त्वपूर्वक भेष (-जिन-लिंग) धारण करना श्रेष्ठ है ॥५७॥

आगे सांख्यमती आदिके आशयका निषेध करते हैं:—

ज्यां ज्ञान चरितविहीन छे, तपयुक्त पण दृगहीन छे।
वळी अन्य कार्यो भावहीन, ते लिंगथी सुख शुं अरे ॥५७॥

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी ।
सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥५८॥

अचेतनेपि चेतनं यः मन्यते सः भवति अज्ञानी ।
सः पुनः ज्ञानी भणितः यः मन्यते चेतने चेतनम् ॥५८॥

अर्थः—जो अचेतन में चेतनको मानता है वह अज्ञानी है और जो चेतनमें ही चेतनको मानता है उसे ज्ञानी कहा है ।

भावार्थः—सांख्यमती ऐसे कहता है कि पुरुष तो उदासीन चेतनास्वरूप नित्य है और यह ज्ञान है वह प्रधानका धर्म है, इनके मतमें पुरुषको उदासीन चेतनास्वरूप माना है अतः ज्ञान बिना तो वह जड़ ही हुआ, ज्ञान बिना चेतन कैसे ? ज्ञानको प्रधानका धर्म माना है और प्रधानको जड़ माना तब अचेतनमें चेतना मानी तब अज्ञानी ही हुआ ।

नैयायिक, वैशेपिक मतवाले गुण–गुणोके सर्वथा भेद मानते हैं, तब उन्होने चेतना गुणको जीवसे भिन्न माना तब जीव तो अचेतन ही रहा । इसप्रकार अचेतनमें चेतनापना माना । भूतवादी चार्वाक—भूत पृथ्वी आदिकसे चेतनताकी उत्पत्ति मानता है, भूत तो जड़ है उसमें चेतनता कैसे उपजे ? इत्यादिक अन्य भी कई मानते हैं वे सब अज्ञानी हैं इसलिये चेतनमें ही चेतन माने वह ज्ञानी है, यह जिनमत है ॥५८॥

आगे कहते हैं कि तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप ये दोनों ही अकार्य हैं, दोनोंके संयुक्त होने पर ही निर्वाण है:—

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥५९॥

तपोरहितं यत् ज्ञानं ज्ञानवियुक्तं तपः अपि अकृतार्थम् ।
तस्मात् ज्ञानतपसा संयुक्तः लभते निर्वाणम् ॥५९॥

छ अज्ञ, जेह अचेतने चेतक तणी श्रद्धा धरे ।
जे चेतने चेतक तणी श्रद्धा धरे ते ज्ञानी छे ॥५८॥

तपथी रहित जे ज्ञान, ज्ञानविहीन तप अकृतार्थ छे ।
ते कारणे जीव ज्ञानतपसंयुक्त शिवपदने लहे ॥५९॥

अर्थः—जो ज्ञान तपरहित है और जो तप है वह भी ज्ञानरहित है तो दोनों ही अकार्य हैं इसलिये ज्ञान तप संयुक्त होने पर ही निर्वाणको प्राप्त करता है।

भावार्थः—अन्यमती सांख्यादिक ज्ञानचर्चा तो बहुत करते हैं और कहते हैं कि–ज्ञानसे ही मुक्ति है और तप नहीं करते हैं, विषय–कषायोंको प्रधानका धर्म मानकर स्वच्छंद प्रवर्तते हैं। कई ज्ञानको निष्फल मानकर उसको यथार्थ जानते नहीं हैं और तप क्लेशादिकसे ही सिद्धि मानकर उसके करनेमें तत्पर रहते हैं। आचार्य कहते हैं कि ये दोनों ही अज्ञानी हैं जो ज्ञानसहित तप करते हैं वे ज्ञानी हैं वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं, यह अनेकान्तस्वरूप जिनमतका उपदेश है ॥५९॥

आगे इसी अर्थको उदाहरणसे दृढ़ करते हैं:—

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥

ध्रुवसिद्धिस्तीर्थंकरः चतुर्ज्ञानयुतः करोति तपश्चरणम्।
ज्ञात्वा ध्रुवं कुर्यात् तपश्चरणं ज्ञानयुक्तः अपि ॥६०॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं–कि देखो..., जिसको नियमसे मोक्ष होना है...और जो चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इनसे युक्त है ऐसा तीर्थंकर भी तपश्चरण करता है, इसप्रकार निश्चयसे जानकर ज्ञानयुक्त होने पर भी तप करना योग्य है। (तप–मुनित्व; सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकताको तप कहा है।)

भावार्थः—तीर्थंकर मति–श्रुत–अवधि इन तीन ज्ञान सहित तो जन्म लेते हैं और दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, मोक्ष उनको नियमसे होना है तो भी तप करते हैं, इसलिये ऐसा जानकर ज्ञान होते हुए भी तप करनेमें तत्पर होना, ज्ञानमात्रहीसे मुक्ति नहीं मानना ॥६०॥

आगे जो बाह्यलिंग सहित है और अभ्यंतरलिंग रहित है वह स्वरूपाचरण चारित्रसे भ्रष्ट हुआ मोक्षमार्गका विनाश करनेवाला है, इसप्रकार सामान्यरूपसे कहते हैं:—

ध्रुवसिद्धि श्री तीर्थेश ज्ञानचतुष्कयुत तपने करे।
ए जाणी निश्चित ज्ञानयुत जीवेय तप कर्तव्य छे ॥६०॥

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥६१॥

बाह्यलिंगेन युतः अभ्यंतरलिंगरहितपरिकर्म्मा ।
सः स्वकचारित्रभ्रष्टः मोक्षपथविनाशकः साधुः ।६१॥

अर्थः—जो जीव बाह्य लिंग–भेष सहित है और अभ्यंतर लिंग जो परद्रव्योंसे सर्वरागादिक ममत्वभाव रहित ऐसे आत्मानुभवसे रहित है तो वह स्वक–चारित्र अर्थात् अपने आत्मस्वरूपके आचरण–चारित्रसे भ्रष्ट है, परिकर्म अर्थात् बाह्यमें नग्नता, ब्रह्मचर्यादि शरीरसंस्कारसे परिवर्तनवान द्रव्यलिंगी होने पर भी वह स्व-चारित्रसे भ्रष्ट होनेसे मोक्षमार्गका विनाश करनेवाला है ॥६१॥ [अतः मुनि-साधुको शुद्धभावको जान-कर निज शुद्ध बुद्ध एकस्वभावी आत्मतत्त्वमें नित्य भावना (–एकाग्रता) करनी चाहिये।] (श्रुतसागरी टीकासे)

भावार्थः—यह संक्षेपसे कहा जानो कि जो बाह्यलिंग संयुक्त है और अभ्यंतर अर्थात् भावलिंग रहित है वह स्वरूपाचरण चारित्रसे भ्रष्ट हुआ मोक्षमार्गका नाश करनेवाला है ॥६१॥

आगे कहते हैं कि—**जो सुखसे भावित ज्ञान है वह दुःख आने पर नष्ट होता है इसलिये तपश्चरणसहित ज्ञानको भाना**:—

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२॥

सुखेन भावितं ज्ञानं दुःखे जाते विनश्यति ।
तस्मात् यथाबल योगी आत्मानं दुःखैः भावयेत् ॥६२॥

अर्थः—सुखसे भाया हुआ ज्ञान है वह उपसर्ग–परीषहादिके द्वारा दुःख उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, इसलिये यह उपदेश है, कि जो योगी ध्यानी मुनि है वह

जे बाह्यलिंग युक्त, आंतरलिंगरहित क्रिया करे।
ते स्वकचरितथी भ्रष्ट, शिवमारगविनाशक श्रमण छे ॥६१॥

सुखसंग भावित ज्ञान तो दुखकालमां लय थाय छे।
तेथी यथाबल दुःख सह भावो श्रमण निज आत्मने ॥६२॥

तपश्चरणादिके कष्ट (दुःख) सहित आत्माको भावे । [अर्थात् बाह्यमें जरा भी अनुकूल–प्रतिकूल न मानकर निज आत्मामें ही एकाग्रतारूपी भावना करे जिससे आत्म-शक्ति और आत्मिक आनंदका प्रचुर संवेदन बढ़ता ही है ।]

भावार्थः—तपश्चरणका कष्ट अंगीकार करके ज्ञानको भावे तो परीषह आने पर ज्ञानभावनासे चिगे नही इसलिये शक्तिके अनुसार दुःख सहित ज्ञानको भाना, सुख-हीमें भावे तो दुःख आने पर व्याकुल हो जावे तब ज्ञानभावना न रहे, इसलिये यह उपदेश है ।।६२।।

आगे कहते हैं कि आहार, आसन, निद्रा इनको जीत कर आत्माका ध्यान करना:—

आहारासणणिद्दाजयं च काऊण जिणवरमएण ।
झायव्वो णियअप्पा णाऊणं गुरुपसाएण ।।६२।।

आहारासननिद्राजयं च कृत्वा जिनवरमतेन ।
ध्यातव्यः निजात्मा ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ।।६२।।

अर्थः—आहार, आसन, निद्रा इनको जीतकर और जिनवरके मतसे तथा गुरुके प्रसादसे जानकर निज आत्माका ध्यान करना ।

भावार्थः—आहार, आसन, निद्राको जीतकर आत्माका ध्यान करना तो अन्य मतवाले भी कहते हैं परन्तु उनके यथार्थ विधान नहीं है इसलिये आचार्य कहते हैं कि जैसे जिनमतमें कहा है उस विधानको गुरुके प्रसादसे जानकर ध्यान करना सफल है. जैसे जैनसिद्धांतमें आत्माका स्वरूप तथा ध्यानका स्वरूप और आहार, आसन, निद्रा इनके जीतनेका विधान कहा है वैसे जानकर इनमें प्रवर्तना ।।६३।।

आगे आत्माका ध्यान करना वह आत्मा कैसा है, यह कहते हैं:—

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा ।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ।।६४।।

आसन–अशन–निद्रा तणो करी विजय, जिनवरमार्गथी ।
ध्यातव्य छे निज आतमा, जाणी श्रीगुरुपरसादथी ।।६३।।
छे आतमा संयुक्त दर्शन–ज्ञानथी, चारित्रथी ।
नित्ये अहो ! ध्यातव्य ते, जाणी श्रीगुरुपरसादथी ।।६४।।

आत्मा चारित्रवान् दर्शनज्ञानेन संयुतः आत्मा ।
सः ध्यातव्यः नित्यं ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥६४॥

अर्थः—आत्मा चारित्रवान् है और दर्शन-ज्ञान सहित है ऐसा आत्मा गुरुके प्रसादसे जानकर नित्य ध्यान करना।

भावार्थः—आत्माका रूप दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी है, इसका रूप जैनगुरुओंके प्रसादसे जाना जाता है। अन्यमतवाले अपना बुद्धिकल्पित जैसा तैसा मानकर ध्यान करते हैं उनके यथार्थ सिद्धि नहीं है, इसलिये जैनमतके अनुसार ध्यान करना ऐसा उपदेश है ॥६४॥

आगे कहते है कि आत्माका जानना, भाना और विषयोंमें विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ होनेसे दुःखसे (-दृढ़तर पुरुषार्थसे) प्राप्त होते हैंः—

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियसहावपुरिसो विसयेसु विरच्चए दुक्खं ॥६५॥

दुःखेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दुःखम् ।
भावितस्वभावपुरुषः विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥६५॥

अर्थः—प्रथम तो आत्माको जानते हैं वह दुःखसे जाना जाता है, फिर आत्माको जानकर भी भावना करना, फिर फिर इसीका अनुभव करना दुःखसे (-उग्र पुरुषार्थसे) होता है, कदाचित् भावना भी किसी प्रकार हो जावे तो भायी है जिन-भावना जिसने ऐसा पुरुष विषयोंसे विरक्त बड़े दुःखसे (-अपूर्व पुरुषार्थसे) होता है।

भावार्थः—आत्माका जानना, भाना, विषयोंसे विरक्त होना उत्तरोत्तर यह योग मिलना बहुत दुर्लभ है, इसलिये यह उपदेश है कि ऐसा सुयोग मिलने पर प्रमादी न होना ॥६५॥

आगे कहते हैं कि जब तक विषयोंमें यह मनुष्य प्रवर्तता है तब तक आत्मज्ञान नहीं होता हैः—

जीव जाणवो दुष्कर प्रथम, पछी भावना दुष्कर अरे।
भावितनिजात्मस्वभावने दुष्कर विषयवैराग्य छे ॥६५॥

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

तावन्न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नरः प्रवर्त्तते यावत्।
विषये विरक्तचित्तः योगी जानाति आत्मानम् ॥६६॥

अर्थः—तब तक यह मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवर्तता है तब तक आत्माको नहीं जानता है इसलिये योगी ध्यानी मुनि है वह विषयोंसे विरक्त चित्त होता हुआ आत्माको जानता है।

भावार्थः—जीवके स्वभावके उपयोगकी ऐसी स्वच्छता है कि जो जिस ज्ञेय पदार्थसे उपयुक्त होता है वैसा ही हो जाता है, इसलिये आचार्य कहते हैं कि—जब तक विषयोंमें चित्त रहता है, तब तक उनरूप रहता है, आत्माका अनुभव नहीं होता है, इसलिये योगी मुनि इस प्रकार विचार कर विषयोंसे विरक्त हो आत्मामें उपयोग लगावे तब आत्माको जाने, अनुभव करे इसलिये विषयोंसे विरक्त होना यह उपदेश है ॥६६॥

आगे इस ही अर्थको दृढ़ करते हैं कि आत्माको जानकर भी भावना बिना संसारमें ही रहता हैः—

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

आत्मानं ज्ञात्वा नराः केचित् सद्भावभावप्रभ्रष्टाः।
हिण्डन्ते चातुरंगं विषयेषु विमोहिताः मूढाः ॥६७॥

अर्थः—कई मनुष्य आत्माको जानकर भी अपने स्वभावकी भावनासे अत्यंत भ्रष्ट हुए विषयोंमें मोहित होकर अज्ञानी मूर्ख चार गतिरूप संसारमें भ्रमण करते हैं।

आत्मा जणाय न, ज्यां लगी विषये प्रवर्तन नर करे।
विषये विरक्तमनस्क योगी जाणता निज आत्मने ॥६६॥

नर कोई, आतम जाणी, आतमभावनाप्रच्युतपणे।
चतुरंग संसारे भमे विषये विमोहित मूढ ए ॥६७॥

भावार्थः—पहिले कहा था कि आत्माको जानना, भाना, विषयोंसे विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ पाये जाते हैं, विषयोंमें लगा हुआ प्रथम तो आत्माको जानता नहीं है ऐसे कहा, अब यहाँ इसप्रकार कहा कि आत्माको जानकर भी विषयोंके वशीभूत हुआ भावना नहीं करे तो संसारहीमें भ्रमण करता है, इसलिये आत्माको जानकर विषयोंसे विरक्त होना यह उपदेश है ।।६७।।

आगे कहते हैं कि जो विषयोंसे विरक्त होकर आत्माको जानकर भाते हैं वे संसारको छोडते हैं:—

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ।।६८।।

ये पुनः विषयविरक्ताः आत्मानं ज्ञात्वा भावनासहिताः ।
त्यजन्ति चातुरंगं तपोगुणयुक्ताः न संदेहः ।।६८।।

अर्थः—फिर जो पुरुष मुनि विषयोंसे विरक्त हो आत्माको जानकर भाते हैं, बारंबार भावना द्वारा अनुभव करते हैं वे तप अर्थात् बारह प्रकार तप और मूलगुण उत्तरगुणोंसे युक्त होकर संसारको छोड़ते हैं, मोक्ष पाते हैं ।

भावार्थः—विषयोंसे विरक्त हो आत्माको जानकर भावना करना, इससे संसारसे छूटकर मोक्ष प्राप्त करो, यह उपदेश है ।।६८।।

आगे कहते हैं कि यदि परद्रव्यमें लेशमात्र भी राग हो तो वह पुरुष अज्ञानी है, अपना स्वरूप उसने नहीं जाना:—

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ।।६९।।

परमाणुप्रमाणं वा परद्रव्ये रतिर्भवति मोहात् ।
सः मूढः अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीतः ।।६९।।

पण विषयमांही विरक्त, आतम जाणी भावनयुक्त जे ।
निःशंक ते तपगुणसहित छोडे चतुर्गति भ्रमणने ।।६८।।
परद्रव्यमां अणुमात्र पण रति होय जेने मोहथी ।
ते मूढ छे; अज्ञानी छे, विपरीत आत्मस्वभावथी ।।६९।।

अर्थः—जिस पुरुषके परद्रव्यमें परमाणु प्रमाण भी लेशमात्र मोहसे रति अर्थात् राग–प्रीति हो तो वह पुरुष मूढ़ है, अज्ञानी है आत्मस्वभावसे विपरीत है।

भावार्थः—भेदविज्ञान होनेके बाद जीव अजीवको भिन्न जाने तब परद्रव्यको अपना न जाने तब उससे [कर्तव्यबुद्धि = स्वामित्वकी भावनासे] राग भी नहीं होता है यदि [ऐसा] हो तो जानो कि इसने स्व–परका भेद नहीं जाना है, अज्ञानी है, आत्म स्वभावसे प्रतिकूल है और ज्ञानी होनेके बाद चारित्रमोहका उदय रहता है जब तक कुछ राग रहता है उसको कर्मजन्य अपराध मानता है, **उस राग से राग नहीं** है इसलिये विरक्त ही है अतः ज्ञानी परद्रव्यसे रागी नहीं कहलाता है, इसप्रकार जानना ।।६९।।

आगे इस अर्थको संक्षेपसे कहते हैं:—

अप्पा झायंताणं दसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ।।७०।।

आत्मानं ध्यायतां दर्शनशुद्धीनां दृढचारित्राणाम् ।
भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ।।७०।।

अर्थः—पूर्वोक्त प्रकार जिनका चित्त विषयोंसे विरक्त है, जो आत्माका ध्यान करते रहते हैं, जिनके बाह्य अभ्यंतर दर्शनकी शुद्धता है और जिनके दृढ़ चारित्र है उनको निश्चयसे निर्वाण होता है।

भावार्थ—पहिले कहा था कि जो विषयोंसे विरक्त हो आत्माका स्वरूप जानकर आत्माकी भावना करते हैं वे संसारसे छूटते हैं। इस ही अर्थको संक्षेपसे कहा है कि—जो इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर बाह्य अभ्यंतर दर्शनकी शुद्धतासे दृढ़ चारित्र पालते हैं उनको नियमसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है, इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति सब अनर्थोंका मूल है इसलिये इनसे विरक्त होने पर उपयोग आत्मामें लगे तब कार्यसिद्धि होती है ।।७०।।

आगे कहते हैं कि जो परद्रव्यमें राग है वह संसारका कारण है इसलिये योगीश्वर आत्मामें भावना करते हैं:—

जे आत्मने ध्यावे, सुदर्शनशुद्ध, दृढचारित्र छे।
विषये विरक्तमनस्क ते शिवपद लहे निश्चितपणे ।।७०।।

जेण रागो परे दव्वे संसारस्स हि कारणं।
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणं ॥७१॥

येन रागः परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम्।
तेनापि योगी नित्यं कुर्यात् आत्मनि स्वभावनाम् ॥७१॥

अर्थः—जिस कारणसे परद्रव्यमें राग है वह संसारहीका कारण है उस कारणहीसे योगीश्वर मुनि नित्य आत्माहीमें भावना करते हैं।

भावार्थः—कोई ऐसी आशंका करते हैं कि—परद्रव्यमें राग करनेसे क्या होता है? परद्रव्य है वह पर है ही, अपने राग जिस काल हुआ उस काल है, पीछे मिट जाता है उसको उपदेश दिया है कि—परद्रव्यसे राग करने पर परद्रव्य अपने साथ लगता है यह प्रसिद्ध है और अपने रागका संस्कार दृढ़ होता है तब परलोक तक भी चला जाता है यह तो युक्ति सिद्ध है और जिनागममें रागसे कर्मका बंध कहा है, इसका उदय अन्य जन्मका कारण है इस प्रकार परद्रव्यमें रागसे संसार होता है, इसलिये योगीश्वर मुनि परद्रव्यसे राग छोड़कर आत्मामें निरंतर भावना रखते हैं ॥७१॥

आगे कहते हैं कि ऐसे समभावसे चारित्र होता है:—

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य।
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥७२॥

निंदायां च प्रशंसायां दुःखे च सुखेषु च।
शत्रूणां चैव बंधूनां चारित्रं समभावतः ॥७२॥

अर्थः—निन्दा-प्रशंसामें, दुःख-सुखमें और शत्रु-बन्धु-मित्रमें समभाव जो समतापरिणाम, रागद्वेषसे रहितपना ऐसे भावसे चारित्र होता है।

भावार्थः—चारित्रका स्वरूप यह कहा है कि जो आत्माका स्वभाव है वह कर्मके निमित्तसे ज्ञानमें परद्रव्यसे इष्ट अनिष्ट बुद्धि होती है, इस इष्ट अनिष्ट बुद्धिके

परद्रव्य प्रत्ये राग तो संसारकारण छे खरे।
तेथी श्रमण नित्ये करो निजभावना स्वात्मा विषे ॥७१॥
निंदा प्रशंसाने विषे, दुःखो तथा सौख्यो विषे।
शत्रु तथा मित्रो विषे समताथी चारित होय छे ॥७२॥

अभावसे ज्ञानहीमें उपयोग लगा रहे उसको शुद्धोपयोग कहते हैं वही चारित्र है, यह होता है वहाँ निंदा-प्रशंसा, दुःख-सुख, शत्रु-मित्रमें समान बुद्धि होती है, निंदा-प्रशंसाका द्विधाभाव मोहकर्मका उदयजन्य है, इसका अभाव ही शुद्धोपयोगरूप चारित्र है ।।७२।।

आगे कहते हैं कि कई मूर्ख ऐसे कहते हैं जो अभी पंचमकाल है सो आत्मध्यानका काल नहीं है, उसका निषेध करते हैं:—

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्टा।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ।।७३।।

चर्यावृताः व्रतसमितिवर्जिताः शुद्धभावप्रभ्रष्टाः ।
केचित् जल्पंति नराः न स्फुटं कालः ध्यानयोगस्य ।।७३।।

अर्थः—कई मनुष्य ऐसे हैं जिनके चर्या अर्थात् आचारक्रिया आवृत है, चारित्रमोहका उदय प्रबल है इससे चर्या प्रकट नहीं होती है इसीसे व्रतसमितिसे रहित हैं और मिथ्या अभिप्रायके कारण शुद्धभावसे अत्यंत भ्रष्ट हैं, वे ऐसे कहते हैं कि—अभी पंचमकाल है, यह काल प्रकट ध्यान योगका नहीं है ।।७३।।

वे प्राणी कैसे हैं वह आगे कहते हैं:—

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को ।
ससारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ।।७४।।

सम्यक्त्वज्ञानरहितः अभव्यजीवः स्फुटं मोक्षपरिमुक्तः ।
संसारसुखे सुरतः न स्फुटं कालः भणति ध्यानस्य ।।७४।।

अर्थः—पूर्वोक्त ध्यानका अभाव कहनेवाला जीव सम्यक्त्व और ज्ञानसे रहित है, अभव्य है इसीसे मोक्ष रहित है और संसारके इन्द्रिय सुखोंको भले जानकर उनमें रत है, आसक्त है इसलिये कहता है कि अभी ध्यानका काल नहीं है।

आवृतचरण, व्रतसमितिवर्जित, शुद्धभावविहीन जे ।
ते कोई नर जल्पे अरे!—'नहि ध्याननो आ काल छे' ।।७३।।

सम्यक्त्वज्ञानविहोन, शिवपरिमुक्त जीव अभव्य जे ।
ते सुरत भवसुखमां कहे—' नहि ध्यानतो आ काल छे ' ।।७४।।

भावार्थः—जिसको इन्द्रियोंके सुख ही प्रिय लगते हैं और जीवाजीव पदार्थके श्रद्धान ज्ञानसे रहित है वह इस प्रकार कहता है कि अभी ध्यानका काल नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि इस प्रकार कहनेवाला अभव्य है इसको मोक्ष नहा होगा ॥७४॥

जो ऐसा मानता है—कहता है कि अभी ध्यानका काल नहीं तो उसने पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिका स्वरूप भी नहीं जानाः—

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७५॥

पंचसु महाव्रतेषु च पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिसु।
यः मूढः अज्ञानी न स्फुटं कालः भणिति ध्यानस्य ॥७५॥

अर्थः—जो पांच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति इनमें मूढ है, अज्ञानी है अर्थात् इनका स्वरूप नहीं जानता है और चारित्रमोहके तीव्र उदयसे इनको पाल नहीं सकता है वह इसप्रकार कहता है कि अभी ध्यानका काल नहीं है ॥७५॥

आगे कहते हैं कि अभी इस पंचमकालमें धर्मध्यान होता है, यह नहीं मानता है वह अज्ञानी हैः—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

भरते दुःषमकाले धर्मध्यानं भवति साधोः।
तदात्मस्वभावस्थिते न हि मन्यते सोऽपि अज्ञानी ॥७६॥

अर्थः—इस भरतक्षेत्रमें दुःषमकाल—पंचमकालमें साधु मुनिके धर्मध्यान होता है यह धर्मध्यान आत्मस्वभावमें स्थित है उस मुनिके होता है, जो यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है उसको धर्मध्यानके स्वरूपका ज्ञान नहीं है।

त्रण गुप्ति, पंच समिति, पंच महाव्रते जे मूढ छे।
ते मूढ अज्ञ कहे अरे!—'नहि ध्याननो आ काल छे' ॥७५॥

भरते दुषमकालेय धर्मध्यान मुनिने होय छे।
ते होय छे आत्मस्थने; माने न ते अज्ञानी छे. ॥७६॥

भावार्थः—जिनसूत्रमें इस भरतक्षेत्र पंचमकालमें आत्मभावनामें स्थित मुनिके धर्मध्यान कहा है, जो यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है, उसको धर्मध्यानके स्वरूपका ज्ञान नहीं है ।।७६।।

आगे कहते हैं कि जो इस कालमें भी रत्नत्रयका धारक मुनि होता है वह स्वर्ग लोकमें लौकान्तिकपद, इन्द्रपद प्राप्त करके वहाँसे चयकर मोक्ष जाता है, इसप्रकार जिनसूत्रमें कहा हैः—

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहिं इंदत्तं ।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ।।७७।।

अद्य अपि त्रिरत्नशुद्धा आत्मानं ध्यात्वा लभंते इन्द्रत्वम् ।
लौकान्तिकदेवत्वं ततः च्युत्वा निर्वृतिं यांति ।।७७।।

अर्थः—अभी इस पंचमकालमें भी जो मुनि सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी शुद्धता युक्त होते हैं वे आत्माका ध्यान कर इन्द्रपद अथवा लोकान्तिकदेवपदको प्राप्त करते हैं और वहाँसे चयकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं ।

भावार्थः—कोई कहते हैं कि अभी इस पंचमकालमें जिनसूत्रमें मोक्ष होना कहा नहीं इसलिये ध्यान करना तो निष्फल खेद है—उसको कहते हैं कि हे भाई ! मोक्ष जानेका निषेध किया है और शुक्लध्यानका निषेध किया है परन्तु धर्मध्यानका निषेध तो किया नहीं। अभी भी जो मुनि रत्नत्रयसे शुद्ध होकर धर्मध्यानमें लीन होते हुए आत्माका ध्यान करते हैं, वे मुनि स्वर्गमें इन्द्रपदको प्राप्त होते हैं अथवा लोकान्तिकदेव एक भवावतारी हैं, उनमें जाकर उत्पन्न होते हैं। वहाँसे चयकर मनुष्य हो मोक्षपदको प्राप्त करते हैं। इसप्रकार धर्मध्यानसे परंपरा मोक्ष होता है तब सर्वथा निषेध क्यों करते हो ? जो निषेध करते हैं वे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं, उनको विषय–कषायोंमें स्वच्छंद रहना है इसलिये इसप्रकार कहते हैं ।।७७।।

आगे कहते हैं कि जो इस कालमें ध्यानका अभाव मानते हैं और मुनिलिंग पहिले ग्रहण कर लिया अब उसको गौण करके पापमें प्रवृत्ति करते हैं वे मोक्षमार्गसे च्युत हैंः—

आजेय त्रिमलत्रिरत्न, निजने ध्याई, इन्द्रपणुं लहे ।
वा देव लौकांतिक बने, त्यांथी च्यवी सिद्धि वरे ।।७७।।

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७८॥

ये पापमोहितमतयः लिंगं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम् ।
पापं कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्त्वा मोक्षमार्गे ॥७८॥

अर्थः—जिनकी बुद्धि पापकर्मसे मोहित है वे जिनवरेन्द्र तीर्थंकरका लिंग ग्रहण करके भी पाप करते हैं वे पापी मोक्षमार्गसे च्युत हैं ।

भावार्थः—जिन्होंने पहिले निर्ग्रंथ लिंग धारण कर लिया और पीछे ऐसी पाप-बुद्धि उत्पन्न हो गई कि—अभी ध्यानका काल तो नहीं इसलिये क्यों प्रयास करें ? ऐसा विचारकर पापमें प्रवृत्ति करने लग जाते हैं वे पापी हैं, उनको मोक्षमार्ग नहीं है ॥७२॥

[* 'इस कालमें धर्मध्यान किसीको नहीं होता' किन्तु भद्र ध्यान (—व्रत—भक्ति, दान, पूजादिकके शुभभाव) होते हैं। इससे ही निर्जरा और परम्परा मोक्ष माना है और इसप्रकार ७ वें गुणस्थान तक भद्र ध्यान और पश्चात् हो धर्मध्यान माननेवालोंने हो श्री देवसेनाचार्य कृत 'आराधनासार' नाम देकर एक झालीग्रन्थ वनाया है उसीका उत्तर केकड़ी निवासी पं० श्री मिलापचन्दजी कटारियाने 'जैन निबंध रत्नमाला' पृष्ठ ४७ से ६० में दिया है कि इस कालमें धर्म ध्यान गुणस्थान ४ से ७ तक आगममें कहा है। आधार—सूत्रजीको टोकाएँ, श्री राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि।]

आगे कहते हैं कि जो मोक्षमार्गसे च्युत हैं वे कैसे हैं:—

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७९॥

ये पंचचेलसक्ताः ग्रथग्राहिणः याचनाशीलाः ।
अधः कर्मणि रताः ते त्यक्ताः मोक्षमार्गे ॥७९॥

जे पापमोहितबुद्धिओ ग्रही जिनवरोना लिंगने।
पापो करे छे, पापीओ ते मोक्षमार्गे त्यक्त छे ॥७८॥
जे पंचवस्त्रासक्त, परिग्रहधारी, याचनशील छे।
छे लीन आधाकर्ममां, ते मोक्षमार्गे त्यक्त छे ॥७५॥

अर्थः—पंच आदि प्रकारके चेल अर्थात् वस्त्रोंमें आसक्त हैं, अंडज, कर्पासिज, वल्कल, चर्मज और रोमज इसप्रकार वस्त्रोंमेंसे किसी एक वस्त्रको ग्रहण करते हैं, ग्रन्थ-ग्राही अर्थात् परिग्रहके ग्रहण करनेवाले हैं, याचनाशील अर्थात् मांगनेका ही जिनका स्वभाव है और अधःकर्म अर्थात् पापकर्ममें रत हैं, सदोष आहार करते हैं वे मोक्ष-मार्गसे च्युत हैं।

भावार्थः—यहाँ आशय ऐसा है कि पहिले तो निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि हो गये थे, पीछे कालदोषका विचारकर चारित्र पालनेमें असमर्थ हो निर्ग्रंथ लिंगसे भ्रष्ट होकर वस्त्रादिक अंगीकार कर लिये, परिग्रह रखने लगे, याचना करने लगे, अधःकर्म औद्देशिक आहार करने लगे उनका निषेध है वे मोक्षमार्गसे च्युत हैं। पहिले तो भद्रवाहु स्वामी तक निर्ग्रंथ थे। पीछे दुर्भिक्षकालमें भ्रष्ट होकर जो अर्द्धफालक कहलाने लगे उनमेंसे श्वेताम्बर हुए; इन्होंने इस भेषको पुष्ट करनेके लिये सूत्र बनाये, इनमें कई कल्पित आचरण तथा इसकी साधक कथायें लिखी। इनके सिवाय अन्य भी कई भेष बदले, इसप्रकार कालदोषसे भ्रष्ट लोगोंका संप्रदाय चल रहा है यह मोक्षमार्ग नहीं है, इसप्रकार बताया है। इसलिये इन भ्रष्ट लोगोंको देखकर ऐसा भी मोक्षमार्ग है, ऐसा श्रद्धान न करना ॥७९॥

आगे कहते हैं कि मोक्षमार्गी तो ऐसे मुनि हैंः—

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८०॥

निर्ग्रंथाः मोहमुक्ताः द्वाविंशतिपरीषहाः जितकषायाः।
पापारंभविमुक्ताः ते गृहीताः मोक्षमार्गे ॥८०॥

अर्थः—जो मुनि निर्ग्रंथ हैं, परिग्रह रहित हैं, मोह रहित हैं जिनके किसी भी परद्रव्यसे ममत्वभाव नहीं है, जो बाईस परीषहोंको सहते हैं, जिन्होंने क्रोधादि कषायोंको जीत लिया है और पापारंभसे रहित हैं गृहस्थके करने योग्य आरंभादिक पापोंमें नहीं प्रवर्तते हैं ऐसे मुनियोंको मोक्षमार्गमें ग्रहण किया है अर्थात् माने हैं। रत्न-

---

निर्मोह विजितकषाय, बावीश-परिषही, निर्ग्रंथ छे।
छे मुक्त पापारंभथी, ते मोक्षमार्गे गृहीत छे ॥८०॥

करण्ड श्रावकाचारमें समंतभद्राचार्यने भी कहा है कि–"विषयाशावशातीतो निरारम्भो ऽपरिग्रहः । ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्तते ॥८०॥

भावार्थः—मुनि हैं वे लौकिक कष्टों और कार्योंसे रहित हैं । जैसा जिनेश्वरने मोक्षमार्ग बाह्य अभ्यंतर परिग्रहसे रहित नग्न दिगम्बररूप कहा है वैसेही प्रवर्तते हैं वे ही मोक्षमार्गी हैं अन्य मोक्षमार्गी नहीं हैं ॥८०॥

आगे फिर मोक्षमार्गीकी प्रवृत्ति कहते हैं:—

उद्धद्धमज्झलोये केई मज्झं ण अहयमेगागी ।
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥८१॥

उर्ध्वाधोमध्यलोके केचित् मम न अहकमेकाकी ।
इति भावनया योगिनः प्राप्नुवंति स्फुटं शाश्वतं सौख्यम् ॥

अर्थः—मुनि ऐसी भावना करे–ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक इन तीनों लोकोंमें मेरा कोई भी नहीं है, मैं एकाकी आत्मा हूँ, ऐसी भावनासे योगी मुनि प्रकटरूपसे शाश्वत सुखको प्राप्त करता है ।

भावार्थः—मुनि ऐसी भावना करे कि त्रिलोकमें जीव एकाकी है इसका संबंधी दूसरा कोई नहीं है, यह परमार्थरूप एकत्व भावना है । जिस मुनिके ऐसी भावना निरन्तर रहती है वही मोक्षमार्गी है, जो भेष लेकर भी लौकिकजनोंसे लाल पाल रखता है वह मोक्षमार्गी नहीं है ॥८१॥

आगे फिर कहते हैं:—

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतिंता ।
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८२॥

देवगुरूणां भक्ताः निर्वेदपरंपरां विचिन्तयन्तः ।
ध्यानरताः सुचरित्राः ते गृहीताः मोक्षमार्गे ॥८२॥

छुं एकलो हुं, कोई पण मारां नथी लोकत्रये ।
—ए भावनाथी योगीओ पामे सुशाश्वत सौख्यने ॥८१॥
जे देव-गुरुना भक्त छे, निर्वेदश्रेणी चिंतवे ।
जे ध्यानरत, सुचरित्र छे, ते मोक्षमार्गे गृहीत छे ॥८२॥

अर्थः—जो मुनि देवगुरुके भक्त हैं, निर्वेद अर्थात् संसार-देह-भोगोंसे विरागताकी परंपराका चिन्तन करते हैं, ध्यानमें रत हैं, रक्त हैं, तत्पर हैं और जिनके भला-उत्तम चारित्र है उनको मोक्षमार्गमें ग्रहण किये हैं।

भावार्थः—जिनने मोक्षमार्ग प्राप्त किया ऐसे अरहंत सर्वज्ञ वीतराग **देव** और उनका अनुसरण करनेवाले बड़े मुनि दीक्षा शिक्षा देनेवाले **गुरु** इनकी भक्तियुक्त हो संसार-देह-भोगोंसे विरक्त होकर मुनि हुए, वैसी ही जिनके वैराग्यभावना है, आत्मानुभवरूप शुद्ध उपयोगरूप एकाग्रतारूपी ध्यानमें तत्पर हैं और जिनके, व्रत, समिति गुप्तिरूप निश्चयव्यवहारात्मक सम्यक्त्वचारित्र होता है वे ही मुनि मोक्षमार्गी हैं, अन्य भेषी मोक्षामर्गी नहीं हैं ॥८२॥

आगे ऐसा कहते हैं कि—निश्चयनयसे ध्यान इस प्रकार करना:—

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

निश्चयनयस्य एवं आत्मा आत्मनि आत्मने सुरतः।
सः भवति स्फुटं सुचरित्रः योगी सः लभते निर्वाणम् ॥८३॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि निश्चयनयका ऐसा अभिप्राय है—जो आत्मा आत्माहीमें अपने ही लिये भले प्रकार रत हो जावे वह योगी, ध्यानी, मुनि सम्यक्-चारित्रवान् होता हुआ निर्वाणको पाता है।

भावार्थः—निश्चयनयका स्वरूप ऐसा है कि—एक द्रव्यकी अवस्था जैसी हो उसीको कहे। आत्माकी दो अवस्थायें हैं—एक तो अज्ञान अवस्था और एक ज्ञान अवस्था। जबतक अज्ञान अवस्था रहती है तबतक तो बंधपर्यायको आत्मा जानता है कि—मैं मनुष्य हूं, मैं पशु हूं, मैं क्रोधी हूं, मैं मानी हूं, मैं मायावी हूं, मैं पुण्यवान् धनवान् हूं, मैं निर्धन दरिद्री हूं, मैं राजा हूं, मैं रंक हूं, मैं मुनि हूं, मैं श्रावक हूं इत्यादि पर्यायोंमें आपा मानता है, इन पर्यायोंमें लीन होता है तब मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, इसका फल संसार है उसको भोगता है।

निश्चयनये—ज्यां आतमा आत्मार्थ आत्मामां रमे।
ते योगी छे सुचरित्रसंयुत; ते लहे निर्वाणने ॥८३॥

जब जिनमतके प्रसादसे जीव–अजीव पदार्थोंका ज्ञान होता है तब स्व–परका भेद जानकर ज्ञानी होता है, तब इस प्रकार जानता है कि–मैं शुद्धज्ञानदर्शनमयी चेतना-स्वरूप हूँ अन्य मेरा कुछ भी नहीं है । जब भावलिंगी निर्ग्रंथ मुनिपदकी प्राप्ति करता है तब यह आत्मा आत्माहीमें अपने ही द्वारा अपने ही लिये विशेष लीन होता है तब निश्चयसम्यक्चारित्रस्वरूप होकर अपना ही ध्यान करता है, तब ही (साक्षात् मोक्ष-मार्गमें आरूढ़) सम्यग्ज्ञानी होता है इसका फल निर्वाण है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥८३॥ [नोंध–प्रवचनसार गा० २४१–२४२ में जो ७वें गुणस्थानमें आगमज्ञान तत्त्वार्थ श्रद्धान संयतत्व और निश्चय आत्मज्ञानमें युगपत् आरूढ़को आत्मज्ञान कहा है वह कथनकी अपेक्षा यहाँ है ।] (गौण–मुख्य समझ लेना)

आगे इस ही अर्थको दृढ़ करते हुए कहते हैं:—

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो ।
जो झायदि सो जोई पावहरो हवदि णिद्दंदो ॥८४॥

पुरुषाकार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्रः ।
यः ध्यायति सः योगी पापहरः भवति निर्द्वन्द्वः ॥८४॥

भावार्थः—यह आत्मा ध्यानके योग्य कैसा है ? पुरुषाकार है, योगी है–जिसके मन, वचन, कायके योगोंका निरोध है सर्वांग सुनिश्चल है और वर अर्थात् श्रेष्ठ सम्यक्-रूप ज्ञान तथा दर्शनसे समग्र है परिपूर्ण है, जिसके केवलज्ञान दर्शन प्राप्त हैं, इस प्रकार आत्माका जो योगी ध्यानी मुनि ध्यान करता है वह मुनि पापको हरनेवाला है और निर्द्वन्द्व है–रागद्वेष आदि विकल्पोंसे रहित है ।

भावार्थः—जो अरहंतरूप शुद्ध आत्माका ध्यान करता है उसके पूर्व कर्मका नाश होता है और वर्तमानमें रागद्वेषरहित होता है तब आगामी कर्मको नहीं बाँधता है ॥८४॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकार मुनियोंको प्रवर्तनेके लिए कहा । अब श्रावकोंको प्रवर्तनेके लिए कहते हैं:—

छे योगी, पुरुषाकार, जीव वरज्ञानदर्शनपूर्ण छे ।
ध्यानार योगी पापनाशक द्वंद्वविरहित होय छे ॥८४॥

एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु ।
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥८५॥

एवं जिनैः कथितं श्रमणानां श्रावकाणां पुनः श्रृणुत ।
संसारविनाशकरं सिद्धिकरं कारणं परमं ॥८५॥

अर्थः—एवं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार उपदेश तो श्रमण मुनियोंको जिनदेवने कहा है। अब श्रावकोंको संसारका विनाश करनेवाला और सिद्धि जो मोक्ष उसको करनेका उत्कृष्ट कारण ऐसा उपदेश कहते है सो सुनो।

भावार्थः—पहिले कहा वह तो मुनियोंको कहा और अब आगे कहते है वह श्रावकोंको कहते हैं, ऐसा कहते हैं जिससे संसारका विनाश हो और मोक्षकी प्राप्ति हो ॥८५॥

आगे श्रावकोंको पहिले क्या करना, वह कहते हैः—

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरेरिव निष्कंपम् ।
तत् ध्याने ध्यायते श्रावक ! दुःखक्षयार्थे ॥८६॥

अर्थः—प्रथम तो श्रावकोंको सुनिर्मल अर्थात् भले प्रकार निर्मल और मेरुवत् निःकंप अचल तथा चल मलिन अगाढ़ दूषणरहित अत्यंत निश्चल ऐसे सम्यक्त्वको ग्रहण करके दुःखका क्षय करनेके लिए उसको अर्थात् सम्यग्दर्शनको (—सम्यग्दर्शनके विषयका) ध्यान करना।

भावार्थः—श्रावक पहिले तो निरतिचार निश्चल सम्यक्त्वको ग्रहण करके उसका ध्यान करे, इस सम्यक्त्वकी भावनासे गृहस्थके गृहकार्य संबंधी आकुलता,

---

श्रमणार्थ जिन–उपदेश भाख्यो, श्रावकार्थ सुणो हवे ।
संसारनुं हरनार शिव–करनार कारण परम ए ॥८५॥

ग्रही मेरुपर्वत–सम अकंप सुनिर्मला सम्यक्त्वने ।
हे श्रावको! दुखनाश अर्थे ध्यानमां ध्यातव्य ते ॥८६॥

क्षोभ, दुःख हेय है वह मिट जाता है, कार्यके बिगड़ने सुधरनेमें वस्तुके स्वरूपका विचार आवे तब दुःख मिटता है। सम्यग्दृष्टिके इसप्रकार विचार होता है कि–वस्तुका स्वरूप सर्वज्ञने जैसा जाना है वैसा निरन्तर परिणमता है वही होता है, इष्ट–अनिष्ट मानकर दुःखो सुखी होना निष्फल है। ऐसा विचार करनेसे दुःख मिटता है यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है इसीलिये सम्यक्त्वका ध्यान करना कहा है ॥८६॥

आगे सम्यक्त्वके ध्यानहीकी महिमा कहते हैंः—

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥८७॥

सम्यक्त्वं यः ध्यायति सम्यग्दृष्टिः भवति सः जीवः।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षपयति दुष्टाष्टकर्माणि ॥८७॥

अर्थः—जो श्रावक सम्यक्त्वका ध्यान करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है और सम्यक्त्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट जो आठ कर्म उसका क्षय करता है।

भावार्थः—सम्यक्त्वका ध्यान इस प्रकार है–यदि पहिले सम्यक्त्व न हुआ हो तो भी इसका स्वरूप जानकर इसका ध्यान करे तो सम्यग्दृष्टि हो जाता है। सम्यक्त्व होने पर इसका परिणाम ऐसा है कि संसारके कारण जो दुष्ट अष्ट कर्म उसका क्षय होता है, सम्यक्त्वके होते ही कर्मोंकी गुणश्रेणी निर्जरा होने लग जाती है, अनुक्रमसे मुनि होने पर चारित्र और शुक्लध्यान इसके सहकारी हो जाते हैं तब सब कर्मोंका नाश हो जाता है ॥८७॥

आगे इसको संक्षेपमें कहते हैंः—

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥८८॥

सम्यक्त्वने जे जीव ध्यावे ते सुदृष्टि होय छे।
सम्यक्त्वपरिणत वर्ततो दुष्टाष्टकर्मो क्षय करे ॥८७॥

बहु कथनथी शुं? नरवरो गत काल जे सिद्धया अहो।
जे सिद्धशे भव्यो हवे, सम्यक्त्वमहिमा जाणवो ॥८८॥

किं बहुना भणितेन ये सिद्धाः नरवराः गते काले ।
सेत्स्यंति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यम् ।।८८।।

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि–बहुत कहनेसे क्या साध्य है जो नरप्रधान अतीत-कालमें सिद्ध हुए हैं और आगामी कालमें सिद्ध होंगे वह सम्यक्त्वका माहात्म्य जानो ।

भावार्थः—इस सम्यक्त्वका ऐसा माहात्म्य है कि जो अष्टकर्मोंका नाशकर मुक्तिप्राप्त अतीतकालमें हुए हैं तथा आगामी होंगे वे इस सम्यक्त्वसे ही हुए हैं और होंगे, इसलिए आचार्य कहते हैं कि बहुत कहनेसे क्या ? यह संक्षेपसे कहा जानो कि–मुक्तिका प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है । ऐसा मत जानो कि गृहस्थके क्या धर्म है, यह सम्यक्त्व धर्म ऐसा है कि सब धर्मोंके अंगोंको सफल करता है ।।८८।।

आगे कहते हैं कि जो निरन्तर सम्यक्त्वका पालन करते हैं उनको धन्य है:—

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ।।८९।।

ते धन्याः सुकृतार्थः ते शूराः तेऽपि पंडिता मनुजाः ।
सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्नेऽपि न मलिनितं यैः ।।८९।।

अर्थः—जिन पुरुषोंने मुक्तिको करनेवाले सम्यक्त्वको स्वप्नावस्थामें भी मलिन नहीं किया, अतीचार नहीं लगाया उन पुरुषोंको धन्य है, वे ही मनुष्य हैं, वे ही भले कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पंडित हैं ।

भावार्थः—लोकमें कुछ दानादिक करे उनको धन्य कहते हैं तथा विवाहादिक यज्ञादिक करते हैं उनको कृतार्थ कहते हैं, युद्धमें पीछा न लौटे उसको शूरवीर कहते हैं, बहुत शास्त्र पढ़े उसको पंडित कहते हैं । ये सब कहनेके हैं जो मोक्षके कारण सम्यक्त्वको मलिन नहीं करते हैं, निरतिचार पालते हैं उनको धन्य हैं वे ही कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पंडित हैं, वेही मनुष्य हैं, इसके बिना मनुष्य पशु समान है, इन प्रकार सम्यक्त्वका माहात्म्य कहा ।।८९।।

नर धन्य ते, सुकृतार्थ ते, पंडित अने शूरवीर ते ।
स्वप्नेय मलिन कर्युं न जेणे सिद्धिकर सम्यक्त्वने ।।८९।।

आगे शिष्य पूछता है कि सम्यक्त्व कैसा है? इसका समाधान करनेके लिए इस सम्यक्त्वके बाह्य चिह्न बताते हैं:—

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥

हिंसारहिते धर्मे अष्टादशदोषवर्जिते देवे।
निर्ग्रंथे प्रवचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥९०॥

अर्थः—हिंसारहित धर्म, अठारह दोषरहित देव, निर्ग्रंथ प्रवचन अर्थात् मोक्षका मार्ग तथा गुरु इनमें श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है।

भावार्थः—लौकिकजन तथा अन्य मत वाले जीवोंकी हिंसासे धर्म मानते हैं और जिनमतमें अहिंसा धर्म कहा है उसीका श्रद्धान करे अन्यका श्रद्धान न करे वह सम्यग्दृष्टि है। लौकिक अन्य मत वाले मानते हैं वे सब देव क्षुधादि तथा रागद्वेषादि दोषोंसे संयुक्त हैं इसलिये वीतराग सर्वज्ञ अरहंत देव सब दोषोंसे रहित हैं उनको देव माने, श्रद्धान करे वही सम्यग्दृष्टि है।

यहाँ अठारह दोष कहे वे प्रधानताकी अपेक्षा कहे हैं इनको उपलक्षणरूप जानना, इनके समान अन्य भी जान लेना। निर्ग्रंथ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग वही मोक्ष-मार्ग है, अन्यलिंगसे अन्य मत वाले श्वेताम्बरादिक जैनाभास मोक्ष मानते हैं वह मोक्ष-मार्ग नहीं है। ऐसा श्रद्धान करे वह सम्यग्दृष्टि है, ऐसा जानना ॥९०॥

आगे इसी अर्थको दृढ़ करते हुए कहते हैं:—

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं।
लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥९१॥

यथाजातरूपरूपं सुसंयतं सर्वसंगपरित्यक्तम्।
लिंगं न परापेक्षं यः मन्यते तस्य सम्यक्त्वम् ॥९१॥

हिंसासुविरहित धर्म, दोष अढार वर्जित देवनुं।
निर्ग्रंथ प्रवचन केरुं जे श्रद्धान ते समकित कह्युं ॥९०॥
सम्यक्त्व तेने, जेह माने लिंग परनिरपेक्षने।
रूपे यथाजातक, सुसंयत, सर्वसंगविमुक्तने ॥९१॥

अर्थः—मोक्षमार्गका लिंग–भेष ऐसा है कि–यथाजातरूप तो जिसका रूप है, जिसमें बाह्य परिग्रह वस्त्रादिक किञ्चित् मात्र भी नहीं है, सुसयत अर्थात् सम्यक्प्रकार इन्द्रियोंका निग्रह और जीवोंकी दया जिसमें पाई जाती है ऐसा संयम है, सर्वसंग अर्थात् सबही परिग्रह तथा सब लौकिक जनोंकी संगतिसे रहित है और जिसमें परकी अपेक्षा कुछ नहीं है, मोक्षके प्रयोजन सिवाय अन्य प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं है। ऐसा मोक्षमार्गका लिंग माने–श्रद्धान करे उस जीवके सम्यक्त्व होता है।

भावार्थः—मोक्षमार्गमें ऐसा ही लिंग है, अन्य अनेक भेष हैं वे मोक्षमार्गमें नहीं हैं ऐसा श्रद्धान करे उनके सम्यक्त्व होता है। यहाँ परापेक्ष नहीं है–ऐसा कहनेसे बताया है कि–ऐसा निर्ग्रंथ रूप भी जो किसी अन्य आशयसे धारण करे तो वह भेष मोक्षमार्ग नहीं है, केवल मोक्षहीकी अपेक्षा जिसमें हो ऐसा हो उसको माने वह सम्यग्दृष्टि है ऐसा जानना ।।९१।।

आगे मिथ्यादृष्टिके चिह्न कहते हैंः—

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च बंदए जो दु।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु ।।९२।।

कुत्सितदेवं धर्मं कुत्सितलिंगं च वन्दते यः तु
लज्जाभयगारवतः मिथ्यादृष्टिः भवेत् सः स्फुटम् ।।९२।।

अर्थः—जो क्षुधादिक और रागद्वेषादि दोषोंसे दूषित हो वह कुत्सित देव हैं, जो हिंसादि दोषोंसे सहित हो वह कुत्सित धर्म है, जो परिग्रहादि सहित हो वह कुत्सित-लिंग है। जो इनको वंदना करता है पूजा करता है वह तो प्रगट मिथ्यादृष्टि है। यहां अब विशेष कहते हैं कि जो इनको भले–हित करनेवाले मानकर वंदना करता है, पूजा करता है वह तो प्रगट मिथ्यादृष्टि है, परन्तु जो लज्जा भय गारव इन कारणोंसे भी वंदना करता है पूजा करता है वह भी प्रगट मिथ्यादृष्टि है। लज्जा तो ऐसे कि–लोग इनकी वन्दना करते हैं, पूजा करते हैं, हम नहीं पूजेंगे तो लोग हमको क्या

जे देव कुत्सित, धर्म कुत्सित, लिंग कुत्सित वंदता।
भय, शरम वा गारव थकी, ते जीव छे मिथ्यात्वमां ।।९२।।

कहेंगे ? हमारी इस लोकमें प्रतिष्ठा चली जायगी इस प्रकार लज्जासे वंदना व पूजा करे। भय ऐसे कि–इनको राजादिक मानते हैं, हम नहीं मानेंगे तो हमारे ऊपर कुछ उपद्रव आ जायगा इस प्रकार भयसे वंदना व पूजा करे। गारव ऐसे कि हम बड़े हैं, महंत पुरुष हैं, सबहीका सन्मान करते हैं, इन कार्योंसे हमारी बड़ाई है, इस प्रकार गारवसे वंदना व पूजना होता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टिके चिह्न कहे ॥९२॥

आगे इसी अर्थको दृढ करते हुए कहते हैं कि:—

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे।
मण्णइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥९३॥

स्वपरापेक्षं लिंगं रागिणं देवं असंयतं वन्दे।
मानयति मिथ्यादृष्टिः न स्फुटं मानयति शुद्धसम्यक्त्वी ॥९३॥

अर्थः—स्वपरापेक्ष तो लिंग–आप कुछ लौकिक प्रयोजन मनमें धारणकर भेष ले वह स्वापेक्ष है और किसी परकी अपेक्षासे धारण करे किसीके आग्रह तथा राजादिकके भयसे धारण करे वह परापेक्ष है। रागी देव (जिसके स्त्री आदिका राग पाया जाता है) और संयमरहितको इस प्रकार कहे कि मैं वंदना करता हूँ तथा इनको माने, श्रद्धान करे वह मिथ्यादृष्टि है। शुद्ध सम्यक्त्व होने पर न इनको मानता है, न श्रद्धान करता है और न वंदना व पूजन ही करता है।

भावार्थः—ये ऊपर कहे इनसे मिथ्यादृष्टिके प्रीति भक्ति उत्पन्न होती है, जो निरतिचार सम्यक्त्ववान् है वह इनको नहीं मानता है ॥९३॥

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि।
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥९४॥

सम्यग्दृष्टिः श्रावकः धर्मं जिनदेवदेशितं करोति।
विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः ॥९४॥

वंदन असंयत, रक्त देवो, लिंग सपरापेक्षने।
–ए मान्य होय कुदृष्टिने, नहि शुद्ध सम्यग्दृष्टिने ॥९३॥
सम्यक्त्वयुत श्रावक करे जिनदेवदेशित धर्मने।
विपरीत तेथी जे करे, कुदृष्टि ते ज्ञातव्य छे ॥९४॥

अर्थः—जो जिनदेवसे उपदेशित धर्मका पालन करता है वह सम्यग्दृष्टि श्रावक है और जो अन्यमतके उपदेशित धर्मका पालन करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना।

भावार्थः—इस प्रकार कहनेसे यहाँ कोई तर्क करे कि—यह तो अपना मत पुष्ट करनेकी पक्षपातमात्र वार्त्ता कही, अव इसका उत्तर देते हैं कि—ऐसा नहीं है, जिससे सब जीवोंका हित हो वह धर्म है ऐसे अहिंसारूप धर्मका जिनदेवहीने प्ररूपण किया है, अन्यमतमें ऐसे धर्मका निरूपण नहीं है, इस प्रकार जानना चाहिये ।।९४।।

आगे कहते हैं कि जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह संसारमें दुःखसहित भ्रमण करता है:—

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ ।
जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ।।९५।।

मिथ्यादृष्टिः यः सः संसारे संसरति सुखरहितः ।
जन्मजरामरणप्रचुरे दुःखसहस्राकुलः जीवः ।।९५।।

अर्थः—जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह जन्म जरा मरणसे प्रचुर और हजारों दुःखोंसे व्याप्त इस संसारमें सुखरहित दुखी होकर भ्रमण करता है।

भावार्थः—मिथ्याभावका फल संसारमें भ्रमण करना ही है, यह संसार जन्म जरा मरण आदि हजारों दुःखोंसे भरा है, इन दुःखोंको मिथ्यादृष्टि इस संसारमें भ्रमण करता हुआ भोगता है। यहाँ दुःख तो अनन्त हैं हजारों कहनेसे प्रसिद्ध अपेक्षा बहुलता बताई है ।।९५।।

आगे सम्यक्त्व मिथ्यात्व भावके कथनका संकोच करते हैं:—

सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु ।
जं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविएणं तु ।।९६।।

कुदृष्टि जे, ते सुखविहीन परिभ्रमे संसारमां।
जर–जन्म–मरणप्रचुरता, दुखगणसहस्र भर्या जिहां ।।९५।।

'सम्यक्त्व गुण, मिथ्यात्व दोष' तुं एम मन सुविचारीने।
कर ते तने जे मन रुचे; बहु कथन शुं करवुं करे? ।।९६।।

सम्यक्त्वे गुण मिथ्यात्वे दोषः मनसा परिभाव्य तत् कुरु ।
यत् ते मनसे रोचते किं बहुना प्रलपितेन तु ॥९६॥

अर्थः—हे भव्य ! ऐसे पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्वके गुण और मिथ्यात्वके दोषोंकी अपने मनसे भावना कर और जो अपने मनको रुचे प्रिय लगे वह कर, बहुत प्रलापरूप कहनेसे क्या साध्य है ? इस प्रकार आचार्यने उपदेश दिया है ।

भावार्थः—इस प्रकार आचार्यने कहा है कि—बहुत कहनेसे क्या ? सम्यक्त्व मिथ्यात्वके गुण दोष पूर्वोक्त जानकर जो मनमें रुचे, वह करो । यहाँ उपदेशका आशय ऐसा है कि—मिथ्यात्वको छोड़ो सम्यक्त्वको ग्रहण करो इससे संसारका दुःख मेटकर मोक्ष पाओ ॥९६॥

आगे कहते हैं कि यदि मिथ्यात्व भाव नहीं छोड़ा तब बाह्य भेषसे कुछ लाभ नहीं हैः—

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो ।
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि [1]अप्पसमभावं ॥९७॥

बहिः संगविमुक्तः नापि मुक्तः मिथ्याभावेन निर्ग्रंथः ।
किं तस्य स्थानमौनं न अपि जानाति [2]आत्मसमभावं ॥९७॥

अर्थः—जो बाह्य परिग्रह रहित और मिथ्याभावसहित निर्ग्रंथ भेष धारण किया है वह परिग्रह रहित नहीं है उसके ठाण अर्थात् खड़े होकर कायोत्सर्ग करनेसे क्या साध्य है ? और मौन धारण करनेसे क्या साध्य है ? क्योंकि आत्माका समभाव जो वीतराग परिणाम उसको नहीं जानता है ।

भावार्थः—आत्माके शुद्ध स्वभावको जानकर सम्यग्दृष्टि होता है । और जो मिथ्याभावसहित परिग्रह छोड़कर निर्ग्रंथ भी हो गया है, कायोत्सर्ग करना, मौन धारण

---

१. पाठान्तरः—अप्पसब्भावं ।
२. पाठान्तरः—आत्मस्वभावं ।

निर्ग्रंथ, बाह्य असंग, पण नहि त्यक्त मिथ्याभाव ज्यां ।
जाणे न ते समभाव निज; शुं स्थान-मौन करे तिहां ? ॥९७॥

करना इत्यादि बाह्य क्रियायें करता है तो उनकी क्रिया मोक्षमार्गमें सराहने योग्य नहीं है क्योंकि सम्यक्त्वके बिना बाह्य क्रियाका फल संसार ही है ।।९७।।

आगे आशंका उत्पन्न होती है कि सम्यक्त्व बिना बाह्यलिंग निष्फल कहा, जो बाह्यलिंग मूलगुण बिगाड़े उसके सम्यक्त्व रहता या नहीं? इसका समाधान कहते हैं:—

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो णियद ।।९८।।

मूलगुणं छित्वा च बाह्यकर्म करोति यः साधुः ।
सः न लभते सिद्धिसुखं जिणलिंगविराधकः नियतं ।।९८।।

अर्थः—जो मुनि निर्ग्रंथ होकर मूलगुण धारण करता है उनका छेदनकर, बिगाड़कर केवल बाह्य क्रिया कर्म करता है वह सिद्धि अर्थात् मोक्षके सुखको प्राप्त नहीं कर सकता है क्योंकि ऐसा मुनि निश्चय से जिनलिंगका विराधक है।

भावार्थः—जिन आज्ञा ऐसी है कि—सम्यक्त्वसहित मूलगुण धारणकर अन्य जो साधु क्रिया हैं उनको करते हैं। मूलगुण अट्ठाईस कहे हैं—पांच महाव्रत ५, पांच समिति ५, इन्द्रियोंका निरोध ५, छह आवश्यक ६, भूमिशयन १, स्नानका त्याग १, वस्त्रका त्याग १, केशलोच १, एकबार भोजन १, खड़ा भोजन १, दंतधावनका त्याग १ इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुण हैं, इनकी विराधना करके कायोत्सर्ग मौन तप ध्यान अध्ययन करता है तो इन क्रियाओंसे मुक्ति नहीं होती है। जो इस प्रकार श्रद्धान करे कि—हमारे सम्यक्त्व तो है ही, बाह्य मूलगुण बिगड़े तो बिगड़ो, हम मोक्षमार्गी ही हैं—तो ऐसी श्रद्धासे तो जिन आज्ञा भंग करनेसे सम्यक्त्वका भी भंग होता है तब मोक्ष कैसे हो; और [तीव्र कषायवान हो जाय तो] कर्मके प्रबल उदयसे चारित्र भ्रष्ट हो। और यदि जिन आज्ञाके अनुसार श्रद्धान रहे तो सम्यक्त्व रहता है किन्तु मूलगुण बिना केवल सम्यक्त्वहीसे मुक्ति नहीं है और सम्यक्त्व बिना केवल क्रियाहीसे मुक्ति नहीं है, ऐसे जानना।

जे मूलगुणने छेदीने मुनि बाह्यकर्मो आचरे।
पामे न शिवसुख निश्चये जिनकथित-लिंग-विराधने ।।९८।।

प्रश्नः—मुनिके स्नानका त्याग कहा और हम ऐसे भी सुनते हैं कि यदि चांडाल आदिका स्पर्श हो जावे तो दंडस्नान करते हैं।

समाधानः—जैसे गृहस्थ स्नान करता है वैसे स्नान करनेका त्याग है क्योंकि इसमें हिंसाकी अधिकता है, मुनिके स्नान ऐसा है कि—कमंडलुमें प्रासुक जल रहता है उससे मंत्र पढ़कर मस्तकपर धारामात्र देते हैं और उस दिन उपवास करते हैं तो ऐसा स्नान तो नाममात्र स्नान है, यहाँ मंत्र और तपस्नान प्रधान है, जलस्नान प्रधान नहीं है, इस प्रकार जानना ॥९८॥

आगे कहते हैं कि जो आत्मस्वभावसे विपरीत बाह्य क्रियाकर्म है वह क्या करे ? मोक्षमार्गमें तो कुछ भी कार्य नहीं करते हैं:—

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥९९॥

किं करिष्यति बहिः कर्म किं करिष्यति बहुविधं च क्षमणं तु।
किं करिष्यति आतापः आत्मस्वभावात् विपरीतः ॥९९॥

अर्थः—आत्मस्वभावसे विपरीत, प्रतिकूल बाह्यकर्म जो क्रियाकांड वह क्या करेगा ? कुछ मोक्षका कार्य तो किंचिन्मात्र भी नहीं करेगा, बहुत अनेक प्रकार क्षमण अर्थात् उपवासादि बाह्य तप भी क्या करेगा ? कुछ भी नहीं करेगा, आतापनयोग आदि कायक्लेश क्या करेगा ? कुछ भी नहीं करेगा।

भावार्थः—**बाह्य क्रियाकर्म शरीराश्रित है और शरीर जड़ है आत्मा चेतन है, जड़की क्रिया तो चेतनको कुछ फल करती नहीं है,** जैसा चेतनाका भाव जितना क्रियामें मिलता है उसका फल चेतनको लगता है। चेतनका अशुभ उपयोग मिले तब अशुभकर्म बँधे और शुभ उपयोग मिले तब कर्म नहीं बँधता है और जब शुभ अशुभ दोनोंसे रहित उपयोग होता है तब कर्म नहीं बँधता है, पहिले बँध हुए कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्ष करता है। इस प्रकार चेतना उपयोगके अनुसार फलती है, इसलिये ऐसे कहा है कि **बाह्य क्रिया-**

बहिरंग कर्मो शुं करे ? उपवास बहुविध शुं करे ?।
रे ! शुं करे आतापना ?-आत्मस्वभावविरुद्ध जे ॥९९॥

कर्मसे तो कुछ मोक्ष होती नहीं है, शुद्ध उपयोग होने पर मोक्ष होता है। इसलिये दर्शन ज्ञान उपयोगोंका विकार मेटकर शुद्ध ज्ञान चेतनाका अभ्यास करना मोक्षका उपाय है ॥९९॥

आगे इसी अर्थको फिर विशेषरूपसे कहते हैं:—

जदि पढदि बहु सुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं च चारित्तं।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥१००॥

यदि पठति बहुश्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविध च चारित्रं।
तत् बालश्रुतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम् ॥१००॥

अर्थः—जो आत्मस्वभावसे विपरीत बाह्य बहुत शास्त्रोंको पढ़ेगा और बहुत प्रकारके चारित्रका आचरण करेगा तो वह सब ही बालश्रुत और बालचारित्र होगा। आत्मस्वभावसे विपरीत शास्त्रका पढ़ना और चारित्रका आचरण करना ये सब ही बालश्रुत व बालचारित्र हैं अज्ञानीकी क्रिया है, क्योंकि ग्यारह अंग और नव पूर्व तक तो अभव्यजीव भी पढ़ता है, और बाह्य मूलगुणरूप चारित्र भी पालता है तो भी मोक्षके योग्य नहीं है, इस प्रकार जानना चाहिये ॥१००॥

आगे कहते हैं कि ऐसा साधु मोक्ष पाता है:—

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥
गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥१०२॥

वैराग्यपरः साधुः परद्रव्यपराङ्मुखश्च यः भवति।
संसारसुखविरक्तः स्वकशुद्धसुखेषु अनुरक्तः ॥१०१॥

पुष्कल भणे श्रुतने भले, चारित्र बहुविध आचरे।
छे बालश्रुत ने बालचारित, आत्मथी विपरीत जे ॥१००॥
छे साधु जे वैराग्यपर ने विमुख परद्रव्यो विषे।
भवसुखविरक्त, स्वकीय शुद्ध सुखो विषे अनुरक्त जे ॥१०१॥
आदेयहेय–सुनिश्चयी, गुणगणविभूषित–अंग जे।
ध्यानाध्ययनरत जेह, ते मुनि स्थान उत्तमने लहे ॥१०२॥

गुणगणविभूषितांगः हेयोपादेयनिश्चितः साधुः ।
ध्यानाध्ययने सुरतः सः प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ।।१०२।।

अर्थः—ऐसा साधु उत्तम स्थान जो मोक्ष उसकी प्राप्ति करता है अर्थात् जो साधु वैराग्यमें तत्पर हो संसार–देह–भोगोंसे पहिले विरक्त होकर मुनि हुआ उसी भावनायुक्त हो, परद्रव्यसे पराङ्मुख हो, जैसे वैराग्य हुआ वैसे ही परद्रव्यका त्यागकर उससे पराङ्मुख रहे, संसार संबंधी इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंसे सुखसा होता है उससे विरक्त हो, अपने आत्मोक शुद्ध अर्थात् कषायोंके क्षोभसे रहित निराकुल, शांतभावरूप ज्ञानानन्दमें अनुरक्त हो, लीन हो, वारंबार उसीकी भावना रहे।

जिसका आत्मप्रदेशरूप अंग गुणके गणसे विभूषित हो, जो मूलगुण उत्तर-गुणोंसे आत्माको अलंकृत–शोभायमान किये हो, जिसके हेय उपादेय तत्त्वका निश्चय हो, निज आत्मद्रव्य तो उपादेय है और ऐसा जिसके निश्चय हो कि–अन्य परद्रव्यके निमित्तसे हुए अपने विकारभाव ये सब हेय हैं। साधु होकर आत्माके स्वभावके साधनेमें भलीभाँति तत्पर हो, धर्म–शुक्लध्यान और अध्यात्मशास्त्रोंको पढ़कर ज्ञानकी भावनामें तत्पर हो, सुरत हो, भले प्रकार लीन हो। ऐसा साधु उत्तमस्थान जो लोक-शिखर पर सिद्धक्षेत्र तथा मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानोंसे परे शुद्धस्वभावरूप मोक्षस्थानको पाता है।

भावार्थः—मोक्षके साधनेके ये उपाय हैं अन्य कुछ नहीं है ।।१०१–१०२।।

आगे आचार्य कहते हैं कि–सर्वसे उत्तम पदार्थ शुद्ध आत्मा है वह इस देहमें ही रह रहा है उसको जानोः—

णविएहिं ज णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं ।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥१०३॥

नतैः यत् नम्यते ध्यायते ध्यातैः अनवरतम् ।
स्तूयमानैः स्तूयते देहस्थं किमपि तत् जानीत ।।१०३।।

प्रणमे प्रणत जन, ध्यात जन ध्यावे निरंतर जेहने ।
तुं जाण तत्त्व तनस्थ ते, जे स्तवनप्राप्त जनो स्तवे ।।१०३।।

अर्थः—हे भव्यजीवो ! तुम इस देहमें स्थित ऐसा कुछ क्यों है, क्या है उसे जानो, वह लोकमें नमस्कार करने योग्य इन्द्रादि है, उनसे तो नमस्कार करने योग्य, ध्यान करने योग्य है और स्तुति करने योग्य जो तीर्थंकरादि है उनसे भी स्तुति करने योग्य है, ऐसा कुछ है वह इस देह ही में स्थित है उसको यथार्थ जानो।

भावार्थः—शुद्ध परमात्मा है वह यद्यपि कर्मसे आच्छादित है तो भी भेदज्ञानी इस देहहीमें स्थितका ही ध्यान करके तीर्थंकरादि भी मोक्ष प्राप्त करते हैं, इसलिये ऐसा कहा है कि—लोकमें नमने योग्य तो इंद्रादिक हैं और ध्यान करने योग्य तीर्थंकरादिक हैं तथा स्तुति करने योग्य तीर्थंकरादिक हैं वे भी जिसको नमस्कार करते हैं, जिसका ध्यान करते हैं, स्तुति करते हैं ऐसा कुछ वचनके अगोचर भेदज्ञानियोंके अनुभवगोचर परमात्मा वस्तु है, उसका स्वरूप जानो, उसको नमस्कार करो, उसका ध्यान करो, बाहर किसलिये ढूंढ़ते हो, इस प्रकार उपदेश है ।।१०३।।

आगे आचार्य कहते हैं कि जो अरहंतादिक पंच परमेष्ठी हैं वे भी आत्मामें ही हैं इसलिये आत्मा ही शरण है:—

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ।।१०४।।

अर्हन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्यायाः साधवः पंच परमेष्ठिनः ।
ते अपि स्फुटं तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा स्फुटं मे शरणं ।।१०४।।

अर्थः—अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये पंचपरमेष्ठी हैं ये भी आत्मामें ही चेष्टारूप हैं, आत्माकी अवस्था हैं इसलिये मेरे आत्मा ही का शरण है, इस प्रकार आचार्य ने अभेदनय प्रधान करके कहा है।

भावार्थः—ये पाँच पद आत्माहीके हैं, जब यह आत्मा घातिकर्मका नाश करता है तब अरहंतपद होता है, वही आत्मा अघाति कर्मोंका नाशकर निर्वाणको प्राप्त होता है तब सिद्धपद कहलाता है, जब शिक्षा दीक्षा देनेवाला मुनि होता है तब आचार्य

अर्हंत-सिद्धाचार्य-अध्यापक-श्रमण—परमेष्ठी जे ।
पांचेय छे आत्मा महीं; आत्मा शरण मारुं खरे ।।१०४।।

कहलाता है, पठनपाठनमें तत्पर मुनि होता है तब उपाध्याय कहलाता है और जब रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गको केवल साधता है तब साधु कहलाता है, इस प्रकार पांचों पद आत्माहीमें है। सो आचार्य विचार करते हैं कि जो इस देहमें आत्मा स्थित है सो यद्यपि (स्वयं) कर्म आच्छादित है तो भी पांचों पदोंके योग्य है, इसीके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करना पाँचों पदोंका ध्यान है इसलिए मेरे इस आत्माहीका शरण है ऐसी भावना की है और पंचपरमेष्ठीका ध्यानरूप अंतमंगल बताया है ॥१०४॥

आगे कहते हैं कि जो अंतसमाधिमरणमें चार आराधनाका आराधन कहा है यह भी आत्माहीकी चेष्टा है इसलिये आत्माहीका मेरे शरण है:—

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०५॥

सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सच्चारित्रं हि सत्तपः चैव।
चत्वारः तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा स्फुटं मे शरणं ॥१०५॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चार आराधना हैं ये भी आत्मामें ही चेष्टारूप हैं, ये चारों आत्माहीकी अवस्था हैं, इसलिये आचार्य कहते हैं कि मेरे आत्माहीका शरण है ॥१०५॥ (भगवती आराधना गाथा नं० २)

भावार्थ—आत्माका निश्चय-व्यवहारात्मक तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप परिणाम सम्यग्दर्शन है, संशय विमोह विभ्रमसे रहित और निश्चयव्यवहारसे निजस्वरूपका यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञानसे तत्त्वार्थोंको जानकर रागद्वेषादिक रहित परिणाम होना सम्यक्चारित्र है, अपनी शक्ति अनुसार सम्यग्ज्ञानपूर्वक कष्टका आदर कर स्वरूपका साधना सम्यक्तप है, इस प्रकार ये चारों ही परिणाम आत्माके हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि मेरे आत्माहीका शरण है, इसीकी भावनामें चारों आ गये।

अंतसल्लेखनामें चार आराधनाका आराधन कहा है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चारोंका उद्योत, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण ऐसे पंचप्रकार

सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान, सत्चारित्र सत्तपचरण जे।
चारेय छे आत्मा महीं; आत्मा शरण मारुं खरे ॥१०५॥

आराधना कही है, वह आत्माको भानेमें (–आत्माकी भावना–एकाग्रता करनेमें) चारों आगये, ऐसे अंतसल्लेखनाकी भावना इसीमें आ गई ऐसे जानना तथा **आत्मा ही परम-मंगलरूप है** ऐसा भी बताया है ।।१०५।।

आगे यह मोक्षपाहुड ग्रंथ पूर्ण किया, इसके पढ़ने सुनने भानेका फल कहते हैं:—

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य [1]पाहुडं सुभत्तीए।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ।।१०६।।

एवं जिनप्रज्ञप्तं मोक्षस्य च प्राभृतं सुभक्त्या ।
यः पठति श्रृणोति भावयति सः प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यं ।।१०६।।

अर्थः—पूर्वोक्त प्रकार जिनदेवके कहे हुए मोक्षपाहुड ग्रंथको जो जीव भक्ति-भावसे पढ़ते हैं, इसकी बारंबार चिंतवनरूप भावना करते हैं तथा सुनते हैं वे जीव शाश्वत सुख, नित्य अतीन्द्रिय ज्ञानानंदमय सुखको पाते हैं ।

भावार्थः—मोक्षपाहुडमें मोक्ष और मोक्षके कारणका स्वरूप कहा है और जो मोक्षके कारणका स्वरूप अन्य प्रकार मानते हैं उनका निषेध किया है इसलिये इस ग्रंथके पढने, सुननेसे उसके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान श्रद्धान आचरण होता है उस ध्यानसे कर्मका नाश होता है और इसकी बारंबार भावना करनेसे उसमें दृढ़ होकर एकाग्रध्यानकी सामर्थ्य होती है, उस ध्यानसे कर्मका नाश होकर शाश्वत सुखरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है । इसलिये इस ग्रंथको पढ़ना सुनना निरन्तर भावना रखनी ऐसा आशय है ।।१०६।।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्द आचार्यने यह मोक्षपाहुड ग्रंथ संपूर्ण किया । इसका संक्षेप इस प्रकार है कि–यह जीव शुद्ध दर्शन–ज्ञानमयी चेतनास्वरूप है तो भी अनादि-हीसे पुद्गल कर्मके संयोगसे अज्ञान मिथ्यात्व रागद्वेषादिक विभावरूप परिणमता है इसलिये नवीन कर्मबंधके संतानसे संसारमें भ्रमण करता है । जीवकी प्रवृत्तिके सिद्धांतमें सामान्यरूपसे चौदह गुणस्थान निरूपण किये हैं–इनमें मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, मिथ्यात्वकी सहकारिणी अनंतानुबंधी कषाय है, केवल उसके उदयसे

१—'पाहुड'का पाठान्तर 'कारणं' है, सं० छायामें भी समझ लेना ।

आ जिननिरूपित मोक्षप्राभृत–शास्त्रने सद्‌भक्तिए ।
जे पठन–श्रवण करे अने भावे, लहे सुख नित्यने ।।१०६।।

सासादन गुणस्थान होता है और सम्यक्त्व मिथ्यात्व दोनोंके मिलापरूप मिश्रप्रकृतिके उदयसे मिश्रगुणस्थान होता है, इन तीन गुणस्थानोंमें तो आत्मभावनाका अभाव ही है।

जब *काललब्धिके निमित्तसे जीवाजीव पदार्थोंका ज्ञान श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है तब इस जीवको अपना और परका, हित–अहितका तथा हेयउपादेयका जानना होता है तब आत्माकी भावना होती है तब अविरतनाम चौथा गुणस्थान होता है। जब एकदेश परद्रव्यसे निवृत्तिका परिणाम होता है तब जो एकदेशचारित्ररूप पाँचवाँ गुणस्थान होता है उसको श्रावकपद कहते हैं। सर्वदेश परद्रव्यसे निवृत्तिरूप परिणाम हो तब सकलचारित्ररूप छट्ठा गुणस्थान होता है, इसमें कुछ संज्वलन चारित्र-मोहके तीव्र उदयसे स्वरूपके साधनेमें प्रमाद होता है इसलिये इसका नाम प्रमत्त है, यहाँ से लगाकर ऊपरके गुणस्थानवालों को साधु कहते हैं।

[*स्वसन्मुखतारूप निज परिणामकी प्राप्तिका नाम ही उपादानरूप निश्चय-काललब्धि है वह हो तो उस समय बाह्य द्रव्य–क्षेत्र–कालादि उचित सामग्री निमित्त है–उपचार कारण है अन्यथा उपचार भी नहीं]

जब संज्वलन चारित्रमोहका मंद उदय होता है तब प्रमादका अभाव होकर स्वरूपके साधनेमें बड़ा उद्यम होता है तब इसका नाम अप्रमत्त ऐसा सातवाँ गुणस्थान है, इसमें धर्मध्यानकी पूर्णता है। जब इस गुणस्थानमें स्वरूपमें लीन हो तब सातिशय अप्रमत्त होता है, श्रेणीका प्रारंभ करता है तब इससे ऊपर चारित्रमोहका अव्यक्त उदय-रूप अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय नाम धारक ये तीन गुणस्थान होते हैं। चौथेसे लगाकर दसवें सूक्ष्मसांपराय तक कर्मकी निर्जरा विशेषरूपसे गुणश्रेणीरूप होती है।

इससे ऊपर मोहकर्मके अभावरूप ग्यारहवाँ, बारहवाँ उपशांतकषाय क्षीण-कषाय गुणस्थान होते हैं। इसके पीछे शेष तीन घातिया कर्मोंका नाशकर अनंत चतुष्टय प्रगट होकर अरहंत होता है यह सयोगी जिन नाम गुणस्थान है, यहाँ योगकी प्रवृत्ति है। योगोंका निरोधकर अयोगी जिन नामका चौदहवाँ गुणस्थान होता है, यहाँ अघातिया कर्मोंका भी नाश करके लगता ही अनंतर समयमें निर्वाणपदको प्राप्त होता है, यहाँ संसारके अभावसे मोक्ष नाम पाता है।

इस प्रकार सब कर्मोंका अभावरूप मोक्ष होता है, इसके कारण सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र कहे इनकी प्रवृत्ति चौथे गुणस्थानसे सम्यक्त्व प्रगट होनेपर एकदेश होती है,

यहाँसे लगाकर आगे जैसे जैसे कर्मका अभाव होता है वैसे वैसे सम्यग्दर्शन आदिकी प्रवृत्ति बढ़ती जाती है और जैसे जैसे इनकी प्रवृत्ति बढ़ती है वैसे वैसे कर्मका अभाव होता जाता है, जब घाति कर्मका अभाव होता है तब तेरहवें गुणस्थानमें अरहंत होकर जीवनमुक्त कहलाते हैं और चौदहवें गुणस्थानके अंतमें रत्नत्रयकी पूर्णता होती है इसलिये अघाति कर्मका भी नाश हो कर अभाव होता है तब साक्षात् मोक्ष होकर सिद्ध कहलाते हैं।

इसप्रकार मोक्षका और मोक्षके कारणका स्वरूप जिन आगमसे जानकर और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र मोक्षके कारण कहे हैं इनको निश्चय व्यवहाररूप यथार्थ जानकर सेवन करना। तप भी मोक्षका कारण है उसे भी चारित्रमें अंतर्भूत कर त्रयात्मक ही कहा है। इस प्रकार इन कारणोंसे प्रथम तो तद्भव ही मोक्ष होता है। जबतक कारणकी पूर्णता नहीं होती है उससे पहिले कदाचित् आयुकर्मकी पूर्णता होजाय तो स्वर्गमें देव होता है, **वहाँ भी यह वांछा रहती है यह *शुभोपयोगका अपराध** है यहांसे चयकर मनुष्य होऊँगा तब सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्गका सेवनकर मोक्ष प्राप्त करूँगा, ऐसी भावना रहती है तब वहाँसे चयकर मोक्ष पाता है। [*पुरुषार्थ सिद्धि उपाय श्लोक नं० २२० "रत्नत्रयरूप धर्म है वह निर्वाणका ही कारण है और उस समय पुण्यका आस्रव होता है वह अपराध शुभोपयोगका है।"]

अभी इस पंचमकालमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्रीका निमित्त नहीं है इसलिये तद्भव मोक्ष नहीं है तो भी जो रत्नत्रयका शुद्धता पूर्वक पालन करे तो यहाँसे देव पर्याय पाकर पीछे मनुष्य होकर मोक्ष पाता है। इसलिये यह उपदेश है जैसे बने वैसे रत्नत्रयकी प्राप्तिका उपाय करना, **इसमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है इसका उपाय तो अवश्य चाहिये** इसलिये जिनागमको समझकर सम्यक्त्वका उपाय अवश्य करना योग्य है इसप्रकार इस ग्रंथका संक्षेप जानो।

छप्पय।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवकारण जानूं,
ते निश्चय व्यवहाररूप नीकैं लखि मानूं।
सेवो निशदिन भक्तिभाव धरि निजबल सारू,
जिन आज्ञा सिर धारि अन्यमत तजि अघकारू।।

इस मानुषभवकू पायकै अन्य चारित मति धरो।
भविजीवनिकूं उपदेश यह गहिकरि शिवपद संचरो ।।१।।

दोहा।

बंदूं मंगलरूप जे अर मंगलकरतार।
पंच परम गुरु पद कमल ग्रंथ अंत हितकार ।।२।।

यहाँ कोई पूछे कि–ग्रन्थोंमें जहाँ तहाँ, पंच णमोकारकी महिमा बहुत लिखी है, मंगलकार्यमें विघ्नको दूर करनेके लिये इसे ही प्रधान कहा है और इसमें पंच परमेष्ठीको नमस्कार है वह पंचपरमेष्ठीकी प्रधानता हुई, पंचपरमेष्ठीको परम गुरु कहे इसमें इसी मंत्रकी महिमा तथा मंगलरूपपना और इससे विघ्नका निवारण, पंच परमेष्ठीके प्रधानपना और गुरुपना तथा नमस्कार करने योग्यपना कैसे है ? वह कहो।

इसके समाधानरूप कुछ लिखते हैं:–प्रथम तो पंचणमोकार मंत्र है, इसके पैंतीस अक्षर हैं, ये मंत्रके बीजाक्षर हैं तथा इनका योग सब मंत्रोंसे प्रधान है, इन अक्षरोंका गुरु आम्नायसे शुद्ध उच्चारण हो तथा साधन यथार्थ हो तब ये अक्षर कार्यमें विघ्नके दूर करनेमें कारण हैं इसलिये मंगलरूप हैं। 'म' अर्थात् पापको गाले उसे मंगल कहते हैं तथा 'मंग' अर्थात् सुखको लावे, दे, उसको मंगल कहते हैं, इससे दोनों कार्य होते हैं। उच्चारणसे विघ्न टलते हैं, अर्थका विचार करने पर सुख होता है, इसीसे इसको मंत्रोंमें प्रधान कहा है, इस प्रकार तो मंत्रके आश्रय महिमा है।

पंचपरमेष्ठीको नमस्कार इसमें है–वे पंचपरमेष्ठी अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु ये हैं, इनका स्वरूप तो ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है, तो भी कुछ लिखते हैं:–यह अनादिनिधन अकृत्रिम सर्वज्ञकी परंपरा से सिद्ध आगममें कहा है ऐसा षट्द्रव्य-स्वरूप लोक है, इसमें जीवद्रव्य अनंतानंत हैं और पुद्गलद्रव्य इनसे अनंतानंत गुणे हैं, एक एक धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य हैं और कालद्रव्य असंख्यात द्रव्य है। जीव तो दर्शनज्ञानमयी चेतना स्वरूप है। अजीव पाँच हैं ये चेतनारहित जड़ हैं–धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो जैसे हैं वैसे ही रहते हैं इनके विकारपरिणति नहीं है, जीव–पुद्गलद्रव्यके परस्पर निमित्त–नैमित्तिकभावसे विभावपरिणति है इनमें भी पुद्गल तो जड़ है, इसके विभावपरिणतिका दुःख–सुखका संवेदन नहीं है और जीव चेतन है इसके सुख–दुःखका संवेदन है।

जीव अनन्तानंत हैं इनमें कई तो संसारी हैं, कई संसारसे निवृत्त होकर सिद्ध हो चुके हैं। संसारी जीवोंमें कई तो अभव्य हैं तथा अभव्यके समान हैं ये दोनों जातिके संसारसे निवृत्त कभी नहीं होते हैं इनके संसार अनादिनिधन है। कई भव्य हैं, ये संसारसे निवृत्त होकर सिद्ध होते हैं, इसप्रकार जीवोंकी व्यवस्था है। अब इनके संसारकी उत्पत्ति कैसे है वह कहते हैं:—

जीवोंके ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका अनादिबंधरूप पर्याय है, इस बंधके उदयके निमित्तसे जीव रागद्वेषमोहादि विभावपरिणतिरूप परिणमता है, इस विभाव-परिणतिके निमित्तसे नवीन कर्मबंध होता है इसप्रकार इनके संतानपरंपरासे जीवके चतुर्गतिरूप संसारकी प्रवृत्ति होती है, इस संसारमें चारों गतियोंमें अनेक प्रकार सुख-दुःखरूप हुआ भ्रमण करता है; तब कोई काल ऐसा आवे जब मुक्त होना निकट हो तब सर्वज्ञके उपदेशका निमित्त पाकर अपने स्वरूपको और कर्मबंधके स्वरूपको, अपने भीतरी विभावके स्वरूपको जाने इनका भेदज्ञान हो, तब परद्रव्यको संसारका निमित्त जानकर इससे विरक्त हो, अपने स्वरूपके अनुभवका साधन करे—दर्शन—ज्ञानरूप स्वभावमें स्थिर होनेका साधन करे तब इसके बाह्यसाधन हिंसादिक पंच पापोंका त्याग-रूप निर्ग्रंथ पद,—सब परिग्रहकी त्यागरूप निर्ग्रंथ दिगम्बर मुद्रा धारण करे पाँच महा-व्रत, पाँच समितिरूप, तीन गुप्तिरूप प्रवर्ते तब सब जीवों पर दया करनेवाला साधु कहलाता है।

इसमें तीन पद होते हैं—जो आप साधु होकर अन्यको साधुपदकी शिक्षादीक्षा दे वह आचार्य कहलाता है, साधु होकर जिनसूत्रको पढ़े पढ़ावे वह उपाध्याय कहलाता है जो अपने स्वरूपके साधनमें रहे वह साधु कहलाता है, जो साधु होकर अपने स्वरूपके साधनके ध्यानके बलसे चार घातिया कर्मोंका नाशकर केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यको प्राप्त हो वह अरहंत कहलाता है, तब तीर्थंकर तथा सामान्यकेवली—जिन इन्द्रादिकसे पूज्य होता है इनकी वाणी खिरती है जिससे सब जीवोंका उपकार होता है, अहिंसा धर्मका उपदेश होता है, सब जीवोंकी रक्षा कराते हैं यथार्थ पदार्थोंका स्वरूप बताकर मोक्षमार्ग दिखाते हैं इसप्रकार अरहंत पद होता है और जो चार अघातिया कर्मोंका भी नाशकर सब कर्मोंसे रहित हो जाते हैं वह सिद्ध कहलाते हैं।

इस प्रकार ये पाँच पद हैं, ये अन्य सब जीवोंसे महान हैं इसलिये पंच परमेष्ठी कहलाते हैं, इनके नाम तथा स्वरूपके दर्शन, स्मरण, ध्यान, पूजन, नमस्कारसे अन्य जीवोंके शुभपरिणाम होते हैं इसलिये पापका नाश होता है, वर्तमान विघ्नका विलय होता है आगामी पुण्यका बंध होता है इसलिए स्वर्गादिक शुभगति पाता है। इनकी आज्ञानुसार प्रवर्तनेसे परंपरासे संसारसे निवृत्ति भी होती है इसलिये ये पांच परमेष्ठो सब जीवोंके उपकारी परमगुरु हैं, सब संसारी जीवोंसे पूज्य हैं। इनके सिवाय अन्य संसारी जीव राग-द्वेष-मोहादि विकारों से मलिन हैं, ये पूज्य नहीं हैं, इनके महानपना, गुरुपना, पूज्यपना नहीं है, आपही कर्मोंके वश मलिन हैं तब अन्यका पाप इनसे कैसे कटे ?

इस प्रकार जिनमतमें इन पंच परमेष्ठीका महानपना प्रसिद्ध है और न्यायके बलसे भी ऐसे ही सिद्ध होता है क्योंकि जो संसारके भ्रमणसे रहित हो वे ही अन्यके संसारका भ्रमण मिटानेको कारण होते हैं। जैसे जिसके पास धनादि वस्तु हो वही अन्यको धनादिक दे और आप दरिद्री हो तब अन्यको दरिद्रता कैसे मेटे, इस प्रकार जानना। जिनको संसारके दुःख मेटने हों और संसारभ्रमणके दुःखरूप जन्म-मरणसे रहित होना हो वे अरहंतादिक पंच परमेष्ठीका नाम मंत्र जपो, इनके स्वरूपका दर्शन, स्मरण, ध्यान करो. इससे शुभ परिणाम होकर पापका नाश होता है, सब विघ्न टलते हैं, परंपरासे संसारका भ्रमण मिटता है, कर्मोंका नाश होकर मुक्तिकी प्राप्ति होती है, ऐसा जिनमतका उपदेश है अतः भव्य जीवोंके अंगीकार करने योग्य है।

यहाँ कोई कहे—अन्यमतमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिक इष्ट देव मानते हैं उनके भी विघ्न टलते देखे जाते हैं तथा उनके मतमें राजादि बड़े बड़े पुरुष देखे जाते हैं उनके भी वे इष्ट विघ्नादिकको मेटनेवाले हैं ऐसे ही तुम्हारे भी कहते हो, ऐसा क्यों कहते हो कि यह पंचपरमेष्ठी हीं प्रधान हैं अन्य नहीं हैं ? उसको कहते हैं, हे भाई ! जीवोंके दुःख तो संसारभ्रमणका है और संसारभ्रमणके कारण राग द्वेष मोहादिक परिणाम हैं तथा रागादिक वर्तमानमें आकुलतामयी दुःखस्वरूप हैं इसलिये ये ब्रह्मादिक इष्ट देव कहे ये तो रागादिक तथा काम क्रोधादि युक्त हैं, अज्ञानतपके फलसे कई जीव सब लोकमें चमत्कारसहित राजादिक बड़ा पद पाते हैं उनको लोग बड़ा मानकर ब्रह्मादिक भगवान कहने लग जाते हैं और कहते हैं कि यह परमेश्वर ब्रह्माका अवतार है तो ऐसे माननेसे तो कुछ मोक्षमार्गी तथा मोक्षरूप होता नहीं है, संसारी ही रहता है।

ऐसे ही अन्यदेव सब पदवाले जानने, वे आपही रागादिकसे दुःखरूप हैं, जन्म-मरण सहित हैं वे परका संसारका दुःख कैसे मेटेंगे ? उनके मतमें विघ्नका टलना और राजादिक बड़े पुरुष होते कहे जाते हैं वहाँ तो उन जीवोंके पहिले कुछ शुभ कर्म बँधे थे उनका फल है। पूर्वजन्ममें किंचित् शुभ परिणाम किया था इसलिये पुण्यकर्म बँधा था, उसके उदयसे कुछ विघ्न टलते हैं और राजादिक पद पाते हैं, वह तो पहिले कुछ अज्ञानतप किया है उसका फल है यह तो पुण्यपापरूप संसारकी चेष्टा है, इसमें कुछ बड़ाई नहीं है, बड़ाई तो वह है जिससे संसारका भ्रमण मिटे **सो यह तो वीतराग विज्ञान भावोंसे ही मिटेगा,** इस वीतराग विज्ञान भावयुक्त पंच परमेष्ठी हैं ये ही संसारभ्रमणका दुःख मिटानेमें कारण हैं।

वर्तमानमें कुछ पूर्व शुभकर्मके उदयसे पुण्यका चमत्कार देखकर तथा पापका दुःख देखकर भ्रममें नहीं पड़ना, **पुण्य पाप दोनों संसार हैं** इनसे रहित मोक्ष है, अतः संसारसे छूटकर मोक्ष हो ऐसा उपाय करना। वर्तमानका भी विघ्न जैसा पंचपरमेष्ठीके नाम, मंत्र ध्यान, दर्शन, स्मरण से मिटेगा वैसा अन्यके नामादिकसे तो नहीं मिटेगा क्योंकि ये पंचपरमेष्ठी ही शांतिरूप हैं केवल शुभ परिणामोंहीकं कारण हैं। अन्य इष्टके रूप तो रौद्ररूप हैं इनके दर्शन स्मरण तो रागादिक तथा भयादिकके कारण हैं, इनसे तो शुभ परिणाम होते दिखते नहीं हैं। किसीके कदाचित् कुछ धर्मानुरागके वशसे शुभ परिणाम हों तो वह उनसे हुआ नहीं कहलाता, उस प्राणीके स्वाभाविक धर्मानुरागके वशसे होता है। इसलिये अतिशयवान शुभ परिणामका कारण तो शांतिरूप पंच परमेष्ठीहीका रूप है अतः इसीका आराधन करना, वृथा खोटी युक्ति सुनकर भ्रममें नहीं पड़ना, ऐसे जानना।

इति श्री कुन्दकुन्दस्वामी विरचित मोक्षप्राभृतकी
जयपुरनिवासी पं० जयचन्द्रजी छाबड़ा कृत देशभाषामय वचनिका का
हिन्दी भाषानुवाद समाप्त ॥६॥

अथ लिंगपाहुड

— ७ —

*

अथ लिंगपाहुडकी वचनिकाका अनुवाद लिखते हैं :—

* दोहा *

जिनमुद्राधारक मुनी निजस्वरूपकूं ध्याय ।
कर्म नाशि शिवसुख लियो बंदूं तिनके पांय ।।१।।

इस प्रकार मंगलके लिये जिन मुनियोंने शिवसुख प्राप्त किया उनको नमस्कार करके श्रीकुन्दकुन्दआचार्यकृत प्राकृत गाथाबंध लिंगपाहुडनामक ग्रंथकी देशभाषामय वचनिकाका अनुवाद लिखा जाता है—प्रथम ही आचार्य मंगलके लिये इष्टको नमस्कार कर ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं:—

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ।।१।।

कृत्वा नमस्कारं अर्हतां तथैव सिद्धानाम् ।
वक्ष्यामि श्रमणलिंगं प्राभृतशास्त्रं समासेन ।।१।।

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि मैं अरहन्तोंको नमस्कार करके और वैसे ही सिद्धोंको नमस्कार करके तथा जिसमें श्रमणलिंगका निरूपण है इस प्रकार पाहुड-शास्त्रको कहूँगा ।

करीने नमन भगवंत श्री अर्हंतने, श्री सिद्धने ।
भाखीश हुं संक्षेपथी मुनिलिंगप्राभृतशास्त्रने ।।१।।

भावार्थः—इस कालमें मुनिका लिंग जैसा जिनदेवने कहा है उसमें विपर्यय हो गया, उसका निषेध करनेके लिए यह लिंगनिरूपण शास्त्र आचार्यने रचा है, इसकी आदिमें घातिकर्मका नाशकर अनंतचतुष्टय प्राप्त करके अरहंत हुए इन्होंने यथार्थरूपसे श्रमणका मार्ग प्रवर्ताया और उस लिंगको साधकर सिद्ध हुए, इसप्रकार अरहंत सिद्धोंको नमस्कार करके ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा की है ॥ १ ॥

आगे कहते हैं कि जो लिंग बाह्यभेष है वह अंतरंगधर्मसहित कार्यकारी हैः—

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥ २ ॥

धर्मेण भवति लिंगं न लिंगमात्रेण धर्मसंप्राप्तिः।
जानीहि भावधर्म किं ते लिंगेन कर्तव्यम् ॥ २ ॥

अर्थः—धर्म सहित तो लिंग होता है परन्तु लिंगमात्रहीसे धर्म की प्राप्ति नहीं है, इसलिये हे भव्यजीव! तू भावरूप धर्मको जान और केवल लिंगहीसे तेरा क्या कार्य होता है अर्थात् कुछ भी नहीं होता है।

भावार्थः—यहाँ ऐसा जानो कि—लिंग ऐसा चिह्नका नाम है वह बाह्य भेष धारण करना मुनिका चिह्न है ऐसा चिह्न यदि अंतरंग वीतराग स्वरूप धर्म हो तो उस सहित तो यह चिह्न सत्यार्थ होता है और इस वीतरागस्वरूप आत्माके धर्मके बिना लिंग जो बाह्य भेषमात्रसे धर्मकी संपत्ति–सम्यक् प्राप्ति नहीं है, इसलिये उपदेश दिया है कि अंतरंग भावधर्म रागद्वेष रहित आत्माका शुद्ध ज्ञान दर्शनरूप स्वभाव धर्म है उसे हे भव्य! तू जान, इस बाह्य लिंग भेषमात्रसे क्या काम है? कुछ भी नहीं। यहाँ ऐसा भी जानना कि **जिनमतमें लिंग तीन कहे हैं–एक तो मुनिका यथाजात दिगम्बर लिंग १, दूजा उत्कृष्ट श्रावकका २, तीजा आर्यिकाका ३,** इन तीनोंही लिंगोंको धारण कर भ्रष्ट हो जो कुक्रिया करते हैं इसका निषेध है। अन्यमतके कई भेष हैं इनको भी धारण करके जो कुक्रिया करते हैं वह भी निंदा ही पाते हैं, इसलिये भेष धारण करके कुक्रिया नहीं करना ऐसा बताया है ॥ २ ॥

होये धरमथी लिंग, धर्म न लिंगमात्रथी होय छे।
रे! भावधर्म तु जाण, तारे लिंगथी शुं कार्य छे? ॥ २ ॥

आगे कहते हैं कि जो जिनलिंग निर्ग्रंथ दिगम्बररूपको ग्रहणकर कुक्रिया करके हँसी कराते हैं वे जीव पापबुद्धि हैं:—

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसदि लिंगिभावं [1]लिंगिम्मिय णारदो लिंगी ॥३॥

यः पापमोहितमतिः लिंगं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम्।
उपहसति लिंगिभावं लिंगिषु नारदः लिंगी ॥३॥

अर्थ:—जो जिनवरेन्द्र अर्थात् तीर्थंकर देवके लिंग नग्न दिगम्बररूपको ग्रहण करके लिंगीपनेके भावको उपहसता है–हास्यमात्र समझता है वह लिंगी अर्थात् भेषी जिसकी बुद्धि पापसे मोहित है वह नारद जैसा है अथवा इस गाथाके चौथे पादका पाठान्तर ऐसा है—"लिंग णासेदि लिंगीणं" इसका अर्थ—यह लिंगी अन्य जो कई लिंगोंके धारक हैं उनके लिंगको भी नष्ट करता है, ऐसा बताता है कि लिंगी सब ऐसे ही हैं।

भावार्थः—लिंगधारी होकर भी पापबुद्धिसे कुछ कुक्रिया करे तब उसने लिंगीपनेको हास्यमात्र समझा, कुछ कार्यकारी नहीं समझा। लिंगीपना तो भावशुद्धिसे शोभा पाता है जब भाव बिगड़े तब बाह्य कुक्रिया करने लग गया तब इसने उस लिंगको लजाया और अन्य लिंगियोंके लिंगको भी कलंक लगाया, लोग कहने कि लिंगी ऐसे ही होते हैं अथवा जैसे नारदका भेष है उसमें वह अपनी इच्छानुसार स्वच्छंद प्रवर्तता है वैसे ही यह भी भेषी ठहरा इसलिये आचार्यने ऐसा आशय धारण करके कहा है कि जिनेन्द्रके भेषको लजाना योग्य नहीं है ॥३॥

आगे लिंग धारण करके कुक्रिया करे उसको प्रगट कहते हैं:—

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४॥

---

१ पाठान्तर—'लिंगिम्मिय णारदो लिंगी' के स्थान पर 'लिंगं णासेदि लिंगीण'।

जे पापमोहितबुद्धि. जिनवरलिंग धरी, लिंगित्वने।
उपहसित करतो, ते विघाते लिंगीओना लिंगने ॥३॥

जे लिंग धारी नृत्य, गायन, वाद्यवादनने करे।
ते पापमोहितबुद्धि छे तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे ॥४॥

नृत्यति गायति तावत् वाद्य वादयति लिंगरूपेण।
सः पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥४॥

अर्थः—जो लिंगरूप करके नृत्य करता है गाता है वादित्र बजाता है सो पापसे मोहित बुद्धिवाला है, तिर्यंचयोनि है पशु है, श्रमण नहीं है।

भावार्थः—लिंग धारण करके भाव बिगाड़कर नाचना, गाना, बजाना इत्यादि क्रियायें करता है वह पापबुद्धि है पशु है अज्ञानी है, मनुष्य नहीं है, मनुष्य हो तो श्रमणपना रक्खे। जैसे नारद भेषधारी नाचता है गाता है बजाता है वैसे यह भी भेषी हुआ तब उत्तम भेषको लजाया, इसलिये लिंग धारण करके ऐसा होना युक्त नहीं है ॥४॥

आगे फिर कहते हैं:—

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥५॥

समूहयति रक्षति च आर्त्त ध्यायति बहुप्रयत्नेन।
सः पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥५॥

अर्थः—जो निर्ग्रंथ लिंग धारण करके परिग्रहको संग्रहरूप करता है अथवा उसकी वांछा चिंतवन ममत्व करता है और उस परिग्रहकी रक्षा करता है उसका बहुत यत्न करता है, उसके लिये आर्त्तध्यान निरंतर ध्याता है, वह पापसे मोहित बुद्धिवाला है, तिर्यंचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण तो नहीं है श्रमणपनेको बिगाड़ता है, ऐसे जानना ॥५॥

आगे फिर कहते हैं:—

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।
[1]वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥६॥

---

१ – पाठान्तर 'वच्च' 'वज्ज'।

जे संग्रहे, रक्षे बहुश्रमपूर्व, ध्यावे आर्तने।
ते पापमोहितबुद्धि छे तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे ॥५॥

द्यूत जे रमे, बहुमान–गर्वित वाद–कलह सदा करे।
लिंगीरूपे करतो थको पापी नरकगामी बने ॥६॥

कलहं वादं द्यूतं नित्यं बहुमानगर्वितः लिंगी ।
व्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरूपेण ।।६।।

अर्थः—जो लिंगी बहुत मान कषायसे गर्वमान हुआ निरंतर कलह करता है, वाद करता है, द्यूतक्रीड़ा करता है वह पापी नरकको प्राप्त होता है और पापसे ऐसे ही करता रहता है।

भावार्थः—जो गृहस्थरूप करके ऐसी क्रिया करता है उसको तो यह उलाहना नहीं है क्योंकि कदाचित् गृहस्थ तो उपदेशादिकका निमित्त पाकर कुक्रिया करता रह जाय तो नरक न जावे परन्तु लिंग धारण करके उसरूपसे कुक्रिया करता है तो उसको उपदेश भी नहीं लगता है, इससे नरकका ही पात्र होता है ।।६।।

आगे फिर कहते हैंः—

पाओपहदंभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण ।
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकंतारे ।।७।।

पापोपहतभावः सेवते च अब्रह्म लिंगिरूपेण ।
सः पापमोहितमतिः हिंडते संसारकांतारे ।।७।।

अर्थ—पापसे उपहत अर्थात् घात किया गया है आत्मभाव जिसका ऐसा होता हुआ जो लिंगीका रूप करके अब्रह्मका सेवन करता है वह पापसे मोहित बुद्धिवाला लिंगी संसाररूपी कांतार—वनमें भ्रमण करता है।

भावार्थः—पहिले तो लिंग धारण किया और पीछे ऐसा पाप परिणाम हुआ कि व्यभिचार सेवन करने लगा, उसकी पाप बुद्धिका क्या कहना ? उसका संसारमें भ्रमण क्यों न हो ? जिसके अमृत भी जहररूप परिणमे उनके रोग जानेकी क्या आशा ? वैसे ही यह हुआ, ऐसे का संसार कटना कठिन है ।।७।।

आगे फिर कहते हैंः—

जे पाप-उपहतभाव सेवे लिंगमां अब्रह्मने।
ते पापमोहितबुद्धिने परिभ्रमण संसृतिकानने ।।७।।

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण।
अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदि ॥८॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि उपधानानि यदि न लिंगरूपेण।
आर्त्तं ध्यायति ध्यानं अनंतसंसारिकः भवति ॥८॥

अर्थः—यदि लिङ्गरूप करके दर्शन ज्ञान चारित्रको तो उपधानरूप नहीं किये (–धारण नहीं किये) और आर्त्तध्यानको ध्याता है तो ऐसा लिंगी अनन्तसंसारी होता है।

भावार्थः—लिंग धारण करके दर्शन ज्ञान चारित्रका सेवन करना था वह तो नहीं किया और परिग्रह कुटुम्ब आदि विषयोंका परिग्रह छोड़ा उसकी फिर चिंता करके आर्त्तध्यान ध्याने लगा तब अनंतसंसारी क्यों न हो? इसका यह तात्पर्य है कि–सम्यग्दर्शनादिरूप भाव तो पहिले हुए नहीं और कुछ कारण पाकर लिङ्ग धारण कर लिया, उसकी अवधि क्या? पहिले भाव शुद्ध करके लिङ्ग धारण करना युक्त है ॥८॥

आगे कहते हैं कि यदि भावशुद्धिके बिना गृहस्थपद छोड़े तो यह प्रवृत्ति होती है:—

जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥९॥

यः योजयति विवाहं कृषिकर्मवाणिज्यजीवघातं च।
व्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरूपेण ।९॥

अर्थः—जो गृहस्थोंके परस्पर विवाह जोड़ता है सम्बन्ध कराता है, कृषिकर्म–खेती वाहना किसानका कार्य, वाणिज्य व्यापार अर्थात् वैश्यका कार्य और जीवघात अर्थात् वैद्यकर्मके लिये जीवघात करना अथवा धीवरादिका कार्य इन कार्योंको करता है वह लिङ्गरूप धारण करके ऐसे पापकार्य करता हुआ पापी नरकको प्राप्त होता है।

ज्यां लिंगरूपे ज्ञानदर्शनचरणनुं धारण नहीं।
ने ध्यान ध्यावे आर्त, तेह अनंतसंसारी मुनि ॥८॥
जोडे विवाह, करे कृषि–व्यापार–जीवविघात जे।
लिंगीरूपे करतो थको पापी नरकगामी बने ॥९॥

भावार्थः—गृहस्थपद छोड़कर शुभभाव बिना लिंगी हुआ था, इसके भावकी वासना मिटी नहीं तब लिंगीका रूप धारण करके भी गृहस्थीके कार्य करने लगा, आप विवाह नहीं करता है तो भी गृहस्थोंके संबंध कराकर विवाह कराता है तथा खेती व्यापार जीवहिंसा आप करता है और गृहस्थोंको कराता है, तब पापी होकर नरक जाता है। ऐसे भेष धारनेसे तो गृहस्थ ही भला था, पदका पाप तो नहीं लगता, इसलिये ऐसे भेष धारण करना उचित नहीं है यह उपदेश है ॥ ९ ॥

आगे फिर कहते हैंः—

चोराण [1]लाउराण य जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं ।
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं ॥ १० ॥

चौराणां लापराणां च युद्धं विवादं च तीव्रकर्मभिः ।
यंत्रेण दीव्यमानः गच्छति लिंगी नरकवासं ॥ १० ॥

अर्थः—जो लिंगी ऐसे प्रवर्तता है वह नरकवासको प्राप्त होता है जो चौरोंके और लापर अर्थात् झूंठ बोलने वालोंके युद्ध और विवाद कराता है और तीव्रकर्म जिनमें बहुत पाप उत्पन्न हो ऐसे तीव्र कषायोंके कार्योंसे तथा यंत्र अर्थात् चौपड़, शतरंज, पासा, हिंदोला आदिसे क्रीड़ा करता रहता है, वह नरक जाता है। यहाँ 'लाउराणं' का पाठांतर ऐसा भी है राउलाणं इसका अर्थ—रावल अर्थात् राजकार्य करनेवालोंके युद्ध विवाद कराता है, ऐसे जानना।

भावार्थ—लिंग धारण करके ऐसे कार्य करे वह तो नरक ही पाता है इसमें संशय नहीं है ॥ १० ॥

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके लिंगयोग्य कार्य करता हुआ दुःखी रहता है, उन कार्योंका आदर नहीं करता है, वह भी नरकमें जाता हैः—

१—मुद्रित सटीक संस्कृत प्रति में 'समाएण' ऐसा पाठ है जिसकी छायामें 'मिथ्यात्वादिनां' इस प्रकार है।

चोरी-लबाडोने लडावे, तीव्र परिणामो करे।
चोपाट-आदिक जे रमे, लिंगी नरकगामी बने ॥ १० ॥

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि ।
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥११॥

दर्शनज्ञान चारित्रेषु तपः संयमनियमनित्यकर्मसु ।
पीडयते वर्त्तमानः प्राप्नोति लिंगी नरकवासम् ॥११॥

अर्थः—जो लिंग धारण करके इन क्रियाओंको करता हुआ बाध्यमान होकर पीड़ा पाता है, दुःखी होता है वह लिङ्गी नरकवासको पाता है। वे क्रियायें क्या हैं? प्रथम तो दर्शन ज्ञान चारित्रमें इनका निश्चय व्यवहाररूप धारण करना, तप–अनशनादिक बारह प्रकारके शक्तिके अनुसार करना, संयम–इन्द्रियोंको और मनको वशमें करना तथा जीवोंकी रक्षा करना, नियम अर्थात् नित्य कुछ त्याग करना और नित्यकर्म अर्थात् आवश्यक आदि क्रियाओंको नियत समय पर नित्य करना, ये लिङ्गके योग्य क्रियायें हैं इन क्रियाओंको करता हुआ दुःखी होता है वह नरक पाता है। ["आतम हित हेतु विराग–ज्ञान सो लखै आपको कष्टदान" मुनिपद = मोक्षमार्ग उसको तो वह कष्टदाता मानता है अतः वह मिथ्या रुचिवान है]

भावार्थः—लिङ्ग धारण करके ये कार्य करने थे, इनका तो निरादर करे और प्रमाद सेवे, लिङ्गके योग्य कार्य करता हुआ दुःखी हो तब जानो कि इसके भावशुद्धि–पूर्वक लिङ्गग्रहण नहीं हुआ और भाव बिगड़ने पर तो उसका फल नरक ही होता है, इस प्रकार जानना ॥११॥

आगे कहते हैं कि जो भोजनमें भी रसोंका लोलुपी होता है वह भी लिङ्गको लजाता है:—

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं ।
मायी लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१२॥

कंदर्पादिषु वर्त्तते कुर्वाणः भोजनेषु रसगृद्धिम् ।
मायावी लिंगव्यवायी तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥१२॥

दृगज्ञानचरणे, नित्यकर्मे, तपनियमसंयम विषे ।
जे वर्ततो पीडा करे, लिंगी नरकगामी बने ॥११॥
जे भोजने रसगृद्धि करतो वर्ततो कामादिके ।
मायावी लिंगविनाशी ते तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे ॥१२॥

अर्थः—जो लिङ्ग धारण करके भोजनमें भी रसकी गृद्धि अर्थात् अति आसक्तताको करता रहता है वह कंदर्प आदिकमें वर्तता है, उसके काम सेवनकी वांछा तथा प्रमाद निद्रादिक प्रचुर मात्रामें बढ़ जाते हैं तब 'लिंगव्यवायी' अर्थात् व्यभिचारी होता है, मायावी अर्थात् कामसेवनके लिये अनेक छल करना विचारता है, जो ऐसा होता है वह तिर्यंचयोनि है, पशुतुल्य है, मनुष्य नहीं है इसलिये श्रमण भी नहीं है।

भावार्थः—गृहस्थपद छोड़कर आहारमें लोलुपता करने लगा तो गृहस्थपदमें अनेक रसीले भोजन मिलते थे, उनको क्यों छोड़े? इसलिये ज्ञात होता है कि आत्म-भावनाके रसको पहिचाना ही नहीं है इसलिये विषयसुखकी ही चाह रही तब भोजनके रसकी साथके अन्य भी विषयोंकी चाह होती है तब व्यभिचार आदिमें प्रवर्त कर लिंगको लजाता है, ऐसे लिंगसे तो गृहस्थपद ही श्रेष्ठ है, ऐसे जानना ॥१२॥

आगे फिर इसीको विशेषरूपसे कहते हैं:—

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुञ्जदे पिंडं।
अवरपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥१३॥

धावति पिंडनिमित्तं कलहं कृत्वा भुंक्ते पिंडम्।
अपरप्ररूपी सन् जिनमार्गी न भवति सः श्रमणः ॥१३॥

अर्थ—जो लिंगधारी पिंड अर्थात् आहारके निमित्त दौड़ता है, आहारके निमित्त कलह करके आहारको भोगता है, खाता है, और उसके निमित्त अन्यसे परस्पर ईर्षा करता है वह श्रमण जिनमार्गी नहीं है।

भावार्थः—इस कालमें जिनलिंगसे भ्रष्ट होकर पहिले अर्द्धफालक हुए, पीछे उनमें श्वेताम्बरादिक संघ हुए, उन्होंने शिथिलाचार पुष्ट कर लिंगकी प्रवृत्ति बिगाड़ी, उनका यह निषेध है। इनमें अब भी कई ऐसे देखे जाते हैं जो—आहारके लिये शीघ्र दौड़ते हैं, ईर्यापथकी सुध नहीं है और आहार गृहस्थके घरसे लाकर दो चार शामिल बैठकर खाते हैं, इसमें बटवारेमें सरस, नीरस आवे तब परस्पर कलह करते हैं और उसके निमित्त परस्पर ईर्षा करते हैं, इसप्रकारकी प्रवृत्ति करें तब कैसे श्रमण हुए?

पिंडार्थ जे दोडे अने करी कलह भोजन जे करे।
ईर्षा करे जे अन्यनी, जिनमार्गनो नहि श्रमण ते ॥१३॥

वे जिनमार्गी तो हैं नहीं, कलिकालके भेषी हैं। इनको साधु मानते हैं वे भी अज्ञानी हैं ।।१३।।

आगे फिर कहते हैं:—

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ।।१४।।

गृह्णाति अदत्तदानं परनिंदामपि च परोक्षदूषणैः ।
जिनलिंगं धारयन् चौरेणेव भवति सः श्रमणः ।।१४।।

अर्थः—जो बिना दिया तो दान लेता है और परोक्ष परके दूषणोंसे परकी निंदा करता है वह जिनलिङ्गको धारण करता हुआ भी चौरके समान श्रमण है।

भावार्थः—जो जिनलिङ्ग धारण करके बिना दिये आहार आदिको ग्रहण करता है, परके देनेकी इच्छा नहीं है परन्तु कुछ भयादिक उत्पन्न करके लेना तथा निरादरसे लेना, छिपकर कार्य करना ये तो चौरके कार्य हैं। यह भेष धारण करके ऐसे करने लगा तब चौर ही ठहरा इसलिये ऐसा भेषी होना योग्य नहीं है ।।१४।।

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके ऐसे प्रवर्तते हैं वे श्रमण नहीं हैं:—

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण।
इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ।।१५।।

उत्पतति पतति धावति पृथिवीं खनति लिंगरूपेण ।
ईर्यापथं धारयन् तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ।।१५।।

अर्थः—जो लिंग धारण करके ईर्यापथ सोधकर चलना था उसमें सोधकर नहीं चले, दौड़ता चलता हुआ उछले, गिर पड़े, फिर उठकर दौड़े और पृथ्वीको खोदे, चलते हुए ऐसे पैर पटके जो उससे पृथ्वी खुद जाय इस प्रकारसे चले सो तिर्यंचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, मनुष्य नहीं है। १५।।

अणदत्तनु ज्यां ग्रहण, जे असमक्ष परनिंदा करे।
जिनलिंगधारक हो छतां ते श्रमण चोर समान छे ।।१४।।
लिंगात्म ईर्यासमितिनो धारक छतां कूदे, पडे।
दोडे, उखडे भोंय, ते तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे ।।१५।।

आगे कहते हैं कि जो वनस्पति आदि स्थावरजीवोंकी हिंसासे कर्मबंध होता है उसको न गिनता स्वच्छंद होकर प्रवर्तता है, वह श्रमण नहीं है:—

बंधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि।
छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१६॥

बंधं नीरजाः सन् सस्यं खंडयति तथा च वसुधामपि।
छिनत्ति तरुगणं बहुशः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥१६॥

अर्थः—जो लिङ्ग धारण करके वनस्पति आदिकी हिंसासे बंध होता है उसको दोष न मानकर बंधको नहीं गिनता हुआ सस्य अर्थात् अनाज को कूटता है और वैसे ही वसुधा अर्थात् पृथ्वीको खोदता है तथा बारबार तरुगण अर्थात् वृक्षोंके समूहको छेदता है, ऐसा लिंगी तिर्यचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

भावार्थः—वनस्पति आदि स्थावर जीव जिनसूत्रमें कहे हैं और इनकी हिंसासे कर्मबंध होना भी कहा है उसको निर्दोष समझता हुआ कहता है कि— इसमें क्या दोष है? क्या बंध है? इसप्रकार मानता हुआ तथा वैद्य कर्मादिकके निमित्त औषधादिकको, धान्यको पृथ्वीको तथा वृक्षोंको खंडता है, खोदता है, छेदता है वह अज्ञानी पशु है, लिङ्ग धारण करके श्रमण कहलाता है वह श्रमण नहीं है ॥१६॥

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके स्त्रियोंसे राग करता है और परको दूषण देता है वह श्रमण नहीं है:—

रागं करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१७॥

रागं करोति नित्यं महिलावर्गं परं च दूषयति।
दर्शनज्ञानविहीनः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥१७॥

जे अवगणीने बंध, खांडे धान्य, खोदे पृथ्वीने।
बहु वृक्ष छेदे जेह, ते तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे ॥१६॥

स्त्रीवर्ग पर नित राग करतो, दोष दे छे अन्यने।
दृगज्ञानथी जे शून्य, ते तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे ॥१७॥

अर्थः—जो लिंग धारण करके स्त्रियोंके समूहके प्रति तो निरंतर राग–प्रीति करता है और पर जो कोई अन्य निर्दोष हैं उनको दोष लगाता है वह दर्शनज्ञान रहित है, ऐसा लिङ्गी तिर्यंचयोनि है, पशु समान है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

भावार्थः—लिङ्ग धारण करनेवालेके सम्यग्दर्शन ज्ञान होता है और परद्रव्योंसे रागद्वेष नहीं करनेवाला चारित्र होता है। वहाँ जो स्त्रीसमूहसे तो राग–प्रीति करता है और अन्यके दोष लगाकर द्वेष करता है व्यभिचारीका सा स्वभाव है तो उसके कैसा दर्शन ज्ञान? और कैसा चारित्र? लिंग धारण करके लिंगके योग्य आचरण करना था वह नहीं किया तब अज्ञानी पशु समान ही है, श्रमण कहलाता है वह आप भी मिथ्यादृष्टि है और अन्यको भी मिथ्यादृष्टि करनेवाला है, ऐसेका प्रसंग भी युक्त नहीं है ॥१७॥

आगे फिर कहते हैंः—

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१८॥

प्रव्रज्याहीनगृहिणि स्नेहं शिष्ये वर्त्तते बहुशः।
आचारविनयहीनः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥१८॥

अर्थः—जिस लिंगी 'प्रव्रज्या हीन' अर्थात् दीक्षा रहित गृहस्थों पर और शिष्योंमें बहुत स्नेह रखता है और आचार अर्थात् मुनियोंकी क्रिया और गुरुओंके विनयसे रहित होता है वह तिर्यंचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।

भावार्थः—गृहस्थोंसे तो बारंबार लालपाल रक्खे और शिष्योंसे बहुत स्नेह रक्खे तथा मुनिकी प्रवृत्ति आवश्यक आदि कुछ करे नहीं, गुरुओंके प्रतिकूल रहे, विनयादिक करे नहीं ऐसा लिंगी पशु समान है, उसको साधु नहीं कहते हैं ॥१८॥

आगे कहते हैं कि जो लिंग धारण करके पूर्वोक्त प्रकार प्रवर्तता है वह श्रमण नहीं है, ऐसा संक्षेपसे कहते हैः—

दीक्षाविहीन–गृहस्थ ने शिष्ये धरे बहु स्नेह जे।
आचार–विनयविहीन, ते तिर्यंचयोनि, न श्रमण छे ॥१८॥

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं।
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥१९॥

एवं सहितः मुनिवर! संयतमध्ये वर्त्तते नित्यम्।
बहुलमपि जानन् भावविनष्टः न सः श्रमणः ॥१९॥

अर्थः—एव अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार प्रवृत्ति सहित जो वर्तता है वह हे मुनिवर! जो ऐसा लिंग धारी संयमी मुनियोंके मध्य भी निरन्तर रहता है और बहुत शास्त्रोंको भी जानता है तो भी भावोंसे नष्ट है, श्रमण नहीं है।

भावार्थ—ऐसा पूर्वोक्त प्रकारका लिंगी जो सदा मुनियोंमें रहता है और बहुत शास्त्रोंको जानता है तो भी भाव अर्थात् शुद्ध दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणामसे रहित है, इसलिये मुनि नहीं है, भ्रष्ट है, अन्य मुनियोंके भाव बिगाड़नेवाला है ॥१९॥

आगे फिर कहते हैं कि जो स्त्रियोंका संसर्ग बहुत रखता है वह भी श्रमण नहीं है:—

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वीसट्ठो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥२०॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि महिलावर्गे ददाति विश्वस्तः।
पार्श्वस्थादपि स्फुटं विनष्टः भावविनष्टः न सः श्रमणः ॥२०॥

अर्थः—जो लिंग धारण करके स्त्रियोंके समूहमें उनका विश्वास करके और उनको विश्वास उत्पन्न कराके दर्शन ज्ञान चारित्रको देता है उनको सम्यक्त्व बताता है, पढ़ना-पढ़ाना, ज्ञान देता है, दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है, इसप्रकार विश्वास उत्पन्न करके उनमें प्रवर्तता है वह ऐसा लिंगी तो पार्श्वस्थसे भी निकृष्ट है, प्रगट भावसे विनष्ट है, श्रमण नहीं है।

इम वर्तनारो संयतोनी मध्य नित्य रहे भले।
ने होय बहुश्रुत, तोय भावविनष्ट छे, नहि श्रमण छे ॥१९॥

स्त्रीवर्गमां विश्वस्त दे छे ज्ञान-दर्शन-चरण जे।
पार्श्वस्थथी पण हीन भावविनष्ट छे, नहि श्रमण छे ॥२०॥

भावार्थः—लिंग धारण करके स्त्रियोंको विश्वास उत्पन्न कराकर उनसे निरंतर पढ़ना, पढ़ाना, लालपाल रखना उसको जानो कि इसका भाव खोटा है। पार्श्वस्थ तो भ्रष्ट मुनिको कहते हैं उससे भी यह निकृष्ट है, ऐसेको साधु नहीं कहते हैं ॥२०॥

आगे फिर कहते हैंः—

पुंच्छलिघरि जो भुञ्जइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं।
पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो सवणो ॥२१॥

पुंश्चलीगृहे यः भुंक्ते नित्यं संस्तौति पुष्णाति पिंडं ।
प्राप्नोति बालस्वभावं भावविनष्टः न सः श्रमणः ॥२१॥

अर्थः—जो लिंगधारी पुंश्चली अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रीके घर पर भोजन लेता है, आहार करता है और नित्य उसकी स्तुति करता है कि—यह बड़ो धर्मात्मा है इसके साधुओं की बड़ी भक्ति है इस प्रकारसे नित्य उसकी प्रशंसा करता है इस प्रकार पिंडको (शरीरको) पालता है वह ऐसा लिंगी बालस्वभावको प्राप्त होता है, अज्ञानी है, भावसे विनष्ट है, वह श्रमण नहीं है।

भावार्थः—जो लिंग धारण करके व्यभिचारिणी का आहार खाकर पिंड पालता है, उसकी नित्य प्रशंसा करता है, तब जानो कि—यह भी व्यभिचारी है, अज्ञानी है, उसको लज्जा भी नहीं आती है, इस प्रकार वह भावसे विनष्ट है, मुनित्वके भाव नहीं हैं, तब मुनि कैसे ?

आगे इस लिंगपाहुडको सम्पूर्ण करते हैं और कहते हैं कि जो धर्मका यथार्थ-रूपसे पालन करता है वह उत्तम सुख पाता हैः—

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहिं देसियं धम्मं।
पालेइ कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥२२॥

इति लिंगप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं धर्मम् ।
पालयति कष्टसहितं सः गाहते उत्तमं स्थानम् ॥२२॥

असतीगृहे भोजन, करे स्तुति नित्य, पोषे पिंड जे।
अज्ञानभावे युक्त भावविनष्ट छे, नहि श्रमण छे ॥२१॥
ए रीत सर्वज्ञे कथित आ लिंगप्राभृत जाणीने।
जे धर्म पाले कष्ट सह, ते स्थान उत्तमने लहे ॥२२॥

अर्थः—इस प्रकार इस लिंगपाहुड शास्त्रका–सर्वबुद्ध जो ज्ञानी गणधरादि उन्होंने उपदेश दिया है उसको जानकर जो मुनि धर्मको कष्टसहित बड़े यत्नसे पालता है, रक्षा करता है वह उत्तमस्थान मोक्षको पाता है।

भावार्थः—यह मुनिका लिंग है वह बड़े पुण्यके उदयसे प्राप्त होता है उसे प्राप्त करके भी फिर खोटे कारण मिलाकर उसको बिगाड़ता है तो जानो कि यह बड़ा ही अभागा है—चिंतामणि रत्न पाकर कौड़ीके बदलेमें नष्ट करता है इसीलिये आचार्यने उपदेश दिया है कि ऐसा पद पाकर इसकी बड़े यत्नसे रक्षा करना,–कुसंगति करके बिगाड़ेगा तो जैसे पहिले संसार भ्रमण था वैसे ही फिर संसारमें अनन्तकाल भ्रमण होगा और यत्नपूर्वक मुनित्वका पालन करेगा तो शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करेगा, इसलिये जिसको मोक्ष चाहिये वह मुनिधर्मको प्राप्त करके यत्नसहित पालन करो, परीषहका, उपसर्गका उपद्रव आवे तो भी चलायमान मत होओ, यह श्री सर्वज्ञदेवका उपदेश है ॥२२॥

इस प्रकार यह लिंगपाहुड ग्रंथ पूर्ण किया। इसका संक्षेप इस प्रकार है कि इस पंचमकालमें जिनलिंग धारण करके फिर दुर्भिक्षके निमित्तसे भ्रष्ट हुए, भेष बिगाड़ दिया वे अर्द्धफालक कहलाये, इनमेंसे फिर श्वेताम्बर हुए, इनमेंसे भी यापनीय हुए, इत्यादि हो करके शिथिलाचारको पुष्ट करनेके शास्त्र रचकर स्वच्छंद हो गये, इनमेंसे कितने ही निपट–बिल्कुल निंद्य प्रवृत्ति करने लगे, इनका निषेध करनेके लिये तथा सबको सत्य उपदेश देनेके लिये यह ग्रंथ है इसको समझकर श्रद्धान करना। इस प्रकार निंद्य आचरणवालोंको साधु–मोक्षमार्गी न मानने, इनकी वंदना व पूजा न करना यह उपदेश है।

❀ छप्पय ❀

लिंग मुनीको धारि पाप जो भाव बिगाड़ै
वह निंदाकूं पाय आपको अहित विथारै।
ताकूं पूजै थुवै वंदना करै जु कोई
वे भी तैसे होइ साथि दुरगतिकूं लेई ॥
इससे जे सांचे मुनि भये भाव शुद्धिमैं थिर रहे।
तिनि उपदेश्या मारग लगे ते सांचे ज्ञानी कहे ॥१॥

*** दोहा ***

अंतर बाह्य जु शुद्ध जे जिनमुद्राकूं धारि ।
भये सिद्ध आनंदमय बंदूं जोग सँवारि ।।२।।

इति श्री कुन्दकुन्दाचार्यस्वामि विरचित श्री लिंगप्राभृत शास्त्रकी जयपुरनिवासी पं० जयचन्द्रजी छाबड़ाकृत देशभाषामयवचनिकाका हिन्दी भाषानुवाद समाप्त ।।७।।

अथ शीलपाहुड

— ८ —

अव शीलपाहुड ग्रंथकी देशभाषामयवचनिकाका हिन्दी भाषानुवाद लिखते हैं—

* दोहा *

भवकी प्रकृति निवारिकैं, प्रगट किये निजभाव।
है अरहंत जु सिद्ध फुनि, बंदूं तिनि धरि चाव ॥१॥

इस प्रकार इष्टके नमस्काररूप मंगल करके शीलपाहुडनाम ग्रंथ श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कृत प्राकृत गाथाबंधकी देशभाषामय वचनिकाका हिन्दी भाषानुवाद लिखते हैं। प्रथम श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ग्रंथकी आदिमें इष्टको नमस्काररूप मंगल करके ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं:—

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह ॥१॥

वीरं विशालनयनं रक्तोत्पलकोमलसमपादम्।
त्रिविधेन प्रणम्य शीलगुणान् निशाम्यामि ॥१॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि मैं वीर अर्थात् अंतिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमानस्वामी परम भट्टारकको मन वचन कायसे नमस्कार करके शील अर्थात् निजभावरूप प्रकृति उसके गुणोंको अथवा शील और सम्यग्दर्शनादिक गुणोंको कहूँगा, कैसे हैं श्री वर्द्धमान

विस्तीर्णलोचन, रक्तकजकोमल-सुपद श्री वीरने।
त्रिविधे करीने वंदना, हुं वर्णवुं शीलगुणने ॥१॥

स्वामी—विशालनयन हैं, उनके बाह्यमें तो पदार्थोंको देखनेको नेत्र विशाल हैं, विस्तीर्ण हैं, सुन्दर हैं और अंतरंगमें केवलदर्शन केवलज्ञानरूप नेत्र समस्त पदार्थोंको देखनेवाले हैं और वे कैसे हैं—'रक्तोत्पलकोमलसमपादं' अर्थात् उनके चरण रक्त कमलके समान कोमल हैं, ऐसे अन्यके नहीं हैं, इसलिये सबसे प्रशंसा करनेके योग्य हैं पूजने योग्य हैं। इसका दूसरा अर्थ ऐसा भी होता है कि रक्त अर्थात् रागरूप आत्माका भाव, उत्पल अर्थात् दूर करनेमें कोमल अर्थात् कठोरतादि दोष रहित और सम अर्थात् राग द्वेष रहित, पाद अर्थात् जिनके वाणीके पद हैं, जिनके वचन कोमल हितमित मधुर राग द्वेषरहित प्रवर्तते हैं उनसे सबका कल्याण होता है।

भावार्थः—इसप्रकार वर्द्धमान स्वामीको नमस्काररूप मंगल करके आचार्यने शीलपाहुड ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा की है ॥१॥

आगे शीलका रूप तथा इससे (ज्ञान) गुण होता है वह कहते हैं:—

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्दिट्ठो।
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥२॥

शीलस्य च ज्ञानस्य च नास्ति विरोधो बुधैः निर्दिष्टः।
केवलं च शीलेन विना विषयाः ज्ञानं विनाशयंति ॥२॥

अर्थः—शीलके और ज्ञानके ज्ञानियोंने विरोध नहीं कहा है। ऐसा नहीं है कि जहाँ शील हो वहाँ ज्ञान न हो और ज्ञान हो वहाँ शील न हो। यहाँ णवरि अर्थात् विशेष है वह कहते हैं—शीलके बिना विषय अर्थात् इन्द्रियोंके विषय हैं वह ज्ञानको नष्ट करते हैं—ज्ञानको मिथ्यात्व रागद्वेषमय अज्ञानरूप करते हैं।

यहाँ ऐसा जानना कि—शील नाम स्वभावका—प्रकृतिका प्रसिद्ध है, आत्माका सामान्यरूपसे ज्ञान स्वभाव है। इस ज्ञानस्वभावमें अनादि कर्मसंयोगसे [=पर संग करनेकी प्रवृत्तिसे] मिथ्यात्व रागद्वेषरूप परिणाम होता है इसलिये यह ज्ञानकी प्रकृति कुशील नामको प्राप्त करती है इससे संसार बनता है, इसलिये इसको संसार प्रकृति

न विरोध भाख्यो ज्ञानीओए शीलने ने ज्ञानने।
विषयो करे छे नष्ट केवल शीलविरहित ज्ञानने ॥२॥

कहते हैं, इस प्रकृतिको अज्ञानरूप कहते हैं इस कुशील–प्रकृतिसे संसार पर्यायमें अपनत्व मानता है तथा परद्रव्योंमें इष्ट–अनिष्ट बुद्धि करता है।

यह प्रकृति पलटे तब मिथ्यात्वका अभाव कहा जाय, तब फिर न संसार पर्यायमें अपनत्व मानता है, न परद्रव्योंमें इष्ट–अनिष्ट बुद्धि होती है और (पद–अनुसार अर्थात्) इस भावकी पूर्णता न हो तब तक चारित्रमोहके उदयसे (–उदयमें युक्त होनेसे) कुछ राग द्वेष कषाय परिणाम उत्पन्न होते हैं उनको कर्मका उदय जाने, उन भावोंको त्यागने योग्य जाने, त्यागना चाहे ऐसी प्रकृति हो तब सम्यग्दर्शनरूप भाव कहते हैं इस सम्यग्दर्शन भावसे ज्ञान भी सम्यक् नाम पाता है और पदके अनुसार चारित्रकी प्रवृत्ति होती है जितने अंश रागद्वेष घटता है उतने अंश चारित्र कहते हैं ऐसी प्रकृतिको सुशील कहते हैं, इस प्रकार कुशील सुशील शब्दका सामान्य अर्थ है।

सामान्यरूपसे विचारे तो ज्ञान ही कुशील है और ज्ञान ही सुशील है इसलिये इस प्रकार कहा है कि ज्ञानके और शीलके विरोध नहीं है, जब संसार प्रकृति पलट कर मोक्ष सन्मुख प्रकृति हो तब सुशील कहते हैं, इसलिये ज्ञानमें और शीलमें विशेष नहीं कहा है यदि ज्ञानमें सुशील न आवे तो ज्ञानको इन्द्रियोंके विषय नष्ट करते हैं ज्ञानको अज्ञान करते हैं तब कुशील नाम पाता है।

यहाँ कोई पूछे—गाथामें ज्ञान अज्ञानका तथा सुशील कुशीलका नाम तो नहीं कहा, ज्ञान और शील ऐसा ही कहा है इसका समाधान—पहिले गाथामें ऐसी प्रतिज्ञा की है कि मैं शीलके गुणोंको कहूँगा अतः इस प्रकार जाना जाता है कि आचार्यके आशयमें सुशीलहीके कहनेका प्रयोजन है, सुशीलहीको शीलनामसे कहते हैं, शील बिना कुशील कहते हैं।

यहाँ गुणशब्द उपकारवाचक लेना तथा विशेषवाचक लेना, शीलसे उपकार होता है तथा शीलके विशेष गुण हैं वह कहेंगे। इस प्रकार ज्ञानमें जो शील न आवे तो कुशील होता है, इन्द्रियोंके विषयों से आसक्ति होती है तब वह ज्ञान नाम नहीं प्राप्त करता, इस प्रकार जानना चाहिये। व्यवहारमें शीलका अर्थ स्त्री संसर्ग वर्जन करनेका भी है, अतः विषय–सेवनका ही निषेध है। परद्रव्यमात्रका संसर्ग छोड़ना, आत्मामें लीन होना वह परमब्रह्मचर्य है। इस प्रकार ये शीलहीके नामान्तर जानना ॥२॥

आगे कहते हैं कि ज्ञान होने पर भी ज्ञानकी भावना करना और विषयोंसे विरक्त होना कठिन है (दुर्लभ है) :—

[1]दुक्खे णज्जदि णाणं णाणं णाऊण भावणा दुक्खं।
भावियमई व जीवो विसयेसु विरज्जए दुक्खं ॥ ३ ॥

[2]दुःखेनेयते ज्ञानं ज्ञानं ज्ञात्वा भावना दुःखम् ।
भावितमतिश्च जीवः विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥ ३ ॥

अर्थः—प्रथम तो ज्ञान ही दुःखसे प्राप्त होता है, कदाचित् ज्ञान भी प्राप्त करे तो उसको जानकर उसकी भावना करना, बारंबार अनुभव करना दुःखसे (—दृढ़तर सम्यक् पुरुषार्थसे) होता है और कदाचित् ज्ञानकी भावनासहित भी जीव हो जावे तो विषयोंको दुःखसे त्यागता है ।

भावार्थः—ज्ञानकी प्राप्ति करना, फिर उसकी भावना करना, फिर विषयोंका त्याग करना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं और विषयों का त्याग किये बिना प्रकृति पलटी नहीं जाती है इसलिये पहिले ऐसा कहा है कि विषय ज्ञानको बिगाड़ते हैं अतः विषयोंका त्यागना ही सुशील है ॥३॥

आगे कहते हैं कि यह जीव जब तक विषयोंमें प्रवर्तता है तब तक ज्ञानको नहीं जानता है और ज्ञानको जाने विना विषयोंसे विरक्त हो तो भी कर्मोंका क्षय नही करता है:—

तावण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो ।
विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं ॥ ४ ॥

तावत् न जानाति ज्ञानं विषयबलः यावत् वर्त्तते जीवः ।
विषये विरक्तमात्रः न क्षिपते पुरातनं कर्म ॥ ४ ॥

---

१ पाठान्तरः—दुःखे णज्जदि ।
२ पाठान्तरः—दुःखेन ज्ञायते ।

दुष्कर जणावुं ज्ञाननुं, पछी भावना दुष्कर अरे ।
वळी भावनायुत जीवने दुष्कर विषयवैराग्य छे ॥३॥

जाणे न आत्मा ज्ञानने, वर्ते विषयवश ज्यां लगी ।
नहि क्षपण पूरवकर्मनुं केवल विषयवैराग्यथी ॥४॥

अर्थः—जब तक यह जीव विषयबल अर्थात् विषयोंके वशीभूत रहता है तब तक ज्ञानको नहीं जानता है और ज्ञानको जाने बिना केवल विषयोंमें विरक्तमात्रहीसे पहिले बाँधे हुए कर्मोका क्षय नहीं करता है।

भावार्थः—जीवका उपयोग क्रमवर्ती है और स्वस्थ (–स्वच्छत्व) स्वभाव है अतः जैसे ज्ञेयको जानता है उस समय उससे तन्मय होकर वर्त्तता है, अतः जब तक विषयोंमें आसक्त होकर वर्त्तता है तबतक ज्ञानका अनुभव नहीं होता है, इष्ट-अनिष्ट भाव ही रहते हैं और ज्ञानका अनुभव हुए बिना कदाचित् विषयोंको त्यागे तो वर्तमान विषयोंको तो छोड़े परन्तु पूर्वकर्म बाँधे थे उनका तो–ज्ञानका अनुभव हुए बिना क्षय नहीं होता है, पूर्व कर्मके बंधका क्षय करनेमें [स्वसन्मुख] ज्ञानहीकी सामर्थ्य है इसलिए ज्ञानसहित होकर विषय त्यागना श्रेष्ठ है, विषयोंको त्यागकर ज्ञानकी भावना करना यही सुशील है ।।

आगे ज्ञानका, लिंगग्रहणका तथा तपका अनुक्रम कहते हैं:—

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्व ।।५।।

ज्ञानं चारित्रहीनं लिंगग्रहणं च दर्शनविहीनं ।
संयमहीनं च तपः यदि चरति निरर्थकं सर्वम् ।।५।।

अर्थः—ज्ञान यदि चारित्ररहित हो तो वह निरर्थक है और लिंगका ग्रहण यदि दर्शनरहित हो तो वह भी निरर्थक है तथा संयमरहित तप भी निरर्थक है इस प्रकार ये आचरण करे तो सब निरर्थक है।

भावार्थः—हेय उपादेयका ज्ञान तो हो और त्याग ग्रहण न करे तो ज्ञान निष्फल है, यथार्थ श्रद्धानके बिना भेष ले तो वह भी निष्फल है, (स्वात्मानुभूतिके बल द्वारा) इन्द्रियोंको वशमें करना, जीवोंकी दया करना यह संयम है इसके बिना कुछ तप करे तो अहिंसादिकका विपर्यय हो तब तप भी निष्फल हो, इस प्रकारसे इनका आचरण निष्फल होता है ।।५।।

आगे इसीलिये कहते हैं कि ऐसा करके थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है:—

जे ज्ञान चरणविहीन, धारण लिंगनुं दृगहीन जे।
तपचरण जे संयमसुविरहित, ते बधुं य निरर्थ छे ।।५।।

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं ।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥६॥

ज्ञान चारित्रसुद्धं लिंगग्रहणं च दर्शनविशुद्धम् ।
संयमसहितं च तपः स्तोकमपि महाफलं भवति ॥६॥

अर्थः—ज्ञान तो चारित्रसे शुद्ध और लिंगका ग्रहण दर्शनसे शुद्ध तथा संयम-सहित तप ऐसे थोड़ा भी आचरण करे तो महाफलरूप होता है ।

भावार्थः—ज्ञान थोड़ा भी हो और आचरण शुद्ध करे तो बड़ा फल हो और यथार्थ श्रद्धापूर्वक भेष ले तो बड़ा फल करे जैसे सम्यग्दर्शनसहित श्रावक ही हो तो श्रेष्ठ और उसके बिना मुनिका भेष भी श्रेष्ठ नहीं है, इन्द्रियसंयम प्राणसंयम सहित उपवासादिक तप थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है और विषयाभिलाष तथा दया-रहित बड़े कष्ट सहित तप करे तो भी फल नहीं होता है, ऐसे जानना ॥६॥

आगे कहते हैं कि यदि कोई ज्ञानको जानकर भी विषयासक्त रहते हैं वे संसार ही में भ्रमण करते हैं:—

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता ।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥७॥

ज्ञानं ज्ञात्वा नराः केचित् विषयादिभावसंसक्ताः ।
हिंडंते चतुर्गतिं विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥७॥

अर्थः—कई मूढ़ मोही पुरुष ज्ञानको जानकर भी विषयरूप भावोंमें आसक्त होते हुए चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करते हैं क्योंकि विषयोंसे विमोहित होने पर ये फिर भी जगतमें प्राप्त होंगे इसमें भी विषय कषायोंका ही संस्कार है ।

भावार्थः—ज्ञान प्राप्त करके विषय कषाय छोड़ना अच्छा है, नहीं तो ज्ञान भी अज्ञानतुल्य ही है ॥७॥

जे ज्ञान चरणविशुद्ध, धारण लिंगनुं दृगशुद्ध जे ।
तप जे ससंयम, ते भले थोडुं, महाफलयुक्त छे ॥६॥
नर कोई, जाणी ज्ञानने, आसक्त रही विषयादिके ।
भटके चतुर्गतिमां अरे ! विषये विमोहित मूढ ए ॥७॥

आगे कहते हैं कि जब ज्ञान प्राप्त करके इस प्रकार करे तब संसार कटे:—

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा।
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥८॥

ये पुनः विषयविरक्ताः ज्ञानं ज्ञात्वा भावनासहिताः।
छिन्दन्ति चतुर्गतिं तपोगुणयुक्ताः न संदेहः ॥८॥

अर्थः—जो ज्ञानको जानकर और विषयोंसे विरक्त होकर उस ज्ञानकी बारबार अनुभवरूप भावना सहित होते हैं वे तप और गुण अर्थात् मूलगुण उत्तरगुणयुक्त होकर चतुर्गतिरूप संसारको छेदते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

भावार्थः—ज्ञान प्राप्त करके विषय कषाय छोड़कर ज्ञानकी भावना करे, मूलगुण उत्तरगुण ग्रहण करके तप करे वह संसारका अभाव करके मुक्तिरूप निर्मल-दशाको प्राप्त होता है–यह शीलसहित ज्ञानरूप मार्ग है ॥८॥

आगे इसप्रकार शीलसहित ज्ञानसे जीव शुद्ध होता है उसका दृष्टान्त कहते हैं:—

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण।
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण ॥९॥

यथा कांचनं विशुद्धं धमत् खटिकालवणलेपेन।
तथा जीवोऽपि विशुद्धः ज्ञानविसलिलेन विमलेन ॥९॥

अर्थः—जैसे कांचन अर्थात् सुवर्ण खडिय अर्थात् सुहागा (–खड़िया क्षार) और नमकके लेपसे विशुद्ध निर्मल कांतियुक्त होता है वैसे ही जीव भी विषय कषायोंके मलरहित निर्मल ज्ञानरूप जलसे प्रक्षालित होकर कर्मरहित विशुद्ध होता है।

भावार्थः—ज्ञान आत्माका प्रधान गुण है परन्तु मिथ्यात्व विषयोंसे मलिन है इसलिये मिथ्यात्व–विषयरूप मलको दूर करके इसकी भावना करे इसका एकाग्रतासे

पण विषयमांही विरक्त, जाणी ज्ञान, भावनयुक्त जे।
निःशंक ते तपगुणसहित छेदे चतुर्गतिभ्रमणने ॥८॥

धमतां लवण–खडीलेपपूर्वक कनक निर्मल थाय छे।
त्यम जीव पण सुविशुद्ध ज्ञानसलिलथी निर्मल बने ॥९॥

ध्यान करे तो कर्मोंका नाश करे, अनन्तचतुष्टय प्राप्त करके मुक्त हो शुद्धात्मा होता है. यहाँ सुवर्णका तो दृष्टांत है वह जानना ।।९।।

आगे कहते हैं कि जो ज्ञान पाकर विषयासक्त होता है वह ज्ञानका दोष नहीं है, कुपुरुषका दोष है:—

णाणस्स णत्थि दोसो कुप्पुरिसाणं वि मंदबुद्धीणं।
जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति ॥१०॥

ज्ञानस्य नास्ति दोषः कापुरुषस्यापि मंदबुद्धेः।
ये ज्ञानगर्विताः भूत्वा विषयेषु रज्जन्ति ।।१०।।

अर्थ:—जो पुरुष ज्ञानगर्वित होकर ज्ञानमदसे विषयोंमें रंजित होते हैं सो यह ज्ञानका दोष नहीं है वे मंदबुद्धि कुपुरुष हैं उनका दोष है।

भावार्थ:—कोई जाने कि ज्ञानसे बहुत पदार्थोंको जाने तब विषयोंमें रंजायमान होता है सो यह ज्ञानका दोष है, यहाँ आचार्य कहते हैं कि—ऐसे मत जानो—ज्ञान प्राप्त करके विषयोंमें रंजायमान होता है सो यह ज्ञानका दोष नहीं है—यह पुरुष मंदबुद्धि है और कुपुरुष है उसका दोष है, पुरुषका होनहार खोटा होता है तब बुद्धि बिगड़ जाती है फिर ज्ञानको प्राप्त कर उसके मदमें मस्त हो विषयकषायोंमें आसक्त हो जाता है तो यह दोष—अपराध पुरुषका है, ज्ञानका नहीं है। ज्ञानका कार्य तो वस्तुको जैसी हो वैसी बता देना ही है पीछे प्रवर्तना तो पुरुषका कार्य है, इस प्रकार जानना चाहिये ।।१०।।

आगे कहते हैं कि पुरुषको इस प्रकार निर्वाण होता है:—

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
होहदि परिणिव्वाणं जीवाण चरित्तसुद्धाणं ॥११॥

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन।
भविष्यति परिनिर्वाणं जीवानां चारित्रशुद्धानाम् ।।११।।

जे ज्ञानथी गर्वित बनी विषयो महीं राचे जनो।
ते ज्ञाननो नहि दोष, दोष कुपुरुष मंदमति तणो ।।१०।।

सम्यक्त्वसंयुत ज्ञान, दर्शन, तप अने चारित्रथी।
चारित्रशुद्ध जीवो करे उपलब्धि परिनिर्वाणनी ।।११।।

अर्थः—ज्ञान दर्शन तप इनका सम्यक्त्व भावसहित आचरण हो तब चारित्रसे शुद्ध जीवोंको निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

भावार्थः—सम्यक्त्व सहित ज्ञान दर्शन तपका आचरण करे तब चारित्र शुद्ध होकर राग-द्वेषभाव मिट जावे तब निर्वाण पाता है, यह मार्ग है ।।११।। [तप=शुद्धोपयोगरूप मुनिपना, यह हो तो २२ प्रकार व्यवहारके भेद हैं]

आगे इसीको शीलकी मुख्यता द्वारा नियमसे निर्वाण कहते हैंः—

सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं ।
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ।।१२।।

शीलं रक्षतां दर्शनशुद्धानां दृढचारित्राणाम् ।
अस्ति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ।।१२।।

अर्थः—जिन पुरुषोंका चित्त विषयोंसे विरक्त है, शीलकी रक्षा करते हैं, दर्शनसे शुद्ध हैं और जिनका चारित्र दृढ़ है ऐसे पुरुषोंको ध्रुव अर्थात् निश्चयसे—नियमसे निर्वाण होता है।

भावार्थः—विषयोंसे विरक्त होना ही शीलकी रक्षा है, इसप्रकारसे जो शीलकी रक्षा करते हैं उनहीके सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है और चारित्र अतिचाररहित शुद्ध–दृढ़ होता है ऐसे पुरुषोंको नियमसे निर्वाण होता है। जो विषयोंमें आसक्त हैं, उनके शील बिगड़ता है तब दर्शन शुद्ध न होकर चारित्र शिथिल हो जाता है, तब निर्वाण भी नहीं होता है, इसप्रकार निर्वाणमार्गमें शील ही प्रधान है ।।१२।।

आगे कहते हैं कि कदाचित् कोई विषयोंसे विरक्त न हुआ और 'मार्ग' विषयोंसे विरक्त होनेरूप ही कहता है उसको मार्गकी प्राप्ति होती भी है परन्तु जो विषय सेवनको ही 'मार्ग' कहता है तो उसका ज्ञान भी निरर्थक हैः—

विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं ।
उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं ।।१३।।

जे शीलने रक्षे, सुदर्शनशुद्ध, दृढचारित्र जे।
जे विषयमांही विरक्तमन, निश्चित लहे निर्वाणने ।।१२।।

छे इष्टदर्शी मार्गमां, हो विषयमां मोहित भले।
उन्मार्गदर्शी जीवनुं जे ज्ञान तेय निरर्थ छे ।।१३।।

विषयेषु मोहितानां कथितो मार्गोऽपि इष्टदर्शिनां ।
उन्मार्ग दर्शिनां ज्ञानमपि निरर्थकं तेषाम् ।।१३।।

अर्थः—जो पुरुष इष्ट मार्गको दिखानेवाले ज्ञानी हैं और विषयोंसे विमोहित हैं तो भी उनको मार्गकी प्राप्ति कही है परन्तु जो उन्मार्गको दिखानेवाले हैं उनको तो ज्ञानकी प्राप्ति भी निरर्थक है।

भावार्थः—पहिले कहा था कि ज्ञानके और शीलके विरोध नहीं है। और यह विशेष है कि ज्ञान हो और विषयासक्त होकर ज्ञान बिगड़े तब शील नहीं है। अब यहाँ इस प्रकार कहा है कि—ज्ञान प्राप्त करके कदाचित् चारित्रमोहके उदयसे (—उदयवश) विषय न छूटे वहाँ तक तो उनमें विमोहित रहे और मार्गकी प्ररूपणा विषयोंके त्यागरूप ही करे उसको तो मार्गकी प्राप्ति होती भी है परन्तु जो मार्गहीको कुमार्गरूप प्ररूपण करे विषय सेवनको सुमार्ग बतावे तो उसकी तो ज्ञान-प्राप्ति भी निरर्थक ही है, ज्ञान प्राप्त करके भी मिथ्यामार्ग प्ररूपे उसके ज्ञान कैसा? वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

यहाँ यह आशय सूचित होता है कि-सम्यक्त्वसहित अविरत सम्यग्दृष्टि तो अच्छा है क्योंकि सम्यग्दृष्टि कुमार्गकी प्ररूपणा नहीं करता है, अपनेको (चारित्रदोषसे) चारित्रमोहका उदय प्रबल हो तब तक विषय नहीं छूटते हैं इसलिये अविरत है परन्तु जो सम्यग्दृष्टि नहीं है और ज्ञान भी बड़ा हो, कुछ आचरण भी करे, विषय भी छोड़े और कुमार्गका प्ररूपण करे तो वह अच्छा नहीं है, उसका ज्ञान और विषय छोड़ना निरर्थक है, इस प्रकार जानना चाहिये ।।१३।।

आगे कहते हैं कि जो उन्मार्गके प्ररूपण करनेवाले कुमतकुशास्त्रकी प्रशंसा करते हैं, वे बहुत शास्त्र जानते हैं तो भी शीलव्रतज्ञानसे रहित हैं, उनके आराधना नहीं है:—

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
शीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ।।१४।।

कुमतकुश्रुतप्रशंसकाः जानंतो बहुविधानि शास्त्राणि ।
शीलव्रतज्ञानरहिता न स्फुटं ते आराधका भवंति ।।१४।।

दुर्मत–कुशास्त्रप्रशंसको जाणे विविध शास्त्रो भले ।
व्रत–शील–ज्ञानविहीन छे तेथी न आराधक खरे ।।१४।।

अर्थः—जो बहुत प्रकारके शास्त्रोंको जानते हैं और कुमत कुशास्त्रकी प्रशंसा करनेवाले हैं वे शीलव्रत और ज्ञान रहित हैं वे इनके आराधक नहीं हैं।

भावार्थः—जो बहुत शास्त्रोंको जानकर ज्ञान तो बहुत जानते हैं और कुमत कुशास्त्रोंकी प्रशंसा करते हैं तो जानो कि इनके कुमतसे और कुशास्त्रसे राग है प्रीति है तब उनकी प्रशंसा करते हैं—ये तो मिथ्यात्वके चिह्न हैं, जहाँ मिथ्यात्व हैं वहाँ ज्ञान भी मिथ्या है और विषय कषायोंसे रहित होनेको शील कहते हैं वह भी उसके नहीं है, व्रत भी उसके नहीं है, कदाचित् कोई व्रताचरण करता है तो भी मिथ्याचारित्ररूप है, इसलिये दर्शन ज्ञान चारित्रका आराधनेवाला नहीं है, मिथ्यादृष्टि है ।।१४।।

आगे कहते हैं कि यदि रूप सुन्दरादिक सामग्री प्राप्त करे और शील रहित हो तो उसका मनुष्य जन्म निरर्थक है:—

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं।
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म ।।१५।।

रूपश्रीगर्वितानां यौवनलावण्यकांतिकलितानाम् ।
शीलगुणवर्जितानां निरर्थकं मानुषं जन्म ।।१५।।

अर्थः—जो पुरुष यौवन अवस्था सहित हैं और बहुतोंको प्रिय लगते हैं ऐसे लावण्य सहित हैं, शरीरकी कांति-प्रभासे मंडित हैं और सुन्दर रूप लक्ष्मी संपदासे गर्वित हैं, मदोन्मत्त हैं परन्तु वे यदि शील और गुणोंसे रहित हैं तो उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है।

भावार्थः—मनुष्य जन्म प्राप्त करके शीलरहित हैं, विषयोंमें आसक्त रहते हैं, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र गुणोंसे रहित हैं और यौवन अवस्थामें शरीरकी लावण्यता कांतिरूप सुन्दर धन, संपदा प्राप्त करके इनके गर्वसे मदोन्मत्त रहते हैं तो उन्होंने मनुष्य जन्म निष्फल खोया, मनुष्यजन्ममें सम्यग्दर्शनादिकका अंगीकार करना और शील संयम पालना योग्य था वह तो अंगीकार किया नहीं तब निष्फल ही गया।

हो रूपश्रीगर्वित, भले लावण्ययौवनकान्ति हो ।
मानवजनम छे निष्प्रयोजन शीलगुणवर्जित तणो ।।१५।।

ऐसा भी बताया है कि पहिली गाथामें कुत्सित कुशास्त्रकी प्रशंसा करनेवालेका ज्ञान निरर्थक कहा था वैसेही यहां रूपादिकका मद करे तो यह भी मिथ्यात्वका चिह्न है. जो मद करे उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना तथा लक्ष्मी रूप यौवन कांतिसे मंडित हो और शीलरहित व्यभिचारी हो तो उसकी लोकमें निंदा ही होती है ।।१५।।

आगे कहते हैं कि बहुत शास्त्रोंका ज्ञान होते हुए भी शील ही उत्तम है:—

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु ।
वेदेऊण सुदेसु य तेसु [1]सुयं उत्तमं शीलं ।।१६।।

व्याकरणछन्दोवैशेषिकव्यवहारन्यायशास्त्रेषु ।
विदित्वा श्रुतेषु च तेषु श्रुतं उत्तमं शीलम् ।।१६।।

अर्थः—व्याकरण छंद वैशेषिक व्यवहार न्यायशास्त्र ये शास्त्र और श्रुत अर्थात् जिनागम इनमें उन व्याकरणादिकको और श्रुत अर्थात् जिनागमको जानकर भी, इनमें शील हो वही उत्तम है।

भावार्थः—व्याकरणादि शास्त्र जाने और जिनागमको भी जाने तो भी उनमें शील ही उत्तम है। शास्त्रोंको जानकर भी विषयोंमें ही आसक्त है तो उन शास्त्रोंका जानना वृथा है, उत्तम नहीं है ।।१६।।

आगे कहते हैं कि जो शील गुणसे मंडित हैं वे देवोंके भी वल्लभ हैं:—

सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति ।
सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए ।।१७।।

शीलगुणमंडितानां देवा भव्यानां वल्लभा भवंति ।
श्रुतपारगप्रचुराः णं दुःशीला अल्पकाः लोके ।।१७।।

अर्थः—जो भव्यप्राणी शील और सम्यग्दर्शनादि गुण अथवा शील वही गुण उससे मंडित हैं उनका देव भी वल्लभ होता है, उनकी सेवा करनेवाले सहायक होते हैं।

---

१ पाठान्तरः—मदं ।

व्याकरण, छंदो न्याय, वैशेषिक, व्यवहारादिनां।
शास्त्रो तणुं हो ज्ञान तोपण शील उत्तम सर्वमां ।।१६।।

रे! शीलगुण मण्डित भविकना देव वल्लभ होय छे।
लोके कुशील जनो, भले श्रुतपारगत हो, तुच्छ छे ।।१७।।

जो श्रुतपारग अर्थात् शास्त्रके पार पहुँचे हैं, ग्यारह अंग तक पढ़े हैं ऐसे बहुत हैं और उनमें कई शीलगुणसे रहित हैं, दु:शील हैं, विषय कषायोंमें आसक्त हैं तो वे लोकमें 'अल्पका' अर्थात् न्यून हैं, वे मनुष्योंके भी प्रिय नहीं होते हैं तब देव कहाँसे सहायक हो? ॥

भावार्थः—शास्त्र बहुत जाने और विषयासक्त हो तो उसका कोई सहायक न हो, चोर और अन्यायीकी लोकमें कोई सहायता नहीं करता है परन्तु शीलगुणसे मंडित हो और ज्ञान थोड़ा भी हो तो उसके उपकारी सहायक देव भी होते हैं तब मनुष्य तो सहायक होते ही हैं। शील गुणवाला सबका प्यारा होता है ॥१७॥

आगे कहते हैं कि जिनके शील है सुशील है उनका मनुष्यभवमें जीना सफल है अच्छा है:—

सव्वे वि य परिहीणा रूवविरूवा वि पडिदसुवया वि।
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं ॥१८॥

सर्वेऽपि च परिहीनाः रूपविरूपा अपि पतितसुवयसोऽपि।
शीलं येषु सुशीलं सुजीविदं मानुष्यं तेषाम् ॥ १८ ॥

अर्थः—जो सब प्राणियोंमें हीन हैं, कुलादिकसे न्यून हैं और रूपसे विरूप हैं सुन्दर नहीं हैं, 'पतितसुवयस:' अर्थात् अवस्थासे सुन्दर नहीं हैं, वृद्ध हो गये हैं परन्तु जिनमें शील सुशील है, स्वभाव उत्तम है, कषायादिककी तीव्र आसक्तता नहीं है उनका मनुष्यपना सुजीवित है, जीना अच्छा है।

भावार्थः—लोकमें सब सामग्रीसे जो न्यून हैं परन्तु स्वभाव उत्तम है, विषय-कषायोंमें आसक्त नहीं हैं तो वे उत्तम ही हैं, उनका मनुष्यभव सफल है, उनका जीवन प्रशंसाके योग्य है ॥१८॥

आगे कहते हैं कि जितने भी भले कार्य हैं वे सब शीलके परिवार हैं:—

सौथी भले हो हीन, रूपविरूप, यौवनभ्रष्ट हो।
मानुष्य तेनुं छे सुजीवित, शील जेनुं सुशील हो ॥१८॥

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे ।
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥१९॥

जीवदया दमः सत्यं अचौर्यं ब्रह्मचर्यसंतोषौ ।
सम्यग्दर्शनं ज्ञानं तपश्च शीलस्य परिवारः ॥१९॥

अर्थः—जीवदया इन्द्रियोंका दमन सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य संतोष सम्यग्दर्शन ज्ञान तप ये सब शीलके परिवार हैं ।

भावार्थः—शील स्वभावका तथा प्रकृतिका नाम प्रसिद्ध है । मिथ्यात्वसहित कषायरूप ज्ञानकी परिणति तो दुःशील है इसको संसारप्रकृति कहते हैं, यह प्रकृति पलटे और सम्यक् प्रकृति हो वह सुशील है इसको मोक्षसन्मुख प्रकृति कहते हैं । ऐसे सुशीलके 'जीवदयादिक' गाथामें कहे वे सबही परिवार हैं क्योंकि संसारप्रकृति पलटे तब संसारदेहसे वैराग्य हो और मोक्षसे अनुराग हो तब ही सम्यग्दर्शनादिक परिणाम हों, फिर जितनी प्रकृति हो वह सब मोक्षके सन्मुख हो, यही सुशील है । जिसके संसारका अंत आता है उसके यह प्रकृति होती है और यह प्रकृति न हो तब तक संसारभ्रमण ही है, ऐसे जानना ॥१९॥

आगे शील ही तप आदिक है ऐसे शीलकी महिमा कहते हैं:—

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं ॥२०॥

शीलं तपः विशुद्धं दर्शनशुद्धिश्च ज्ञानशुद्धिश्च ।
शीलं विषयाणामरिः शीलं मोक्षस्य सोपानम् ॥२०॥

अर्थः—शील ही विशुद्ध निर्मल तप है, शील ही दर्शनकी शुद्धता है, शील ही ज्ञानकी शुद्धता है, शील ही विषयोंका शत्रु है और शील ही मोक्षकी सीढ़ी है ।

प्राणीदया, दम, सत्य, ब्रह्म, अचौर्य ने संतुष्टता ।
सम्यक्त्व, ज्ञान, तपश्चरण छे शीलना परिवारमां ॥१९॥

छे शील ते तप शुद्ध, ते दृगशुद्धि ज्ञानविशुद्धि छे ।
छे शील अरि विषयो तणो ने शील शिवसोपान छे ॥२०॥

भावार्थः— जीव अजीव पदार्थोंका ज्ञान करके उसमेंसे मिथ्यात्व और कषायोंका अभाव करना वह सुशील है, यह आत्माका ज्ञानस्वभाव है वह संसारप्रकृति मिटकर मोक्षसन्मुख प्रकृति हो तब इस शीलहीके तप आदिक सब नाम हैं—निर्मल तप, शुद्ध दर्शन ज्ञान, विषय—कषायोंका मेटना, मोक्षकी सीढ़ी ये सब शीलके नामके अर्थ हैं, ऐसे शीलके माहात्म्यका वर्णन किया है और यह केवल महिमा ही नहीं है इन सब भावोंके अविनाभावीपना बताया है ॥२०॥

आगे कहते हैं कि विषयरूप विष महा प्रबल है:—

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं।
सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥२१॥

यथा विषयलुब्धः विषदः तथा स्थावरजंगमान् घोरान् ।
सर्वान् अपि विनाशयति विषयविषं दारुणं भवति ॥२१॥

अर्थः—जैसे विषय सेवनरूपी विष विषय लुब्ध जीवोंको विष देनेवाला है वैसे ही घोर तीव्र स्थावर जंगम सवही विष प्राणियोंका विनाश करते हैं तथापि इन सब विषोंमें विषयोंका विष उत्कृष्ट है तीव्र है ।

भावार्थः—जैसे हस्ती मीन भ्रमर पतंग आदि जीव विषयोंमें लुब्ध होकर विषयोंके वश हो नष्ट होते हैं वैसेही स्थावरका विष मोहरा सोमल आदिक और जंगमका विष सर्प घोहरा आदिकका विष इन विषोंसे भी प्राणी मारे जाते हैं परंतु सब विषोंमें विषयोंका विष अति ही तीव्र है ॥२१॥

आगे इसीका समर्थन करनेके लिए विषयोंके विषका तीव्रपना कहते हैं कि विषकी वेदनासे तो एकबार मरता है और विषयोंसे संसारमें भ्रमण करता है:—

वारि एक्कम्मि य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकंतारे ॥२२॥

विष घोर जंगम—स्थावरोनुं नष्ट करतुं सर्वने ।
पण विषयलुब्ध तणुं विघातक विषयविष अतिरौद्र छे ॥२१॥

विषवेदनाहत जीव एक ज वार पामे मरणने ।
पण विषयविषहत जीव तो संसारकांतारे भमे ॥२२॥

वारे एकस्मिन् च जन्मनि गच्छेत् विषवेदनाहतः जीवः ।
विषयविषपरिहता भ्रमंति संसारकांतारे ॥२२॥

अर्थः—विषकी वेदनासे नष्ट जीव तो एक जन्ममें ही मरता है परंतु विषयरूप विषसे नष्ट जीव अतिशयतया–बारबार संसाररूपी वनमें भ्रमण करते हैं। (पुण्यकी और रागकी रुचि वही विषय बुद्धि है।)

भावार्थः—अन्य सर्पादिकके विषसे विषयोंका विष प्रवल है, इनकी आसक्तिसे ऐसा कर्मबंध होता है कि उससे वहुत जन्म–मरण होते हैं ॥२२॥

आगे कहते हैं कि विषयोंकी आसक्तिसे चतुर्गतिमें दुःख ही पाते हैंः—

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणवेसु दुक्खाइं ।
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासिया जीवा ॥२३॥

नरकेषु वेदनाः तिर्यक्षु मानुषेषु दुःखानि ।
देवेषु अपि दौर्भाग्यं लभंते विषयासक्ता जीवः ॥२३॥

अर्थः—विषयोंमें आसक्त जीव नरकमें अत्यंत वेदना पाते हैं, तिर्यंचोंमें तथ मनुष्योंमें दुःखोंको पाते हैं और देवोंमें उत्पन्न हों तो वहाँ भी दुर्भाग्यपना पाते हैं, नीच देव होते हैं, इस प्रकार चारों गतियोंमें दुःख ही पाते हैं।

भावार्थः—विषयासक्त जीवोंको कहीं भी सुख नहीं है, परलोकमें तो नरक आदिके दुःख पाते ही हैं परन्तु इस लोकमें भी इनके सेवन करनेमें आपत्ति व कष्ट आते ही हैं तथा सेवनसे आकुलता दुःख ही है, यह जीव भ्रमसे सुख मानता है, सत्यार्थ ज्ञानी तो विरक्त ही होता है ॥२३॥

आगे कहते हैं कि विषयोंको छोड़नेसे कुछ भी हानि नहीं हैः—

तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि ।
तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विस व खलं ॥२४॥

वहु वेदना नरकों विषे, दुःखो मनुज–तिर्यंचमां ।
देवेय दुर्भगता लहे विषयावलम्बी आतमा ॥२३॥

तुप दूर करतां जे रीते कई द्रव्य नरनुं न जाय छे ।
तपशीलवंत सुकुशल, खल माफक, विषयविषने तजे ॥२४॥

तुषधमद्बलेन च यथा द्रव्यं न हि नराणां गच्छति ।
तपः शीलमंतः कुशलाः क्षिपंते विषयं विषमिव खलं ॥२४॥

अर्थः—जैसे तुषोंके चलानेसे, उड़ानेसे मनुष्यका कुछ द्रव्य नहीं जाता है वैसे ही तपस्वी और शीलवान् पुरुष विषयोंको खलकी तरह क्षेपते हैं, दूर फेंक देते हैं।

भावार्थः—जो ज्ञानी तप शील सहित हैं उनके इन्द्रियोंके विषय खलकी तरह हैं जैसे ईखका रस निकाल लेनेके बाद खल चूंसे नीरस हो जाते हैं तब वे फेंक देनेके योग्य ही हैं वैसे ही विषयोंको जानना, रस था वह तो ज्ञानियोंने जान लिया तब विषय तो खलके समान रहे उनके त्यागनेमें क्या हानि? अर्थात् कुछ भी नहीं है। उन ज्ञानियोंको धन्य है जो विषयोंको ज्ञेयमात्र जानकर आसक्त नहीं होते हैं।

जो आसक्त होते हैं वे तो अज्ञानी ही हैं क्योंकि विषय तो जड़ पदार्थ है सुख तो उनको जाननेसे ज्ञान में ही था, अज्ञानीने आसक्त होकर विषयोंमें सुख माना। जैसे श्वान सूखी हड्डी चबाता है तब हड्डीकी नोंक मुखके तालवेमें चुभती है, इससे तालवा फट जाता है और उसमेंसे खून बहने लगता है तब अज्ञानी श्वान जानता है कि यह रस हड्डीमेंसे निकला है और उस हड्डीको बारबार चबाकर सुख मानता है वैसेही अज्ञानी विषयोंमें सुख मानकर बारबार भोगता है परन्तु ज्ञानियोंने अपने ज्ञानहीमें सुख जाना है उनको विषयोंके त्यागमें दुःख नहीं है, ऐसे जानना ॥२४॥

आगे कहते हैं कि कोई प्राणी शरीरके सब अवयव सुन्दर प्राप्त करता है तो भी सब अंगोंमें शील ही उत्तम है:—

***वट्टेसु य खंडेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु ।**
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं ॥२५॥

वृत्तेषु च खंडेषु च भद्रेषु च विशालेषु अंगेषु ।
अंगेषु च प्राप्तेषु च सर्वेषु च उत्तमं शीलं ॥२५॥

अर्थः—प्राणीके देहमें कई अंग तो वृत्त अर्थात् गोल सुघट प्रशंसायोग्य होते हैं, कई अंग खंड अर्थात् अर्द्ध गोल सदृश प्रशंसा योग्य होते हैं, कई अंग भद्र अर्थात् सरल

---

* 'वट्टे' पाठान्तर ।

छे भद्र. गोळ, विशाल ने खंडात्म अंग शरीरमां ।
ते सर्व होय सुप्राप्त तोपण शील उत्तम सर्वमां ॥२५॥

सीधे प्रशंसा योग्य होते हैं और कई अंग विशाल अर्थात् विस्तीर्ण चौड़े प्रशंसा योग्य होते हैं, इसप्रकार सबही अंग यथास्थान सुन्दर पाते हुए भी अंगोंमें यह शील नामका अंग ही उत्तम है, यह न हो तो सबही अंग शोभा नहीं पाते हैं, यह प्रसिद्ध है।

भावार्थ:—लोकमें प्राणी सर्वांग सुन्दर हो परन्तु दुःशील हो तो सब लोक द्वारा निंदा करने योग्य होता है, इसप्रकार लोकमें भी शीलहीकी शोभा है तो मोक्षमें भी शीलहीको प्राधन कहा है, जितने सम्यग्दर्शनादिक मोक्षके अंग हैं वे शील ही के परिवार हैं ऐसा पहिले कह आये हैं ॥२५॥

आगे कहते हैं कि जो कुबुद्धि से मूढ़ हो गये हैं वे विषयों में आसक्त हैं कुशील हैं संसार में भ्रमण करते हैं :—

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलेहिं ।
संसारे भमिदव्वं अरयघरट्टं व भूदेहिं ॥२६॥

पुरिषेणापि सहितेन कुसमयमूढैः विषयलोलैः ।
संसारे भ्रमितव्यं अरहटघरट्टं इव भूतैः ॥२६॥

अर्थ:—जो कुसमय अर्थात् कुमतसे मूढ़ हैं वे ही अज्ञानी हैं और वे ही विषयोंमें लोलुपी हैं आसक्त हैं वे जैसे अरहटमें घड़ी भ्रमण करती है वैसेही संसारमें भ्रमण करते हैं, उनके साथ अन्य पुरुषोंके भी संसारमें दुःखसहित भ्रमण होता है।

भावार्थ:—कुमती विषयासक्त मिथ्यादृष्टि आप तो विषयोंको अच्छे मानकर सेवन करते हैं। कई कुमती ऐसे भी हैं जो इस प्रकार कहते हैं कि सुन्दर विषय सेवन करनेसे ब्रह्म प्रसन्न होता है, (—यह तो ब्रह्मानंद है) यह परमेश्वरकी बड़ी भक्ति है, ऐसा कहकर अत्यंत आसक्त होकर सेवन करते हैं। ऐसा ही उपदेश दूसरोंको देकर विषयोंमें लगाते हैं, वे आप तो अरहटकी घड़ीकी तरह संसारमें भ्रमण करते ही हैं, अनेक प्रकारके दुःख भोगते हैं परन्तु अन्य पुरुषोंको भी उनमें लगाकर भ्रमण कराते हैं इसलिये यह विषयसेवन दुःखहीके लिए है, दुःखहीका कारण है, ऐसा जानकर कुमतियोंका प्रसंग न करना, विषयासक्तपना छोड़ना, इससे सुशीलपना होता है ॥२६॥

आगे कहते हैं कि जो कर्मकी गांठ विषय सेवन करके आपही बांधी है उसको सत्पुरुष तपश्चरणादि करके आप ही काटते हैं:—

कुमतविमोहित विषयलुब्ध जनो इतरजन साथमां ।
अरघट्टिकाना चक्र जेम परिभ्रमे संसारमां ॥२६॥

आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा [1]विसयरागरंगेहिं।
तं छिन्दन्ति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥२७॥

आत्मनि कर्मग्रंथिः या बद्धा विषयरागरागैः।
तां छिन्दन्ति कृतार्थाः तपः संयमशीलगुणेन ॥२७॥

अर्थः—जो विषयोंके रागरंग करके आपही कर्मकी गाँठ बांधी है उसको कृतार्थ पुरुष (–उत्तम पुरुष) तप संयम शीलके द्वारा प्राप्त हुआ जो गुण उनके द्वारा छेदते हैं खोलते हैं।

भावार्थः—जो कोई आप गांठ घुलाकर बांधे उसको खोलनेका विधान भी आपही जाने, जैसे सुनार आदि कारीगर आभूषणादिककी संधिके टाँका ऐसा झाले कि वह संधि अदृष्ट हो जाय तब उस संधिको टाँकेका झालनेवाला ही पहिचानकर खोले वैसे ही आत्माने अपनेही रागादिक भावोंसे कर्मोंकी गांठ बांधी है उसको आपही भेद-विज्ञान करके रागादिकके और आपके जो भेद हैं उस संधिको पहिचानकर तप संयम शीलरूप भावरूप शस्त्रोंके द्वारा उस कर्मबंधको काटता है, ऐसा जानकर जो कृतार्थ पुरुष हैं वे अपने प्रयोजनके करनेवाले हैं, वे इस शीलगुणको अंगीकार करके आत्माको कर्मसे भिन्न करते हैं, यह पुरुषार्थ पुरुषोंका कार्य है ॥२७॥

आगे जो शीलके द्वारा आत्मा शोभा पाता है उसको दृष्टांत द्वारा दिखाते हैं:—

उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं।
सोहंतो य सपीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥२८॥

उदधिरिव रत्नभृतः तपोविनयशीलदानरत्नानाम्।
शोभते च सशीलः निर्वाणमनुत्तरं प्राप्तः ॥२८॥

अर्थः—जैसे समुद्र रत्नोंसे भरा है तो भी जलसहित शोभा पाता है वैसे ही यह आत्मा तप विनय शील दान इन रत्नोंमें शीलसहित शोभा पाता है क्योंकि जो

[1] संस्कृत प्रतिमें—'विषयरायमोहेहिं' ऐसा पाठ है छायामें 'विषय राग मोहैः' है।

जे कर्मग्रन्थि विषयरागे बद्ध छे आत्मा विषे।
तपचरण-संयम-शीलथी सुकृतार्थ छेदे तेहने ॥२७॥
तप-दान-शील-सुविनय-रत्नसमूह सह, जलधि समो।
सोहंत जीव सशील पामे श्रेष्ठ शिवपदने अहो ॥२८॥

शीलसहित हुआ उसने अनुत्तर अर्थात् जिससे आगे और नहीं है ऐसे निर्वाणपदको प्राप्त किया।

भावार्थः—जैसे समुद्रमें रत्न बहुत हैं तो भी जलहीसे 'समुद्र' नामको प्राप्त करता है वैसे ही आत्मा अन्य गुणसहित हो तो भी शीलसे ही निर्वाणपदको प्राप्त करता है, ऐसे जानना ।।२८।।

आगे जो शीलवान पुरुष हैं वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं यह प्रसिद्ध करके दिखाते हैं:—

सुणहाण गद्दहाण य गोवसुमहिलाण दीसदे मोक्खो।
जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं ।।२९।।

शुनां गर्दभानां च गोपशुमहिलानां दृश्यते मोक्षः।
ये शोधयंति चतुर्थं दृश्यतां जनैः सर्वैः ।।२९।।

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि—यह सब लोग देखो—श्वान गर्दभ इनमें और गौ आदि पशु तथा स्त्री इनमें किसीको मोक्ष होना दिखता है क्या? वह तो दिखता नहीं है। मोक्ष तो चौथा पुरुषार्थ है इसलिये जो चतुर्थ पुरुषार्थको सोधते हैं उन्हींके मोक्षका होना देखा जाता है।

भावार्थः—धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चार पुरुषके ही प्रयोजन कहे हैं यह प्रसिद्ध है, इसीसे इनका नाम पुरुषार्थ है ऐसा प्रसिद्ध है। इनमें चौथा पुरुषार्थ मोक्ष है उसको पुरुष ही सोधते हैं और पुरुष ही उसको हेरते हैं उसकी सिद्धि करते हैं, अन्य श्वान गर्दभ बैल पशु स्त्री इनके मोक्षका सोधना प्रसिद्ध नहीं है जो हो तो मोक्षका पुरुषार्थ ऐसा नाम क्यों हो। यहाँ आशय ऐसा है कि मोक्ष शीलसे होता है, जो श्वान गर्दभ आदिक हैं वे तो अज्ञानी हैं कुशीली हैं, उनका स्वभाव प्रकृति ही ऐसी है कि पलटकर मोक्ष होने योग्य तथा उसके सोधने योग्य नहीं है, इसलिये पुरुषको मोक्षका साधन शीलको जानकर अंगीकार करना, सम्यग्दर्शनादिक है वह तो शीलहीके परिवार पहिले कहे ही हैं इस प्रकार जानना चाहिये ।।२९।

देखाय छे शुं मोक्ष स्त्री पशु–गाय गर्दभ–श्वाननो।
जे तुर्यने साधे, लहे छे मोक्ष;–देखो सौ जानो ।।२९।।

आगे कहते हैं कि शीलके बिना ज्ञानहीसे मोक्ष नहीं है, इसका उदाहरण कहते हैं:—

जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो।
तो सो सच्चइपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥३०॥

यदि विषयलोलैः ज्ञानिभिः भवेत् साधितः मोक्षः।
तर्हि सः सात्यकिपुत्रः दशपूर्विकः किं गतः नरकं ॥३०॥

अर्थः—जो विषयोंमें लोल अर्थात् लोलुप आसक्त और ज्ञानसहित ऐसा ज्ञानियोंने मोक्ष साधा हो तो दशपूर्वको जाननेवाला रुद्र नरकको क्यों गया?

भावार्थः—शुष्क कोरे ज्ञानहीसे मोक्ष किसीने साधा कहें तो दश पूर्वका पाठी रुद्र नरक क्यों गया? इसलिये शीलके बिना केवल ज्ञानहीसे मोक्ष नहीं है, रुद्र कुशील सेवन करनेवाला हुआ, मुनिपदसे भ्रष्ट होकर कुशील सेवन किया इसलिये नरकमें गया, यह कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है ॥३०॥

आगे कहते हैं कि शीलके बिना ज्ञानहीसे भावकी शुद्धता नहीं होती है:—

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहिं णिद्दिट्ठो।
दसपुव्वियस्स भावो य ण किं पुणु णिम्मलो जादो ॥३१॥

यदि ज्ञानेन विशुद्धः शीलेन विना बुधैर्निर्दिष्टः।
दशपूर्विकस्य भावः च न किं पुनः निर्मलः जातः ॥३१॥

अर्थः—जो शीलके बिना ज्ञानहीसे विसोह अर्थात् विशुद्ध भाव पंडितोंने कहा हो तो दश पूर्वको जाननेवाला जो रुद्र उसका भाव निर्मल क्यों नहीं हुआ, इसलिये ज्ञात होता है कि भाव निर्मल शीलहीसे होते हैं।

भावार्थः—कोरा ज्ञान तो ज्ञेयको ही बताता है इसलिये वह मिथ्यात्व कषाय होने पर विपर्यय हो जाता है अतः मिथ्यात्व कषायका मिटना ही शील है इस प्रकार

जो मोक्ष साधित होत विषयविलुब्ध ज्ञानधरो वडे।
दशपूर्वधर पण सात्यकिसुत केम पामत नरकने? ॥३०॥

जो शील विण बस ज्ञानथी कही होय शुद्धि ज्ञानीए।
दशपूर्वधरनो भाव केम थयो नहीं निर्मल अरे? ॥३१॥

शीलके बिना ज्ञानहीसे मोक्षकी सिद्धि होती नहीं, शीलके बिना मुनि भी हो जाय तो भ्रष्ट हो जाता है। इसलिये शीलको प्रधान जानना ॥३१॥

आगे कहते हैं कि यदि नरकमें भी शील हो जाय और विषयोंसे विरक्त हो जाय तो वहाँसे निकलकर तीर्थंकर पदको प्राप्त होता है:—

जाए विसयविरत्तो सो गमयदि णरयवेयणा पउरा।
ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण ॥३२॥

यः विषयविरक्तः सः गमयति नरकवेदनाः प्रचुराः।
तत् लभते अर्हत्पदं भणितं जिनवर्द्धमानेन ॥३२॥

अर्थः—विषयोंसे विरक्त है सो जीव नरककी बहुत वेदनाको भी गँवाता है वहाँ भी अति दुःखी नहीं होता है और वहाँसे निकलकर तीर्थंकर होता है ऐसा जिन वर्द्धमान भगवान्‌ने कहा है।

भावार्थः—जिनसिद्धांतमें ऐसे कहा है कि-तीसरी पृथ्वीसे निकलकर तीर्थंकर होता है वह यह भी शीलहीका माहात्म्य है। वहाँ सम्यक्त्व सहित होकर विषयोंसे विरक्त हुआ भली भावना भावे तब नरक वेदना भी अल्प हो जाती है और वहाँसे निकलकर अरहंतपद प्राप्त करके मोक्ष पाता है, ऐसा विषयोंसे विरक्तभाव वह शीलका ही माहात्म्य जानो। सिद्धांतमें इस प्रकारका कहा है कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति नियमसे होती है वह वैराग्यशक्ति है वही शीलका एकदेश है इसप्रकार जानना ॥३२॥

आगे इस कथनका संकोच करते हैं:—

एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरसीहिं।
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं य लोयणाणेहिं ॥३३॥

एवं बहुप्रकारं जिनैः प्रत्यक्षज्ञानदर्शिभिः।
शीलेन च मोक्षपदं अक्षातीतं च लोकज्ञानैः ॥३३॥

विषये विरक्त करे सुसह अति-उग्र नारकवेदना।
ने पामता अर्हंतपद,-वीरे कह्युं जिनमार्गमां ॥३२॥
अत्यक्ष-शिवपदप्राप्ति आम घणा प्रकारे शीलथी।
प्रत्यक्षदर्शनज्ञानधर लोकज्ञ जिनदेवे कही ॥३३॥

अर्थः—एवं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार तथा अन्य प्रकार (-बहुत प्रकार) जिनके प्रत्यक्ष ज्ञान दर्शन पाये जाते हैं और जिनके लोक–अलोकका ज्ञान है ऐसे जिनदेवने कहा है कि शीलसे–अक्षातीत जिसमें इन्द्रियरहित अतीन्द्रिय ज्ञान सुख है ऐसा मोक्षपद होता है।

भावार्थः—सर्वज्ञदेवने इस प्रकार कहा है कि शीलसे अतीन्द्रिय ज्ञान सुखरूप मोक्षपद प्राप्त होता है वह भव्यजीव इस शीलको अंगीकार करो, ऐसा उपदेशका आशय सूचित होता है, बहुत कहाँ तक कहें इतना ही बहुत प्रकारसे कहा जानो ॥३३॥

आगे कहते हैं कि इस शीलसे निर्वाण होता है उसका बहुत प्रकारसे वर्णन है वह कैसे ?

सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयारमप्पाणं।
जलणो वि पवणसहिदो डहंति पोरायणं कम्मं ॥३४॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनतपोवीर्यपंचाचाराः आत्मनाम्।
ज्वलनोऽपि पवनसहितः दहंति पुरातनं कर्म ॥३४॥

अर्थः—सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन तप वीर्य ये पंच आचार हैं वे आत्माका आश्रय पाकर पुरातन कर्मोंको वैसे ही दग्ध करते हैं जैसे कि पवन सहित अग्नि पुराने सूखे ईंधनको दग्ध कर देती है।

भावार्थः—यहाँ सम्यक्त्व आदि पंच आचार तो अग्निस्थानीय हैं और आत्माके त्रैकालिक शुद्ध स्वभावको शील कहते है, यह आत्माका स्वभाव पवनस्थानीय है वह पंच आचाररूप अग्नि और शीलरूपी पवनकी सहायता पाकर पुरातन कर्मबंधको दग्ध करके आत्माको शुद्ध करता है, इस प्रकार शील ही प्रधान है। पाँच आचारोंमें चारित्र कहा है और यहाँ सम्यक्त्व कहनेमें चारित्र ही जानना, विरोध न जानना ॥३४॥

आगे कहते हैं कि ऐसे अष्टकर्मोंको जिनने दग्ध किये वे सिद्ध हुए हैंः—

सम्यक्त्व–दर्शन–ज्ञान–तप–वीर्याचरण आत्मा विषे।
पवने सहित पावक समान, दहे पुरातन कर्मने ॥३४॥

णिद्दड्ढअट्ठकम्मा विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा ।
तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्ता ॥३५॥

निर्दग्धाष्टकर्माणः विषयविरक्ता जितेंद्रिया धीराः ।
तपोविनयशीलसहिताः सिद्धाः सिद्धिं गतिं प्राप्ताः ॥३५॥

अर्थः—जिन पुरुषोंने इन्द्रियोंको जीत लिया है इसीसे विषयोंसे विरक्त हो गये हैं, और धीर हैं परिषहादि उपसर्ग आने पर चलायमान नहीं होते हैं, तप विनय शील सहित हैं वे अष्ट कर्मोंको दूर करके सिद्धगति जो मोक्ष उसको प्राप्त हो गये हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

भावार्थः—यहाँ भी जितेन्द्रिय और विषयविरक्तता ये विशेषण शीलहीकी प्रधानता दिखाते हैं ॥३५॥

आगे कहते हैं कि जो लावण्य और शील युक्त हैं वे मुनि प्रशंसाके योग्य होते हैं:—

लावण्णसीलकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स ।
सो सीलो स महप्पा भमिज्ज गुणवित्थरं भविए ॥३६॥

लावण्यशीलकुशलः जन्ममहीरुहः यस्य श्रमणस्य ।
सः शीलः स महात्मा भ्रमेत् गुणविस्तारः भव्ये ॥३६॥

अर्थः—जिस मुनिका जन्मरूप वृक्ष लावण्य अर्थात् अन्यको प्रिय लगता है ऐसा सर्व अंग सुन्दर तथा मन वचन कायकी चेष्टा सुन्दर और शील अर्थात् अंतरंग, मिथ्यात्व विषय रहित परोपकारी स्वभाव इन दोनोंमें प्रवीण निपुण हो वह मुनि शीलवान् है महात्मा है उसके गुणोंका विस्तार लोकमें भ्रमता है, फैलता है ।

भावार्थः—ऐसे मुनिके गुण लोकमें विस्तारको प्राप्त होते हैं, सर्वलोकके प्रशंसा योग्य होते हैं, यहाँ भी शीलहीकी महिमा जानना और वृक्षका स्वरूप कहा, जैसे वृक्षके

विजितेन्द्रि विषयविरक्त थई, धरीने विनय-तप-शीलने ।
धीरा दही वसु कर्म, शिवगतिप्राप्त सिद्धप्रभु बने ॥३५॥

जे श्रमण केरुं जन्मतरु लावण्य-शीलसमृद्ध छे ।
ते शीलधर छे छे महात्मा, लोकमां गुण विस्तरे ॥३६॥

शाखा, पत्र, पुष्प, फल सुन्दर हो और छायादि करके राग द्वेष रहित सब लोकका समान उपकार करे उस वृक्षकी महिमा सब लोग करते हैं ऐसे ही मुनि भी ऐसा हो तो सबके द्वारा महिमा करने योग्य होता है ।।३६।।

आगे कहते हैं कि जो ऐसा हो वह जिनमार्गमें रत्नत्रयकी प्राप्तिरूप बोधिको प्राप्त होता है:—

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धीय [1]वीरियायत्तं ।
सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं ।।३७।।

ज्ञानं ध्यानं योगः दर्शनशुद्धिश्च वीर्यायत्ताः ।
सम्यक्त्वदर्शनेन च लभन्ते जिनशासने बोधिं ।।३७।।

अर्थ:—ज्ञान, ध्यान, योग दर्शनकी शुद्धता ये तो वीर्यके आधीन हैं और सम्यग्दर्शनसे जिनशासनमें बोधिको प्राप्त करते हैं, रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थ:—ज्ञान अर्थात् पदार्थोंको विशेषरूपसे जानना, ध्यान अर्थात् स्वरूपमें एकाग्रचित्त होना, योग अर्थात् समाधि लगाना, सम्यग्दर्शनको निरतिचार शुद्ध करना ये तो अपने वीर्य (शक्ति) के आधीन है, जितना बने उतना हो परन्तु सम्यग्दर्शनसे बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है, इसके होने पर विशेष ध्यानादिक भी यथाशक्ति होते ही हैं और इससे शक्ति भी बढ़ती है । ऐसे कहनेमें भी शीलहीका माहात्म्य जानना, रत्नत्रय है वही आत्माका स्वभाव है, उसको शील भी कहते हैं ।।३७।।

आगे कहते हैं कि यह प्राप्ति जिनवचनसे होती है:—

जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्ता तवोधणा धीरा ।
सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति ।।३८।।

१—मुद्रित सं० प्रतिमें 'वीरियावत्तं' ऐसा पाठ है जिसकी छाया 'वीर्यत्व' है ।

दृगशुद्धि, ज्ञान, समाधि, ध्यान स्वशक्ति-आश्रित होय छे ।
सम्यक्त्वथी जीवो लहे छे बोधिने जिनशासने ।।३७।।

जिनवचननो ग्रही सार, विषयविरक्त धीर तपोधनो ।
करी स्नान शीलसलिलथी, सुख सिद्धिनुं पामे अहो ।।३८।।

जिनवचनगृहीतसारा विषयविरक्ताः तपोधना धीराः ।
शीलसलिलेन स्नाताः ते सिद्धालयसुखं यांति ॥३८॥

अर्थः—जिनने जिनवचनोंसे सारको ग्रहण कर लिया है और विषयोंसे विरक्त हो गये हैं, जिनके तप ही धन है तथा धीर हैं ऐसे होकर मुनि शीलरूप जलसे स्नानकर शुद्ध हुए वे सिद्धालय जो सिद्धोंके रहनेका स्थान उसके सुखोंको प्राप्त होते हैं ।

भावार्थः—जो जिनवचनके द्वारा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानकर उसका सार जो अपने शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति उसका ग्रहण करते हैं वे इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर तप अंगीकार करते हैं–मुनि होते हैं धीर वीर वनकर परिषह उपसर्ग आने पर भी चलायमान नहीं होते हैं तब शील जो स्वरूपकी प्राप्तिकी पूर्णतारूप चौरासी लाख उत्तरगुणकी पूर्णता वही हुआ निर्मल जल उससे स्नान करके सब कर्ममलको धोकर सिद्ध हुए, वह मोक्षमंदिरमें रहकर वहाँ परमानन्द अविनाशी अतीन्द्रिय अव्यावाध सुखको भोगते हैं, यह शीलका माहात्म्य है । ऐसा शील जिनवचनसे प्राप्त होता है, जिनागमका निरन्तर अभ्यास करना उत्तम है ॥ ३८ ॥

आगे अंतसमयमें सल्लेखना कही है, उसमें दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चार आराधनाका उपदेश है ये भी शीलहीसे प्रगट होते हैं, उसको प्रगट करके कहते हैं:—

सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा ।
पप्फोडियकम्मरया हवंति आराहणापयडा ॥३९॥

सर्वगुणक्षीणकर्माणः सुखदुःखविवर्जिताः मनोविशुद्धाः ।
प्रस्फोटितकर्मरजसः भवंति आराधनाप्रकटाः ॥३९॥

अर्थः—सर्वगुण जो मूलगुण उत्तरगुणोंसे जिसमें कर्म क्षीण हो गये हैं, सुख दुःखसे रहित हैं, जिसमें मन विशुद्ध है और जिसमें कर्मरूप रजको उड़ा दी है ऐसी आराधना प्रगट होती है ।

भावार्थः—पहिले तो सम्यग्दर्शन सहित मूलगुण उत्तरगुणोंके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा होने से कर्मकी स्थिति अनुभाग क्षीण होता है, पीछे विषयोंके द्वारा कुछ सुख-दुःख होता

आराधनापरिणत सर्व गुणथी करे कृश कर्मने ।
सुखदुखरहित मनशुद्ध ते क्षेपे करमरूप धूलने ॥३९॥

था उससे रहित होता है, पीछे ध्यानमें स्थित होकर श्रेणी चढ़े तब उपयोग विशुद्ध हो, कषायोंका उदय अव्यक्त हो तब दुःख सुखकी वेदना मिटे, पीछे मन विशुद्ध होकर क्षयोपशम ज्ञानके द्वारा कुछ ज्ञेयसे ज्ञेयान्तर होनेका विकल्प होता है वह मिटकर एकत्ववितर्क अविचार नामका शुक्लध्यान बारहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है यह मनका विकल्प मिटकर विशुद्ध होना है।

पीछे घातिकर्मका नाश होकर अनन्त चतुष्टय प्रकट होते हैं यह कर्मरजका उड़ना है, इस प्रकार आराधना की संपूर्णता प्रकट होना है। जो चरमशरीरी हैं उनके तो इस प्रकार आराधना प्रगट होकर मुक्तिको प्राप्ति होती है। अन्यके आराधनाका एकदेश होता है अंतमें उसका आराधन करके स्वर्ग प्राप्त होता है, वहाँ सागरों पर्यन्त सुख भोग वहांसे चयकर मनुष्य हो आराधनाको संपूर्ण करके मोक्ष प्राप्त होता है, इस प्रकार जानना, यह जिनवचनका और शीलका माहात्म्य है ॥३९॥

आगे ग्रंथको पूर्ण करते हैं वहाँ ऐसे कहते हैं कि ज्ञानसे सर्व सिद्धि है यह सर्वजन प्रसिद्ध है वह ज्ञान तो ऐसा हो उसको कहते हैं:-

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥४०॥

अर्हति शुभभक्तिः सम्यक्त्वं दर्शनेन सुविशुद्धं।
शीलं विषयविरागः ज्ञानं पुनः कीदृशं भणितं ॥४०॥

अर्थः—अरहंतमें शुभ भक्तिका होना सम्यक्त्व है वह कैसा है? सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध है तत्त्वार्थोंका निश्चय व्यवहारस्वरूप श्रद्धान और बाह्य जिनमुद्रा नग्न दिगम्बर-रूपका धारण तथा उसका श्रद्धान ऐसा दर्शनसे विशुद्ध अतीचार रहित निर्मल है ऐसा तो अरहंत भक्तिरूप सम्यक्त्व है, विषयोंसे विरक्त होना शील है और ज्ञान भी यही है तथा इससे भिन्न ज्ञान कैसा कहा है? सम्यक्त्व शील बिना तो ज्ञान मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान है।

भावार्थः—यह सब मतोंमें प्रसिद्ध है कि ज्ञानसे सर्वसिद्धि है और ज्ञान शास्त्रोंसे होता है। आचार्य कहते हैं कि—हम तो ज्ञान उसको कहते हैं जो सम्यक्त्व और शील

अर्हंतमां शुभ भक्ति श्रद्धाशुद्धियुत सम्यक्त्व छे।
ने शील विषयविरागता छेः ज्ञान बीजुं कयुं हवे? ॥४०॥

सहित हो, ऐसा जिनागममें कहा है, इससे भिन्न ज्ञान कैसा है? इससे भिन्न ज्ञानको तो हम ज्ञान नहीं करते हैं, इनके विना तो वह अज्ञान ही है और सम्यक्त्व व शील हो वह जिनागमसे होते हैं। वहाँ जिसके द्वारा सम्यक्त्व शील हुए और उसकी भक्ति न हो तो सम्यक्त्व कैसे कहा जावे, जिसके वचन द्वारा यह प्राप्त किया जाता है उसकी भक्ति हो तब जानें कि इसके श्रद्धा हुई और जब सम्यक्त्व हो तब विषयोंसे विरक्त होय ही हो, यदि विरक्त न हो तो संसार और मोक्षका स्वरूप क्या जाना? इस प्रकार सम्यक्त्व शील होने पर ज्ञान सम्यक्ज्ञान नाम पाता है। इसप्रकार इस सम्यक्त्व शीलके संबंधमें ज्ञानकी तथा शास्त्रकी महिमा है। ऐसे यह जिनागम है सो संसारसे निवृत्ति करके मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, वह जयवंत हो। यह सम्यक्त्व सहित ज्ञानको महिमा है वही अंतमंगल जानना ॥४०॥

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत शीलपाहुड ग्रंथ समाप्त हुआ।

इसका संक्षेप तो कहते आये कि—शील नाम स्वभावका है। आत्माका स्वभाव शुद्ध ज्ञान दर्शनमयी चेतना स्वरूप है वह अनादि कर्मके संयोगमें विभावरूप परिणमता है। इसके विशेष मिथ्यात्व कषाय आदि अनेक हैं इनको राग द्वेष मोह भी कहते हैं, इनके भेद संक्षेपसे चौरासी लाख किये हैं, विस्तारसे असंख्यात अनन्त होते हैं इनको कुशील कहते हैं। इनके अभावरूप संक्षेपसे चौरासी लाख उत्तरगुण हैं, इन्हें शील कहते हैं, यह तो सामान्य परद्रव्यके संबंधकी अपेक्षा शील कुशीलका अर्थ है और प्रसिद्ध व्यवहारकी अपेक्षा स्त्रीके संगकी अपेक्षा कुशीलके अठारह हजार भेद कहे हैं, इनका अभाव शीलके अठारह हजार भेद हैं, इनको जिनागमसे जानकर पालना। लोकमें भी शीलकी महिमा प्रसिद्ध है जो पालते हैं स्वर्ग मोक्षके सुख पाते हैं उनको हमारा नमस्कार है वे हमारे भी शीलकी प्राप्ति करो, यह प्रार्थना है।

* छप्पय *

आन वस्तुके संग राचि जिनभाव भंग करि;
वरतै ताहि कुशीलभाव भाखे कुरंग धरि।
ताहि तजैं मुनिराय पाय निज शुद्धरूप जल;
धोय कर्मरज होय सिद्धि पावै सुख अविचल॥
यह निश्चय शील सुब्रह्ममय व्यवहारै तियतज नमैं।
जो पालै सबविधि तिनि नमूं पाऊं जिन भव न जनम मैं॥

* दोहा *

नमूं पंचपद ब्रह्ममय मंगलरूप अनूप।
उत्तम शरण सदा लहूं फिरि न परूं भवकूप ।।२।।

इति श्री कुन्दकुन्दाचार्यस्वामि प्रणीत शीलप्राभृतकी जयपुर निवासी
पं० जयचन्द्रजी छावड़ाकृत देशभाषामय वचनिकाका
हिन्दी भाषानुवाद समाप्त ।।८।।

— ※ —

वचनिकाकारकी प्रशस्ति ।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्यकृत गाथाबंध पाहुडग्रन्थ है इनमें ये पाहुड हैं इनकी यह देशभाषामय वचनिका लिखी है। छह पाहुडकी तो टीका टिप्पण है। इनमें टीका तो श्रुतसागर कृत है और टिप्पण पहिले किसी और ने किया है। इनमें कई गाथा तथा अर्थ अन्य प्रकार है, मेरे विचारमें आया उनका आश्रय भी लिया है और जैसा अर्थ मुझे प्रतिभासित हुआ वैसा लिखा है। लिंगपाहुड और शीलपाहुड इन दोनों पाहुडकी टीका टिप्पण मिला नहीं इसलिये गाथाका अर्थ जैसा प्रतिभासमें आया वैसा लिखा है।

श्री श्रुतसागरकृत टीका षट्पाहुडकी है, उसमें ग्रन्थान्तरकी साक्षी आदि कथन बहुत है वह उस टीकाकी यह वचनिका नहीं है, गाथाका अर्थमात्र वचनिका कर भावार्थमें मेरी प्रतिभासमें आया उसके अनुसार अर्थ लिखा है। प्राकृत व्याकरण आदिका ज्ञान मेरे में विशेष नहीं है इसलिये कहीं व्याकरणसे तथा आगमसे शब्द और अर्थ अपभ्रंश हुआ हो तो बुद्धिमान् पंडित मूलग्रन्थ विचार कर शुद्ध करके पढ़ना, मुझे अल्पबुद्धि जानकर हँसी मत करना, क्षमा करना, सत्पुरुषोंका स्वभाव उत्तम होता है, दोष देखकर क्षमा ही करते हैं।

यहाँ कोई कहे—तुम्हारी बुद्धि अल्प है तो ऐसे महान ग्रन्थकी वचनिका क्यों की? उसको ऐसे कहना कि इस कालमें मेरेसे भी मंदबुद्धि बहुत हैं, उनके समझनेके लिये की है। इसमें सम्यग्दर्शनको दृढ़ करनेका प्रधानरूपसे वर्णन है इसलिये अल्पबुद्धि भी बाँचें पढ़ें अर्थका धारण करें तो उनके जिनमतका श्रद्धान दृढ़ हो। यह प्रयोजन जानकर जैसा अर्थ प्रतिभासमें आया वैसा लिखा है और जो बड़े बुद्धिमान हैं वे मूल-ग्रन्थको पढ़कर ही श्रद्धान दृढ़ करेंगे, मेरे कोई ख्याति लाभ पूजाका तो प्रयोजन है नहीं, धर्मानुरागसे यह वचनिका लिखी है, इसलिये बुद्धिमानोंके क्षमा ही करने योग्य है।

इस ग्रन्थके गाथाकी संख्या ऐसे है—प्रथम दर्शनपाहुडकी गाथा ३६। सूत्र-पाहुडकी गाथा २७। चारित्रपाहुडकी गाथा ४५। बोधपाहुडकी गाथा ६१। भावपाहुडकी गाथा १६५। मोक्षपाहुडकी गाथा १०६। लिंगपाहुडकी गाथा २२। शीलपाहुडकी गाथा ४०। ऐसे पाहुड आठोंकी गाथाकी संख्या ५०२ है।

❀ छप्पय ❀

जिनदर्शन निर्ग्रंथरूप तत्त्वारथ धारन,
सूनर जिनके वचन सार चारित व्रत पारन ।
बोध जैनका जांनि आनका सरन निवारन,
भाव आतमा बुद्ध मांनि भावन शिव कारन ।
फुनि मोक्ष कर्मका नाश है लिंग सुधारन तजि कुनय ।
धरि शील स्वभाव संवारनां आठ पाहुडका फल सुजय ।।

❀ दोहा ❀

भई वचनिका यह जहाँ सुनो तास संक्षेप ।
भव्यजीव संगति भली मेटै कुकरमलेप ।।२।।

जयपुर पुर सूवस वसै तहाँ राज जगतेश ।
ताके न्याय प्रतापतैं सुखी ढुढ़ाहर देश ।।३।।

जैनधर्म जयवंत जग किछु जयपुरमैं लेश ।
तामधि जिनमंदिर घणे तिनको भलो निवेश ।।४।।

तिनिमैं तेरापंथको मंदिर सुन्दर एव ।
धर्मध्यान तामैं सदा जैनी करै सुसेव ।।५।।

पंडित तिनिमैं बहुत हैं मैं भी इक जयचंद ।
प्रेरचा सबकै मन कियो करन वचनिका मंद ।।६।।

कुन्दकुन्द मुनिराजकृत प्राकृत गाथा सार ।
पाहुड अष्ट उदार लखि करी वचनिका तार ।।७।।

इहाँ जिते पंडित हुते तिनिनैं सोधी येह ।
अक्षर अर्थ सु वांचि पढ़ि नहिं राख्यो संदेह ।।८।।

तौऊ कछू प्रमादतैं बुद्धि मंद परभाव ।
हीनाधिक कछु अर्थ ह्वै सोधो बुध सतभाव ।।९।।

मंगलरूप जिनेन्द्रकूं नमस्कार मम होहु ।
विघ्न टलै शुभबंध ह्वै यह कारन है मोहु ।।१०।।

संवत्सर दस आठ सत सतसठि विक्रमराय ।
मास भाद्रपद शुक्ल तिथि तेरसि पूरन थाय ।।११।।

इति वचनिकाकार प्रशस्ति ।
जयतु जिनशासनम् ।
शुभमिति ।

अकारादि-अनुक्रम से गाथा सूची

*